यत् किञ्चित्

—••●••—

पूज्यश्री की वाणी का परिचय क्या कह कर दिया जाय? उनकी वाणी एक संसार-विरक्त संत की वाणी है या एक समर्थ आचार्य के स्वानुभव के स्रोत से वह निकलने वाले प्रशान्त उद्‌गार हैं? यह एक महान् सुधारक की भावमयी भाषा है अथवा एक महापुरुष की लोकोत्तर तेजस्विता के प्रकाशपूर्ण स्फुलिंग हैं? सभी कुछ उनकी वाणी में है। इस में अथाह गम्भीरता है, निर्मलता है, जीवन है, प्रेरणा है, स्फूर्ति है, सरसता है और जीवन की सर्वांगीण प्रगति का पथप्रदर्शन है।

इस विश्व में एक मात्र जो परम और चरम सत्य है, जो क्षेत्र और काल की मर्यादाओं से पर तत्त्व है, जो अखंड और अविभाज्य है, जो शाश्वत और सदा काल अमृत है, वही पूज्यश्री की वाणी का केन्द्रबिन्दु है। उनकी वाणी उसी तत्त्व के विभिन्न कोणों को उद्भासित करती है।

पूज्यश्री का भौतिक देह हमारे सामने नहीं है, लेकिन उन की वाणी आज भी मानो बोल रही है। वह नित्य नूतन है। सूर्य और चन्द्र जब तक पुराने नहीं पड़ते तब तक यह वाणी भी पुरानी नहीं पड़ने की। उसकी गोद में छिपा अमर सन्देश उसे अमर रक्खेगा।

इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण को प्रकाशित कराने के कार्य में श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम के संचालकों ने जो उत्तम सहयोग दिया है उसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

मि फाल्गुण पूर्णिमा
सं २००७ वि
वीर स. २४७७

नानालाल जरक — मंत्री
सज्जनलाल मेहता — अध्यक्ष
श्री साधुमार्गी जैन जवाहिर मित्र मंडल
मन्दसौर (मध्य-भारत)

व्याख्यान सूची

१

श्री जिन मोहनगारो छे !

समुद्रविजय सुत श्रीनेमीश्वर०।

यह भगवान् अरिष्टनेमि की प्रार्थना की गई है। सारा संसार एक मन होकर परमात्मा की जो प्रार्थना करता है, वही प्रार्थना मैंने अपने शब्दों में की है। प्रार्थना का विषय इतना व्यापक और सार्वजनिक है कि प्राथ्य महापुरुष का नाम चाहे कुछ भी हो और प्रार्थना के शब्द भी कुछ भी हों, उसकी मूल वस्तु समान रूप से सभी की होती है। इस प्रार्थना में कहा गया है—

'श्रीजिन मोहनगारो छे, जीवन-प्राण हमारो छे।'

यहां पर यह आशंका की जा सकती है कि क्या भगवान् 'मोहनगारो' हो सकता है ? जिसे जैन-धर्म वीतराग कहता है, जो राग, द्वेष और पक्षपात से रहित है, उसे 'मोहनगारो' कैसे कहा जा सकता है ? जो परमात्मा स्वयं मोह से अतीत है, वह 'मोहनगारो' कैसा ? जिसे अमूर्तिक और निराकार माना जाता है, वह किस प्रकार और किसे मोहित करता है ? इस आशङ्का पर सरल रीति से यहां प्रकाश डाला जाता है।

लोक-मानस इतना संकीर्ण और अनुदार है कि उसने संसार के अन्यान्य भौतिक पदार्थों की तरह ईश्वर का भी बँटवारा-सा कर रक्खा है। यही कारण है कि ईश्वर के नाम पर भी आये दिन झगड़े होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर को समझाने के लिए उपयुक्त वक्ता न होने से, ईश्वर के नाम से होने वाली शांति

के बदले उलटी अशान्ति होती है—कलह फैलता है। यह सब होते हुए भी वास्तव मे ईश्वर का नाम शान्तिदाता है और ईश्वर 'मोहनगारो' है।

वीतराग किस प्रकार किसी को मोहित कर सकता है, इस प्रश्न के उत्तर में सत्य यह है कि वीतराग भगवान् ही मनमोहन है। जिसमें वीतरागता नहीं है, वह मनमोहन या 'मोहनगारो' भी नहीं है। उपर्युक्त प्रार्थना वीतराग-भगवान् की ही है, किसी संसारी पुरुष की नहीं है। इस प्रार्थना में वीतराग को ही 'मोहन-गारो' बतलाया गया है। भगवान् वीतराग 'मोहनगारो' किस प्रकार है, यह बात संसार की बातों पर दृष्टि डालने से साफ समझ में आ जायगी।

जिसका चित ईश्वर पर मोहित होकर संसार की और वस्तुओं से हट जाएगा, जो एकमात्र परमात्मा को ही अपना आराध्य मानेगा, जो परमात्मा प्राप्ति के लिए अपने सर्वस्व को हँसते-हँसते ठुकरा देगा, वह परमात्मा को ही मोहनगारो मानेगा। परमात्मा 'मोहनगारो' नहीं है तो भक्त-जन किसके नाम पर संसार का विपुल वैभव त्याग देते हैं? अगर ईश्वर में आकर्षण न होता तो बड़े २ चक्रवर्त्ती और सम्राट् उसके लिए बन की खाक क्यों छानते फिरते? अगर भगवान् किसी का मन नहीं मोहते तो प्रह्लाद को किसने पागल बना रक्खा था? और मीरां ने किस मतलब से कहा था—'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।

परमात्मा स्वयं कहने नहीं आता कि मैं 'मोहनगारो' हूँ मगर भक्त लोग ही कहते हैं—'श्रीजिन मोहनगारो छे!' परमात्मा को

'मोहनगारो' मानने वाला भक्त कैसा होना चाहिए, यह जानने के लिए सांसारिक बातों पर दृष्टिपात करना होगा।

जो पुरुष संसार के सब पदार्थों में से केवल धन को 'मोहनगारो मानता है, उसके सामने दूसरी तरह की चाहे लाखों बातें की जाएँ, लेकिन वह धन के सिवाय और किसी भी बात पर नहीं रीझेगा। उसे धन ही धन दिखाई देगा। वह सोने में ही सब करामात मानेगा। कहेगा—

'सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ति।'

संसार के समस्त सुखों का एकमात्र साधन और विश्व में एकमात्र सारभूत वस्तु धन है, धन ही परब्रह्म है, धन ही धर्म है, धन ही लोक-परलोक है, ऐसा समझने वाला पुरुष धन को ही 'मोहनगारो' मानेगा। ऐसा आदमी ईश्वर को मोहनगारो नहीं मान सकता। वह ईश्वर की तरफ झाँक कर भी नहीं देखेगा। कदाचित् किसी की प्रेरणा से ईश्वर की प्रार्थना करेगा भी तो कंचन के लिए करेगा। वह धन-लाभ को ही ईश्वर की सचाई की कसौटी बना लेगा।

कंचन और कामिनी संसार की दो महा शक्तियां हैं। कई लोग ऐसे भी हैं, जिनके लिए कंचन तो इतना 'मोहनगारा' नहीं है, किन्तु कामिनी ही उन्हें गुण-निधान, सुख-निधान और आनन्द-निधान जान पड़ती है। कनक और कामिनी में ही संसार की समस्त शक्तियों का समावेश हो जाता है।

इन शक्तियों से जिनका अन्तःकरण अभिभूत हो गया है, जिसके हृदय पर इन्होंने आधिपत्य जमा लिया है, वह ईश्वर की तरफ नहीं झाँकेगा। अगर झाँकेगा भी तो इसलिए कि ईश्वर उसे

कामिनी दे। कदाचित् कामिनी मिल जाय तो वह ईश्वर से पुत्र आदि परिवार की याचना करेगा। पुत्र-पौत्र मिल जाने पर वह सांसारिक मान-सन्मान के लिए ईश्वर को नमस्कार करेगा। मगर जो मनुष्य कंचन और कामिनी आदि के लिए ईश्वर की उपासना करेगा, वह उनमें से किसी की कमी होते ही ईश्वर से विमुख हो जायगा और कहेगा—ईश्वर है कौन! अपना उद्योग करना चाहिए, वही काम आता है। ऐसे लोग ईश्वर के भक्त नहीं हो सकते। इनके आगे ईश्वर की बात करना भी निरर्थक-सा हो जाता है।

जैसे धन को मोहनगारा मानने वाला धन के सिवाय और किसी में भलाई नहीं देखता, उसी प्रकार ईश्वर का मोहनगार मानने वाले मनुष्य ईश्वर के सिवाय और किसी में भलाई नहीं देखते। वे लोग ईश्वर को ही मोहनगारा मानते हैं और ईश्वर को ही अपना उपासक समझते हैं।

जल में रहने वाली मछली खाती भी है, पीती भी है, विषय-भोग भी करती है, मगर करती है सब कुछ जल में रह कर ही। जल से अलग करके उसे मखमल के बिछौने पर रख दिया जाय और बढ़िया भोजन खिलाया जाय, तो वह न भोजन खाएगी, न मखमल के मुलायम स्पर्श का आनन्द ही अनुभव करेगी। उसका ध्यान तो जल में ही लगा रहेगा। परमात्मा के प्रति भक्तों की भावना भी ऐसी ही होती है। भक्त चाहे गृहस्थ हो या साधु, पानी के बिना मछली की तरह परमात्मा के ध्यान के बिना सुख अनुभव नहीं करता। उसका खाना-पीना आदि सारा ही व्यवहार परमात्मा के ध्यान के साथ ही होगा। परमात्मा के ध्यान के बिना कोई भी बात उसे अच्छी नहीं लगेगी।

प्रश्न हो सकता है—परमात्मा के भक्त, परमात्मा को 'मोहनगारो' मानकर उसके ध्यान में आनन्द मानते हैं, लेकिन कैसे कहा जा सकता है कि यह उनका भ्रम नहीं है ? क्या यह संभव नहीं है कि वे भ्रम के कारण ही परमात्मा का भजन करते हैं ? परमात्मा में ऐसा क्या आकर्षण है—कौन-सी मोहक-शक्ति है कि भक्त-जन परमात्मा के ध्यान बिना, जल के बिना मछली की तरह विकल रहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मछली को जल में क्या आनन्द आता है, यह बात तो मछली ही जानती है, उसी से पूछो। दूसरा कोई क्या जान सकता है ! इसी प्रकार जिन्हे परमात्मा से उत्कट प्रेम है, वही बतला सकते हैं कि परमात्मा में क्या आकर्षण है, कैसा सौन्दर्य है. और कैसी मोहक शक्ति है ! क्यों उन्हें परमात्मा के ध्यान बिना चैन नहीं पड़ता ! उनके अन्तर से निरन्तर यह ध्वनी फूटती रहती है—

'श्री जिन मोहनगारो छे, जीवन-प्राण हमारो छे ।'

इस प्रकार परमात्मा, भक्त का आधारभूत है। परमात्मा को तभी ध्यान में लिया जा सकता है, जब उसे कंचन-कामिनी से अलिप्त रक्खा जाय। जिसमें कामना-वासना नहीं है, वही मोहनगारा होता है। जो कामना-वासना से लिप्त है वह वीतराग नहीं है और जो वीतराग नहीं है वह मोहनगारा भी नहीं हो सकता।

त्याग सब आत्माओं को स्वभाव से ही प्रिय है। एक साधु को देखकर ही हृदय में भक्ति उत्पन्न हो जाती है। आप (श्रोतागण) यहाँ धन के लिए नहीं आये हैं। यहाँ मेरे पास आने का मतलब दूसरा ही है। वह क्या है ? त्याग के प्रति भक्ति। जब साधु के थोड़े-से त्याग को देखकर ही उसके प्रति प्रीति और भक्ति की

उत्पत्ति होती है, तो जो भगवान् पूर्ण वीतराग हैं, उनके ध्यान से कितना आनन्द आता होगा ? कदाचित् यहाँ आकर व्याख्यान सुनने वालों पर एक-एक पैसा टैक्स लगा दिया जाय, तो क्या आप लोग आएँगे ? टैक्स लगा देने पर आप कहेंगे—इन साधुओं को भी हम गृहस्थों के समान ही पैसों की चाह लगी है और जहाँ पैसों की चाह है वहा परमात्मा कैसे हो सकता है ? क्योंकि परमात्मा तो वीतराग है।

व्याख्यान सुनने के लिए आने वालों पर पैसे का टैक्स न लगाकर छटाँक-छटाँक भर मिठाई लेकर आने का नियम लागू कर दिया जाय तो खुशामद के लिहाज से मिठाई लेकर आने की बात दूसरी है, लेकिन वीतरागता की भावना से आप न आयेंगे और कहेंगे—इन साधुओं को भी रस-भोग की आवश्यकता है ! साराश यह कि आप यहा त्याग देखकर ही आये हैं। इस प्रकार लगभग सभी आत्माओं को त्याग प्रिय है। फिर यह त्याग-भावना क्यों दबी हुई है ? इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि आत्मा कचन और कामिनी के मोह में फँसा हुआ है। आत्मा रात-दिन सासारिक वासनाओं मे लगा रहता है, इसी कारण उसकी त्याग-भावना दबी हुई है। संसार-वासना के वशवर्ती होने के कारण कई लोग, धर्म-सेवन भी वासनाओं की पूर्ति के उद्देश्य से ही करते हैं। कनक और कामिनी के भोग मे सुविधा और वृद्धि होने के लिये ही वह धर्म का आचरण करते हैं। ऐसे लोगो का अत करण वासना की कालिमा से इतना मलीन हो गया है कि परमात्मा का मन मोहन रूप उस पर प्रतिबिंबित नहीं हो सकता।

यद्यपि मुझ मे वह उत्कृष्ट योग शक्ति नहीं है कि मैं आपको

ध्यान संसार की ओर से हटाकर ईश्वर में लगा दूँ, लेकिन बड़े २ सिद्ध महात्माओं ने शास्त्रों में जो कुछ कहा है, मुझे उसमें बहुत कुछ शक्ति दिखाई देती है और इसी कारण वही बात मैं आपको सुनाता हूँ। आप उन महात्माओं के अनुभवपूर्ण कथनकी ओर ध्यान लगाइए। फिर सभव है कि आपका ध्यान ससार की ओर से हटकर परमात्मा की ओर लग जाए।

मनुष्य, सृष्टि का बादशाह है। फारसी भाषा की एक कहावत मे बतलाया गया है कि मनुष्य सब चीजो का बादशाह है। इस कहावत के अनुसार मनुष्य सब प्राणियो का राजा है और सब प्राणी उससे छोटे हैं। जब मनुष्य का इतना अधिक महत्व है, मनुष्य का पद इतना ऊँचा है तो आपको विचारना चाहिए कि हमारा कर्तव्य क्या होना चाहिए ? जो सब से बड़ा गिना जाता है, वह किसी न किसी अच्छे कर्त्तव्य से ही। मनुष्यो मे ही देखो मनुष्यों मे कोई जज होता है, उसका दर्जा ऊँचा गिना जाता है। सभी मनुष्य जज नहीं होते। क्या बढ़िया कपड़े और बढ़िया आभूषण पहनने मे कोई जज बन जाता है ? नहीं। जिसके दिमाग में इन्साफ करने की ताकत है, जो दूध को दूध और पानी को पानी सिद्ध कर दिखा देता है, इस शक्ति के कारण जो अपराधी को कारागार मे भेज सकता है या अभियोग से मुक्त कर सकता है, फाँसी की सजा दे सकता है या कारागार मे छुड़ा सकता है, वह जज कहलाता है। इस प्रकार न्याय करने के लिए ही जज होता है।

मतलब यह है कि जज, जनता का कल्याण करता है. जनता को न्याय देता है, इसीलिए वह 'न्यायाधीश' कहलाता है।

इस प्रकार बड़ा एवं महत्वपूर्ण काम करने वाला मनुष्य इतर मनुष्यों से भी बड़ा कहलाता है तो यह देखना चाहिये कि मनुष्य सृष्टि के सब जीवों में बड़ा क्यों कहलाता है ? किसी मनुष्य को पशु कह दिया जाय तो उसे बुरा लगता है । यदि गधा कह दिया जाय तो बहुत बुरा लगता है और यदि कुत्ता कह दिया जाय तो बहुत ही ज्यादा बुरा मालूम होता है । यह सबका स्वभाव है। लेकिन विचार करके देखो कि आपको ऐसा कहने में बुरा क्यों लगता है ? पशुओं की श्रेणी में रखना आपको क्यों अपमान-जनक प्रतीत होता है ? आप में ऐसी कौन-सी विशेषता है, जिसके कारण आप अपने को इन प्राणियों से ऊँचा समझते हैं ? अन्य प्राणियों के साथ अपनी तुलना उसी प्रकार करो, जिस प्रकार काँच में मुँह देखा जाता है । पशु कहलाना इसलिए बुरा लगता है कि मनुष्य पशु नहीं है, लेकिन जरा हिसाब लगा कर देखो कि आप पशु से बड़े तो कहलाते हैं, मगर वास्तव में ही बड़े हैं या नहीं ? अगर बड़े हैं तो कितने ?

यह पहले ही कहा जा चुका है कि किसी भी व्यक्ति की विशिष्टता या उच्चता उसके कर्त्तव्य पर निर्भर करती है ।

हम साधुओं को यहाँ (जोधपुर में) किसने रोका है ? आप कह सकते हैं कि सबने प्रार्थना करके रोका है, लेकिन भगवान् महावीर की आज्ञा चातुर्मास में एक स्थान पर रहने की न होती, तो आपकी प्रार्थना भी स्वीकृत नहीं हो सकती थी । भगवान् की आज्ञा का पालन करना हमारा कर्त्तव्य है । उनकी आज्ञा के विरुद्ध, लाखों मनुष्यों की प्रार्थना होने पर भी चातुर्मास समाप्त होने के बाद क्या साधु एक दिन भी रह सकते हैं ? नहीं ।

भगवान् महावीर ने चौमासे में एक ही स्थान पर रहना साधुओं के लिए कर्तव्य बतलाया है। भगवान् ने कहा है—हे मुनि ! वर्षा ऋतु में पानी बरसने से मार्ग बन्द हो जाते हैं, सब जगह हरियाली फैल जाती है, असंख्य कीड़े-मकोड़े पैदा हो जाते हैं इस कारण विहार करने में कठिनाई होती है और विहार करने से अहिंसा धर्म का उच्च आदर्श नहीं पल सकता। अतएव वर्षा में उत्पन्न होने वाले जीवों की रक्षा के उद्देश्य से मैं आज्ञा देता हूँ कि चार महीने एक स्थान पर निवास करना और प्रतिसंलीनता धारण करना। प्रतिसंलीनता धारण करने का अर्थ है—मन, वचन, काय को सदा की अपेक्षा अधिक रोक कर तप-संयम अधिक करना।'

इस प्रकार चार मास तक एक स्थान पर रहना भगवान् की आज्ञा के अनुसार साधु का कर्त्तव्य है। अगर कोई साधु यह सोचता है कि यहां चार मास रहना ही है और यहां की मिठाई बड़ी स्वादिष्ट होती है तथा भक्त लोग खूब 'घणी खमा' करते हैं तो मिठाई खाकर 'घणीखमा' की मौज क्यों न लूट लें ? और ऐसा सोच कर वह अगर चातुर्मास को खाने-पीने और मान-बड़ाई का साधन बना लेता है तो क्या वह भगवान् की आज्ञा का और अपने कर्त्तव्य का पालन करता है ? कदापि नहीं।

जो साधु चातुर्मास को जीवों की रक्षा एवं अधिक तप-संयम करने का अवसर न मान कर जिह्वा तृप्ति या मान बड़ाई का अवसर समझता है, भगवान् उसे पाप-श्रमण कहते हैं। चातुर्मास के सिवाय शेष काल में जो तप-संयम किया जा सकता था, उसे चातुर्मास में एक स्थान पर रहकर करना चाहिए। चातुर्मास

में अधिक से अधिक धर्म-जागृति करनी चाहिए और जिन प्राणियों की दया के खातिर एक स्थान में रहने की भगवान् ने आज्ञा दी है, उन प्राणियों की दया संसार में फैलानी चाहिए।

यह तो हुई धर्म की आज्ञा। लेकिन इस अवसर पर हमें समाज की रूढ़ियों पर भी विचार करना आवश्यक है। समाज का धर्म के साथ आधार-आधेय सम्बन्ध है। विशेष प्रकार के व्यक्तियों का समूह ही समाज कहलाता है और व्यक्ति ही धर्म का आराधन करते हैं। अतएव समाज की शुद्धि का अर्थ है-व्यक्तियों के चरित्र का संशोधन। जब व्यक्तियों का जीवन शुद्ध होता है, उसके सामाजिक आचार-विचार विवेकपूर्ण और नीतिमय होते हैं, तभी तो उनके जीवन में धर्म का बीज अंकुरित होता है। बीज बोने से पहले किसान खेत को जोत कर बीज बोने योग्य बनाता है, फिर बीज बोता है और तब अंकुर उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार धर्म का बीज बोने से पहले सामाजिक जीवन को ठीक बना लेना अत्यन्त आवश्यक है। सामाजिक-जीवन को सुधारने का आशय है—जीवन में नैतिकता लाना। नीति, धर्म की नींव है। अतएव सच्ची धार्मिकता लाने के लिए नीतिमय जीवन बनाने की अनिवार्य आवश्यकता है। अनेक सामाजिक कुरीतियां इस प्रकार के जीवन निर्माण में बाधक होती हैं, अतएव उन पर विचार करना भी आवश्यक है।

चातुर्मास में साधुओं का जो कर्त्तव्य है उसका साधारण दिग्दर्शन किया जा चुका है। साधु अपने कर्त्तव्य का पालन करें और अपनी जिम्मेदारी को निभावें, लेकिन आप लोगों को भी कुछ विचारना चाहिए। आप यह विचार करें कि 'यह साधु यों

न रुकते, केवल जीवों की दया के लिए रुके हैं। जिन जीवों की दया के लिए यह एक स्थान पर रुके हैं, उन जीवों की दया हमें भी पालनी चाहिए। इस मौसिम में गर्मी और वर्षा के कारण गृहस्थ के उपयोग में आने वाली लकड़ी, कंडा आदि में बहुतायत में जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। अतएव उनकी दया पालने के लिए बहुत यतना की आवश्यकता है। रसोई का ईंधन अच्छी तरह देखे-भाले बिना काम में नहीं लाना चाहिये।

गृहस्थी होने के कारण यद्यपि आप सम्पूर्ण अहिंसा का पालन नहीं कर सकते, तथापि आपको यह स्मरण रखना चाहिए कि यतना के साथ कार्य करने से गृहस्थ भी बहुत-से पापों से बच सकता है। यहाँ गृहस्थ के कर्त्तव्यों पर कुछ प्रकाश डाला जाता है। इसके अनुसार चलने से आप परमात्मा के भक्त कहलाएँगे और उस 'मोहनगारो' के समीप पहुँचेंगे।

मशीन का आटा

अभी कुछ दिनों पहले तक गृहस्थ बहिनें अपने हाथसे आटा पीसती थीं। धनाढ्य और निर्धन का इस विषय में कोई भेद नहीं था। शरीर के लिए किसी न किसी प्रकार के शारीरिक व्यायाम की जरूरत होती ही है। निरोग रहने के लिए यह अत्यावश्यक है। अपने हाथसे आटा पीसने में बहिनों का अच्छा व्यायाम हो जाता था और वे कई प्रकार के रोगों से बची रहती थीं। परन्तु आजकल हाथ की चक्की घरों से उठ गई और उसका स्थान पनचक्की ने ग्रहण कर लिया है। बहिनें आलसी हो गई हैं। वे अपने हाथ से काम करने में कष्ट मानती हैं और धीरे-धीरे बड़प्पन का भाव भी उन्हें ऐसा करने के लिए रोकने लगा है। इसका एक परिणाम तो प्रत्यक्ष

दिखाई देता है कि बहिनों ने अपना स्वास्थ्य खो दिया है। आज अधिकांश बाइयाँ निर्बल, निःसत्व और तरह-तरह के रोगों से ग्रस्त हैं। प्रसव के समय अनेक बहिनों को भारी कष्ट उठाना पड़ता है और कइयों को तो प्राणों से भी हाथ धो बैठना पड़ता है। इसका एक प्रधान कारण आलस्यमय जीवन है, जिसकी बदौलत वे शारीरिक श्रम से वंचित रहती हैं। इतना सब होते हुए भी, उनकी आँखें नहीं खुलतीं, यही आश्चर्य है।

शारीरिक रोगों के अतिरिक्त पनचक्की के कारण और भी अनेक हानियाँ होती हैं। पनचक्की आटे का असली सत्व तो आप खा जाती है और सिर्फ आटे का निःसत्व कलेवर बाकी रखती है। संसार में कहावत है कि जिस खाद्य वस्तु पर डाकिन की दृष्टि पड़ जाती है, वह सत्व रहित हो जाता है। डाकिनके सम्बन्धमे यह कहना तो सिर्फ वहम मात्र है, लेकिन पनचक्की तो प्रत्यक्ष ही अन्न का सत्व खा जाती है। पनचक्की में पिस कर निकला हुआ आटा जलता हुआ होता है और ठंडा होने पर ही काम में आता है। वह जलता हुआ आटा मानो कह रहा है कि—'मेरा सत्व चूस लिया गया है और मैं बुखार चढे हुए मनुष्य की तरह कमजोर हो गया हूँ।'

पनचक्की का आटा खाने में आपको सुभीता भले ही मालूम होती हो, लेकिन किसी भी दृष्टि से देखिये, इसका व्यवहार करना भयङ्कर भूल है। स्वास्थ्य की दृष्टि से वह लाभप्रद नहीं है, लेकिन संस्कार की दृष्टि से भी वह अत्यन्त हेय है। बम्बई में सुना था कि मछली बेचने वाले लोग जिस टोकरी मे मछलियाँ रख कर बेचते हैं, उसी टोकरी में गेहूँ लेकर पनचक्की मे पिसाने ले जाते हैं। मछली वाली टोकरी के गेहूँ जिस चक्की में पिसते हैं, उसी में

दूसरे गेहूँ पिसते हैं। लोग यों तो छुआछूत का बड़ा ध्यान रखते हैं, लेकिन पनचक्की में वह छुआछूत भी पिसकर चूरा चूरा हो जाती है। भाइयो ! क्या मछली वाली टोकरी के गेहूँ का आटा पनचक्की में रह कर आप लोगों के आटे में नहीं मिलता होगा ? और वह आटा बुरे संस्कार नहीं डालता होगा ?

आप डाक्टरों की राय लेंगे तो वह आपको बतलाएँगे कि पनचक्की का आटा हानिकारक है।

इसके सिवाय हाथ की चक्की से अल्प-आरम्भ से काम चलता था, लेकिन पनचक्की से महा-आरम्भ होता है।

पनचक्की से गृहस्थ-जीवन की एक स्वतन्त्रता नष्ट हो गई और परतन्त्रता पैदा हो गई है।

बिना छना पानी

गर्मी और वर्षा के कारण आटे में भी कीड़े पड जाते हैं, जल में भी कीड़े पड जाते हैं, और ईंधन में भी। लोग धर्म-ध्यान तो करते हैं, परन्तु इन जीवों की रक्षा करने में और हिंसा के घोर पाप से बचने में न मालूम क्यों आलस्य करते हैं ? बड़े-बड़े मटकों में भरा हुआ पानी कई दिनों तक खाली नहीं होता। पहले के भरे हुए पानी में दूसरा पानी डालते हैं। कदाचित् पहले का पानी आरम्भ में छान कर भरा गया हो, तो भी उसमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं। एक बार छना हुआ जल सदा के लिए छना हुआ नहीं रहता। अतएव ऊपर से नया पानी डाल देने से वह भी बिना छना हो जाता है। उसे व्यवहार में लाना हिंसा का कारण है। अगर जल छानने की यतना मर्यादा पूर्वक की जाय, तो अहिंसा धर्म का भी पालन हो और स्वास्थ्य की भी रक्षा हो। आप सामायिक धर्मध्यान तो करते

हैं, पर कभी इस पर भी ध्यान देते हैं कि आपके घर में पानी छानने के कपड़े की क्या दशा है ?

पहनने-ओढ़ने के कपड़ों की प्रतिलेखना करते हैं, परन्तु पानी छानने के कपडे की ओर ध्यान ही नहीं जाता। सेठ-सेठानी की पेटियां कपडों से भरी रहती हैं, फिर भी पानी छानने के कपडे में तो कजूसी ही की जाती है। आप स्वयं इस ओर ध्यान नहीं देते। नौकरों के भरोसे छोड देते हैं। इस कारण जल की पूरी तरह यतना नहीं होती।

लोगों ने इस प्रकार की छोटी-छोटी बातों में भी विधि का नाश कर डाला है। केवल जल न छानने के कारण ही-बिना छना जल पीने से ही बहुत से रोग होते हैं, ऐसा डाक्टरों का मत है। बिना छना जल न पीने से अहिंसा बढ़ेगी, रोगों से रक्षा होगी और दया का पालन होगा। जो आदमी बिना छना जल भी न पीयगा, उसके हृदय में भी मछली पकडने की भावना उत्पन्न होगी ? 'नहीं।'

रात्रि भोजन

जल छानने के साथ ही भोजन में भी विवेक रखने की आवश्यकता है। रात्रि-भोजन अत्यंत ही हानिकारक है। क्या जैन और क्या वैष्णव सभी ग्रथों में रात्रि-भोजन को त्याज्य माना गया है। जिसने रात्रि भोजन त्याग दिया है, वह एक प्रकार से तपस्या करके अनेक रोगों से बच रहा है। रात्रि-भोजन त्यागने से बहुत लाभ होता है। प्लेग के कीडों का जोर दिन में उतना नहीं होता, जितना रात्रि में होता है। रात्रि में प्लेग के कीड़े प्रबल हो जाते हैं, दिन में सूर्य की किरणों से या तो वे नष्ट हो जाते हैं या प्रभावहीन हो जाते हैं। डाक्टरों और शास्त्रकारों का कथन है कि जो भोजन रात्रि में रहता है, उसमें अनेक

प्रकार के कीटाणु पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार रात्रि का भोजन सब प्रकार से अभक्ष्य होता है। मगर खेद है कि कई भाई चार पहर के दिन में तो भोजन नहीं कर पाते और रात्रि में ही इन्हें फुर्सत मिलती है।

रात्रि-भोजन की बुराइयाँ इतनी स्थूल हैं कि उन्हें अधिक समझाने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। रात्रि में चाहे जितना प्रकाश किया जाय, अँधेरा रहता ही है। बल्कि प्रकाश को देखकर बहुत-से कीड़े आ जाते हैं और वह भोजन में गिर जाते हैं। अगर एकदम अँधेरे में भोजन किया जाय, तो आकर गिरने वाले जीव-जन्तुओं का पता लग ही नहीं सकता। इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में रात्रि-भोजन करने वाले अभक्ष्य भक्षण और हिंसा के पाप से नहीं बच सकते। रात्रि-भोजन के प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

मेधां पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरम्।
कुरुते मक्षिका वान्तिं, कुष्ठरोगं च कोलिकः ॥
कण्टको दारुखण्डं च, वितनोति गलव्यथाम्।
व्यञ्जनान्तर्निपतितस्तालु, विध्यति वृश्चिकः ॥
विलग्नश्च गले वालः, स्वरभङ्गाय जायते।
इत्यादयो दृष्टदोषाः सर्वेषां निशिभोजने ॥

—योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश।

अर्थात्-रात्रि में विशेष प्रकाश न होने के कारण अगर कीड़ी भोजन के साथ पेट में चली जाय, तो वह मेधाशक्ति (बुद्धि) का नाश करती है। जूँ गिर जाय तो जलोदर नामक भयंकर रोग

होता है। मक्खी से वमन होता है। कोलिक (जीव विशेष) से कोढ़ होता है। काटा या लकड़ी की फॉस भोजन के साथ खाने में आ जाय तो गले में पीड़ा हो जाती है। कदाचित् बिच्छू व्यजनों में मिल जाय तो तालू को फोड़ डालता है। बाल से स्वरभंग होता है। इस प्रकार के अनेक दोष रात्रि-भोजन करने से उत्पन्न होते हैं।

पूर्वोक्त शारीरिक दोषों के अतिरिक्त रात्रि-भोजन हिंसा का कारण तो है ही। इस विषय में कहा है—

जीवाण कुंथुमाईण वायणं भायणधोयणाईसु ।
एवमाइ रयणिभोयणदोसे को साहिउ तरइ ॥

अर्थात्—जो लोग रात्रि में भोजन करते हैं, उनके यहां रात्रि में भोजन पकाने का भी विचार नहीं रहता और ऐसी स्थिति में बर्त्तन धोने आदि कामों में कुंथुवा आदि जीवों की घोर हिंसा होती है। रात्रि-भोजन में इतने अधिक दोष हैं कि कहे नहीं जा सकते।

रात्रि-भोजन के दोषों के उदाहरण खोजने से सैकड़ों मिल सकते हैं। जिस रात्रि-भोजन को अन्य लोग भी निषिद्ध मानते हैं, उसका सेवन अहिंसा और संयम का अनुयायी जैन किस प्रकार कर सकता है? एक उदाहरण लीजिये—

जैनी रात को नहीं खाते हैं, सुन चातुर भाई।
हठ करके जिस किसी ने खाया, क्या नसीहत पाई॥
रामदयाल सागर में हकीम था, उसकी थी नारी।
प्यास लगी पानी की उसको, रात थी अँधियारी॥
मकड़ी उसमें पड़ी आन कर, जहरी थी भारी।
जहरी मकड़ी गई पेट में, हो गई दुखियारी॥

पेट फुला और सूजा सारी,
वैद औषधी करी तयारी ।
नहि लागे कारी ॥

छह महीने में मुई नीकली सागर में भाई ॥ ह० ॥

आप इस कविता की शाब्दिक त्रुटियों पर ध्यान न देकर इसके भावों पर ध्यान दीजिए। रात्रि-भोजन से होने वाली हानियों के उदाहरण पहले के भी हैं और आज भी अनेक सुने जाते हैं। सागर के हकीम ने रोगों पर हिकमत चलाई, लेकिन रात्रि का भोजन नहीं त्यागा। नतीजा यह हुआ कि उसे अपनी स्त्री से हाथ धोना पड़ा। आजकल के वैज्ञानिक भी रात्रि-भोजन को राक्षसी भोजन कहते हैं। रात्रि में पक्षी भी खाना-पीना छोड़ देते हैं। पक्षियों में नीच समझे जाने वाले कौवे भी रात में नहीं खाते। हां चमगीदड़ रात्री को खाते हैं, परन्तु क्या आप उन्हें अच्छा समझते हैं? आप उनका अनुकरण करना पसन्द करते हैं?

साराश यह है कि रात्रि-भोजन अहिंसा और स्वास्थ्य दोनों का ही नाशकर्त्ता है, अतएव सब भाइयो और बहिनों को धर्म की और साथ ही शरीर की रक्षा के लिए रात्रि-भोजन का त्याग करना चाहिए।

कुछ दिन हुए एक समाचार पत्र में एक घटना पढ़ी थी। वह इस प्रकार थी—एक व्यक्ति के यहां कुछ मित्र आये। मित्र लोग आधुनिक शिक्षा के सभी फलों से युक्त थे। बम्बई की तरफ के लोगों में चाय का विशेष तौर पर सत्कार होता है। रात्रि के दस-ग्यारह बजे का समय था। उस व्यक्ति ने अपने आगन्तुक

मित्रों के लिये चाय बनाई। सब ने रुचि के साथ चाय पी ली। लेकिन उनमें एक भला आदमी ऐसा था जो रात को कुछ खाता-पीता नहीं था। उसने चाय नहीं पी। दूसरे आदमियों ने बहुत आग्रह किया, दबाव डाला। उससे कहा गया–'यार! इतना पढ़-लिख करके भी धर्म-कर्म के ढोंग में पड़े हो! यह धर्म तो यम विष की पुड़िया है। धर्म ने और साधुओं ने ही सब खराबी कर रक्खी है। भाई, थोड़ी चाय पीलो थकावट मिट जायगी। तबीयत हरी हो जायगी।

चाय के विज्ञापनों में लिखा रहता है कि गर्म चाय थकावट मिटाती है, स्फूर्ति देती है, आदि आदि। इस प्रकार के विज्ञापनों द्वारा चाय का प्रचार किया जाता है। मगर कौन विचार करता है कि चाय से क्या क्या हानियां होती हैं और विज्ञापनों द्वारा लोगों को किस प्रकार भुलावे में डाला जाता है ?

बहुत आग्रह करने पर भी उस एक पुरुष ने चाय पीना स्वीकार नहीं किया। शेष सब चाय पीकर सो गये। वह लोग जो सोये सो सदा के लिए ही सोये। सवेरा होने पर भी नहीं उठे। बिस्तरों पर उनके निर्जीव शरीर पड़े रहे थे। अपने मित्रों को मरा हुआ देखकर चाय न पीने के कारण जीवित रहने वाला बहुत घबराया। उसने सोचा–कहीं मुझ पर ही कोई आफत न आ पड़े। थाने में इत्तला करने पर पुलिस तहकीकात करने आई। उस जीवित बचने वाले ने कहा–यह सब लोग चाय पी-पी कर सोये थे। जान पड़ता है, चाय में ही कोई विषैली चीज मिली होगी। इनकी मृत्यु का और कारण मालूम नहीं होता। पुलिस-अफसर ने चायदानी देखी तो मालूम हुआ कि चायदानी की नली में एक छिपकली

जमी हुई थी, जो चाय के साथ उबल गई और उसी के जहर से सभी पीने वाले अपने प्राणों से हाथ धो बैठे।

कोद (बिडवाल) की ठकुरानी ने दिन भर एकादशी का व्रत किया और रात को फलाहार करने लगी। ठकुरानी ने केवल एक ही ग्रास खाया था कि भयंकर रोग हो गया। अनेक प्रकार की चिकित्सा करने पर भी वह न बच सकी।

अगस्तते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं, मार्कण्डेयमहर्षिणा॥

यहां सूर्य डूबने के पश्चात् अन्न को मांस और पानी को रुधिर के समान बतलाया गया है। यह चाहे आलंकारिक भाषा हो, फिर भी कितने तीखे शब्दों में रात्रि के भोजन-पान का त्याग बतलाया गया है। अतएव रात्री-भोजन के अनेक विध दोषों का विचार करके आप उसका त्याग करें।

यहाँ आपके जिन कर्तव्यों की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया गया है, वह प्रत्येक जैन कहलाने वाले, बल्कि प्रत्येक मनुष्य कहलाने वाले के लिए आवश्यक है। उपदेश देना भी साधुओं का कर्तव्य है और हम इस कर्तव्य का पालन करते हैं, मगर उपदेश का पालन करके आप भी अपना कर्तव्य पालें। आप मनुष्य हैं। पशु कहने से आपको बुरा लगता है। किन्तु मनुष्य और पशु का अन्तर आपको समझ लेना चाहिये। इस विषय में कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीना पशुभिः समाना॥

अर्थात्—खाना-पीना, नींद लेना, भयभीत होना और विषय-भोग करना यह सब बातें पशुओं में और मनुष्यों में समान हैं। इनके कारण मनुष्य, पशुओं से बढ़कर नहीं हो सकता। मनुष्य की विशेषता एकमात्र धर्म है। मनुष्य जिस धर्म का पालन कर सकते हैं, पशु नहीं। ऐसी अवस्था में जो मनुष्य धर्म से हीन है, अपने धर्म का पालन नहीं करता, वह पशु के समान है। उस मनुष्य में और पशु में क्या विशेषता है?

मनुष्य अगर अपने अधिकार का काम करेगा तो मनुष्य रहेगा, नहीं तो पशु कहलाएगा। यह न होगा कि पशुओं के से सब काम करता हुआ भी वह वास्तविक रूप से मनुष्य ही बना रहे। बुरे काम करने वाला बुरा ही कहलाता है। मगर देखा जाता है कि मनुष्य आकृति धारण करने वाला प्राणी पशु की अपेक्षा भी बुरे काम करता है। गधों ने बुरे काम किये और उनके लिए कानून बना, यह आज तक नहीं सुना। मनुष्य कहलाते हुए भी लोग राजनीति और लोकनीति के विरुद्ध कार्य करते हैं, इसी कारण संसार में त्राहि-त्राहि मच रही है। अपने अधिकार के काम न करने से ही संसार में गड़बड़ है। लोग अपने अधिकारों को भूल कर लोगों के गले काटने में लगे हैं, तब उन्हें अधिकारी कैसे कहा जाय? जो अपने अधिकार के काम नहीं करता, उसके लिए 'अकार लोपात्तस्य ककारो द्वित्वता व्रजेत्' अर्थात् 'अधिकार' शब्द में के 'अ' का लोप होकर 'क' अक्षर को द्वित्व होकर धिक्कार* हो जाता

---

* अधिकारपदं प्राप्य नोपकारं करोति यः।
अकारो लोपमात्रेण ककारो द्वित्वतां व्रजेत्॥

है। लोग धिक्कार से डरते हैं, पर अधिकार के काम नहीं करते। 'पशु' कहलाने में अपना अपमान मानते हैं, मगर पशुओं के काम छोड़ना नहीं चाहते।

अगर पशु और मनुष्य की तुलना की जाय तो मालूम होगा कि विभिन्न पशुओं की अपेक्षा मनुष्य कई बातों में गया-बीता है। सर्वप्रथम काम भोग को ही ले लीजिये। पशु की काम-वासना कितनी मर्यादित है? स्त्री-जाति के पशु गर्भ धारण के अतिरिक्त कभी काम-सेवन नहीं करते। नर-जातीय पशु भी शेष समयमें उनके पास नहीं जाते। मगर मनुष्य विषय वासना का कीडा बना हुआ है। उसने समस्त मर्यादाओं को लांघ कर घोर उच्छृङ्खलता धारण की है। इसके लिए वर्ष के तीन सौ पैंसठ दिन एक सरीखे हैं। इस विषय में उसे समय-असमय और गम्यागम्य का कोई विवेक नहीं है।

बचे-खुचे और रूखे-सूखे रोटी के कतिपय टुकड़ों पर निर्वाह करके भी अपने स्वामी की भक्ति और रक्षा करने वाले कुत्ते की तुलना किस मनुष्य के साथ की जाय? कुत्ता अपने स्वामी की रात-दिन रक्षा करता है, जब कि मनुष्य अपने स्वामी को आजीविका देने वाले को-भी धोखा देने में नहीं चूकता।

गाय और भैंस आदि दुधारू पशु घास और खल जैसी चीजें खाकर उनके बदले मनुष्य को अपने हृदय का रस-दूध देते हैं, जिसके बिना मनुष्य-समाज का काम चलना कठिन है।

सिंह बहुत ही भयकर प्राणी समझा जाता है, मगर क्या वह अपने सजातीय सिंह को मारकर खा जाता है? नहीं। लेकिन

मनुष्य उसकी अपेक्षा इतना भीषण है कि वह मनुष्य को भी मारकर खा जाता है।

आज संसार पर निगाह दौड़ाइये तो आपको यह समझने में तनिक भी देरी नहीं लगेगी कि मनुष्य को मनुष्य से जितना भय है, उतना किसी भी अन्य जीवधारी से नहीं है। पर मनुष्य, दूसरे मनुष्य के लिए कितना विकराल होता है ? मनुष्य का जितना निर्दयता पूर्वक संहार मनुष्य ने किया और कर रहा है, उतना कभी किसी ने नहीं किया।

पशु, पशुओं को मारने के लिए कभी फौज नहीं बनाता। मगर मनुष्यों ने जो करोड़ों मनुष्यों की फौज बना रखी है, वह किस लिए है ? पशुओं के लिए नहीं, वह मनुष्यों का ही संहार करने के लिए है। बुद्धिमान वैज्ञानिक भाँति-भाँति के संहारक साधनों का-विषमय गैस आदि का-जो आविष्कार कर रहे हैं सो राक्षसों के लिए नहीं, अपितु मनुष्यों के ही प्राणों का हरण करने के लिए।

पशु-संसार कम से कम वस्तुओं पर अपना निर्वाह करता है। वह पेट भर खाने के सिवाय कोई संग्रह नहीं करता मगर मनुष्य की संग्रह-लालसा का कहीं ओर छोर नहीं। वह अधिक से अधिक संग्रह करके भी सन्तोष नहीं मानता। अपनी वास्तविक आवश्यकता के अनुसार संग्रह करना तो समझ में आ सकता है, किन्तु इतना अधिक और अनावश्यक संग्रह करना कि जिससे दूसरे मनुष्यों को भोजन वस्त्र के कारण तड़प-तड़प कर प्राण देने पड़ें, कहा तक उचित हो सकता है ? अपनी लालसा की पूर्ति के लिए या बड़प्पन दिखाने के लिए अपने भाई-बन्दों पर भी रहम न करना और उन्हें काल के

गाल में भेजने में सहायक बनना ही क्या असाधारण बुद्धि के धनी मनुष्य को शोभा देता है ? क्या इसीलिए मनुष्य, पशुओं से श्रेष्ठ कहलाता है ? यह सब देखकर आपको क्या यह नहीं मालूम होता कि पशु में पशुता के जितने अंश हैं, उनसे कहीं अधिक मनुष्य में मौजूद हैं।

मित्रो ! मनुष्यत्व की श्रेष्ठता इस कारण नहीं है कि वह अपनी विशिष्ट बुद्धि से बुरे कामों में पशुओं को भी मात करदे, वरन् वह प्राणी मात्र का राजा इसलिए है कि सद्गुणों को धारण करे, धर्म का पालन करे, स्वयं जीवित रहते हुए दूसरों के जीवन में सहायक हो। पाशविक जीवन का पूर्ण रूप से त्याग करो, आदर्श मनुष्य बनकर सच्चे देवत्व की ओर अग्रसर होवो। यह मनुष्य का कर्तव्य है, यही मनुष्य का अधिकार है।

लोग पंचों के सामने अपना विवाह करते हैं। पंचों के समक्ष ही पाणिग्रहण होता है और फेरे फिरते हैं। पुरुष, स्त्री का हाथ ग्रहण करके उसे वचन देता है। इस प्रकार विवाह करके पुरुष अधिकारी बनता है, उसे कोई धिक्कार नहीं देता। अगर स्त्री या पुरुष पंचों के समक्ष की हुई प्रतिज्ञा भंग करके पर-पुरुष या पर-स्त्री से सम्बन्ध स्थापित करे तो वह क्या धिक्कार का पात्र नहीं होता? सभी उसकी ओर उङ्गली उठाते हैं और उसे धिक्कार देते हैं।

इसी प्रकार जज और वकील वही है जो अपने-अपने अधिकार के काम करता है। जो सच्चा न्याय न करके केवल पैसे के गुलाम बने रहते हैं, पैसे के प्रलोभन में पड कर न्याय की उपेक्षा करते हैं, यही नहीं वरन् अन्याय को न्याय प्रमाणित करते हैं,

धनवान का पक्ष लेकर निर्धन के साथ अन्याय करते हैं, वह अपने अधिकार से अपने आपको वंचित करते हैं।

अधिकांश मनुष्य पैसे के दास बनकर धिक्कार के पात्र बनते हैं। झूठ और जालसाजी का मामला जानते हुए भी उसे सच्चा सिद्ध करने की कोशिश करना क्या वकीलों का कर्त्तव्य है? लेकिन वकील शायद यह सोचते हैं कि सीधे-सच्चे ही मुकदमे लेने से हमारा गुजर कैसे होगा? मनुष्य के मिहनत-मजूरी करना बुरा नहीं है, लेकिन झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा बनाना और इसी आजीविका से अपना पेट भरना शोभा नहीं देता। धर्मी मनुष्य को समझना चाहिए कि हम प्राणों की बाजी चाहे लगा देंगे, मगर अन्याय करके आजीविका न चलायेंगे।

इसी प्रकार चोरी, जारी, अभक्ष्य-भक्षण, नीच वातावरण में रहना आदि बातें मनुष्य को उसके अधिकार से भ्रष्ट करती हैं।

सभी धर्म एक स्वर से सदाचार की महिमा प्रकट करते हैं। सदाचार की बड़ाई न करने वाला कोई धर्म ही नहीं है। लोग अपने जीवन-व्यवहार में सदाचार को महत्त्व देने लगें तो संसार में सर्वत्र शान्ति और सुख का संचार हो जाये।

महिला वर्ग सदाचार की वृद्धि में अच्छा योग दे सकता है।

जसमा सती

महिला वर्ग चाहे तो पुरुष वर्ग को जल्दी से जल्दी सदाचार में प्रवृत्त कर सकता है। इस विषय में एक आख्यान आपको सुनाता हूँ। इसमें आप यह भी समझ सकेंगे कि पर-स्त्री की ओर लोलुपता की निगाह रखने वाला पुरुष किस प्रकार धिक्कार का पात्र है और पर-पुरुष को न चाहने वाली स्त्री किस प्रकार धन्यवाद की पात्री है। जो

आख्यान मैं कह रहा हूँ, उसका वर्णन गुजरात के इतिहास में मौजूद है और गुजराती लोग बड़े प्रेम से उसे गाते और पढ़ते हैं।

गरिमामय गुजरात नामक जनपद में पाटन एक विख्यात नगर अब भी मौजूद है, जहाँ आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य कुमारपाल राजा हो चुका है। उसी पाटन मे सिद्धराज सोलंकी नामक एक राजा था। सिद्धराज इतिहास-प्रसिद्ध राजा है। वह बड़ा ही बली, साहसी और कला-कुशल राजा था। मगर उसमें एक बड़ा दोष भी था और वह यह कि वह लम्पट था। उसकी लम्पटता ने उसे कलंकित कर दिया था।

कर्मदेवी नामक एक महिला का पति रामखेंगार था। सिद्ध-राज सोलंकी ने कर्मदेवी को अपने चंगुल में फँसने के लिए, उसी के सामने उसके पति का सिर उतार लिया। इसके पश्चात् वह क्रूरता की हँसी हँसकर बोला—देखो कर्मदेवी, अपने पति की हत्या के लिए तुम्हीं जिम्मेदार हो। तुम मेरी बात मान लेती तो यह नौबत न आती। तुम चाहतीं तो मेरा कहा मान कर अपने पति की प्राण रक्षा कर सकतीं थीं। मगर 'गई सो गई अब राख रही को' इस कहावत पर ध्यान दो। जो हुआ उसकी चिन्ता छोड़ कर जो रहा है, उसकी रक्षा का विचार करो।

कर्मदेवी! जानती हो, क्यों मैं यह चेतावनी दे रहा हूँ? अगर तुमने अब भी मुझे स्वीकार न किया तो मैं तुम्हारे प्राणप्रिय पुत्र को इसी प्रकार काट डालूँगा। क्या तुम अपने पुत्र की भी रक्षा नहीं करना चाहतीं? समझ लो। सोच देखो। मगर अधिक विलम्ब मत करो। उत्तर दो।

कर्मदेवी सती स्त्री थी। वह पति की हत्या से विचलित नहीं हुई और पुत्र की हत्या की धमकी भी उस पर असर न कर सकी। उसने सिंहनी की भांति कड़क कर उत्तर दिया—'राजा, तू सत्ता के मद में उन्मत हो रहा है। तुझे तनिक भी विवेक नहीं रहा। मैं अपने पतिदेव की रक्षा नहीं कर सकी, मगर याद रखना, शीघ्र ही एक दिन आएगा, जब तू आप अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो जायगा। तेरी इस नृशसता और लम्पटता की कहानी इतिहास में काले अक्षरों में लिखी जायगी। तेरी यह गौरवगाथा तेरी सतान और दूसरे लोग घृणा और लज्जा के साथ पढेंगे और अनन्तकाल तक तेरे नाम पर थूकते रहेंगे। गुजरात के कलंक! आज जो चाहे करले। मेरे पुत्र का घात करके भी तू मेरा धर्म नहीं छीन सकता। मेरे प्राण लेने का सामर्थ्य तुझ में है, मगर मेरा धर्म लेने का सामर्थ्य इन्द्र में भी नहीं है।' अपने पति और पुत्र की रक्षा करने वाली मैं कौन हूँ? धर्म ही अखिल ब्रह्माण्ड की रक्षा करता है। उसी धर्म की मैं रक्षा करूँगी। तेरा कोई अत्याचार, कोई भी पैशाचिकता मुझे धर्म से च्युत न कर सकेगी। तेरा प्रयत्न विफल होगा। समझ रखना, कर्मदेवी साधारण धातु की बनी स्त्री नहीं है।

अन्त में, सिद्धराज ने कर्मदेवी के पुत्र को भी काट डाला, लेकिन वह सती अपने निश्चय से नहीं डिगी, सो नहीं ही डिगी। अपने शत्रुओं के हृदय में कँपकँपी पैदा करने वाला प्रतापी सिद्धराज एक अबला के आगे पराजित हो गया। कर्मदेवी दुनियाँ की दृष्टि में अबला ही थी, मगर उसमें सतीत्व का जो असाधारण सामर्थ्य था, उसके कारण वह सबला ही नहीं, वरन् प्रबला भी थी। ऐसी देवियाँ संसार का सिंगार हैं।

सिद्धराज की एक ऐसी ही भद्दी से भद्दी करतूत इतिहास में और लिखी गई है। वह इस प्रकार है—

एक बार पाटन के राज्य में दुष्काल पड़ा। सिद्धराज ने पाटन की प्रजा की रक्षा के लिए-प्रजा को मजदूरी देने के अभिप्राय से—सहस्रलिंग नामक तालाब खुदवाना आरम्भ किया।

पाटन की ही भाँति मालवा में भी उस समय दुर्भिक्ष पड़ा हुआ था। मालवा के लोग जीवन निर्वाह के लिए देश-विदेश जा रहे थे। मालवा के रहने वाले ओड जाति के एक कुटुम्ब ने पाटन में विशाल तालाब खुदने का समाचार सुना। यह सुन कर वह कुटुम्ब भी पाटन के सहस्रलिंग तालाब का काम करने गया। उसे काम मिल गया। मिट्टी खोदने और ढोने का काम उस परिवार को सौंपा गया।

ओड लोगों में टीकम नामक एक ओड था। उसकी पत्नी जसमा अद्वितीय सुन्दरी थी। मगर वह केवल सुन्दरी ही नहीं, साहसी, चतुरता और विचक्षणता की भी मूर्ति थी। उसमें ऐसा साहस था कि उसने गुजरात के राजा सिद्धराज के भी छक्के छुड़ा दिये। जाति से ओड होने पर भी जसमा ने जिस साहस और वीरता का परिचय दिया, धर्म में जैसी दृढ़ता दिखलाई, वैसा करना कई-एक राजकुल की स्त्रियों के लिए भी कठिन है।

तालाब की खुदाई का काम चल रहा था। ओड-परिवार के पुरुष मिट्टी खोदते थे और स्त्रियां उसे उठा-उठा कर बाहर फेंकती थीं। जसमा भी मिट्टी ढोती थी। उसके एक छोटा बालक था। जसमा ने सोचा—'बालक की रक्षा करना तो मेरा आवश्यक कर्त्तव्य है ही, मगर अपने पति की सहायता करना भी कम

आवश्यक नहीं है। अपना बोझ पति पर डालना उचित नहीं है। स्त्री के अर्धाङ्गिनी होने की परीक्षा ऐसे ही आड़े समय में होती है।'

जसमा ने तालाव के किनारे एक बरगद के वृक्ष पर ऐसा मौका देखकर झूला बाँध दिया कि वह मिट्टी फेंकने के लिए आते-जाते समय बालक को देखती जाय और झुलाती रहे।

तालाव के काम का निरीक्षण करने के लिए सिद्धराज स्वयं आया करता था। एक दिन जसमा पर उसकी दृष्टि पड़ गई। सिद्धराज की आँखों में जसमा का रूप-लावण्य खटक गया। उसका सौन्दर्य देख कर उसकी वासना भड़क उठी। सिद्धराज मन ही मन विचार करने लगा—अहा! क्या रूप-लावण्य है! मेरी रानियाँ तो इसके पैर के अँगूठे की भी बराबरी नहीं कर सकतीं! यह अनमोल रत्न राजमहल में ही शोभा दे सकता है। यह साधारण मजदूरिन है, विपदा की मारी है, और मैं हूँ गुजरात का प्रतापशाली अधिपति-इसे प्राप्त कर लेना तो मेरे बाएँ हाथ का खेल है। इसका सुन्दर रूप देखकर जान पड़ता है, मानो कर्मदेवी ही नया अवतार लेकर जन्मी हो। जैसे भी हो, इसे हथियाना होगा। गुदड़ी के इस लाल को राज्य-शय्या का आभूषण बना कर उसका उद्धार करना ही चाहिए।

राजा सिद्धराज धीरे२ जसमा के पास आ पहुँचा। एक ओर गुजरात का वीर राजा सिद्धराज और दूसरी ओर ओड जाति की गरीबिनी मजदूरिन है। कामी पुरुष की जघन्य लालसा हृदय में पैदा होती है और आँखों के रास्ते बाहर फूट पड़ती है। उसके नेत्र ही उसके दिल का भेद जाहिर कर देते हैं। कौन जाने कामी इस तथ्य

को समझते हैं या नहीं ? मगर कामान्ध पुरुष कैसे समझ सकते हैं ! लेकिन आँखों की यह नीरव भाषा पढने में स्त्रियाँ कभी भूल नहीं करतीं। वह चट से ताड़ लेती है। फिर जसमा जैसी विचक्षणा स्त्री के लिए तो यह समझना कोई बडी बात नहीं थी। सिद्धराज जैसे ही जसमा की ओर बढा कि जसमा समझ गई। वह ज़रा दूर हट गई।

सिद्धराज ने जसमा से कहा—'क्या तुम्हारा यह सुकुमार शरीर मिट्टी उठाने के लिए है जसमा ! जिस शरीर की रचना करने में विधाता ने अपना सारा चातुर्य खर्च कर दिया हो, उसका यह दुरुपयोग देखकर मुझे दया आती है। तुम्हारी सुकुमारता कहती है, तुम मिट्टी ढोने के लिए नहीं जन्मी हो। मैं आज से तुम्हारे लिए यह सुविधा किए देता हूँ कि तुम तालाब की पाल पर बैठी रहा करो और अपने बच्चे को पाला करो। मिट्टी ढोने के लिए और बहुतेरी हैं।'

साधारण स्त्री होती तो वह कदाचित् राजा की इस भूल-भुलैयाँ में फँस जाती। मगर जसमा का दिल और दिमाग और ही तरह का था। वह राजा की इस कृपा का भेद समझ गई। तथापि उसने विनम्रता पूर्वक हाथ जोड़ कर कहा—'आप अन्नदाता हैं। आपने मुझ पर जो दया दिखलाई, उसके लिए आभारी हूँ, लेकिन मेरा स्वभाव दूसरी ही तरह का है। मैं मिहनत-मजदूरी करके ही अपना पेट भरना अच्छा समझती हूँ। मेरी दृष्टि में बिना मिहनत किये खाना बुरा है।'

अक्सर लोग परिश्रम से बचना चाहते हैं। मिहनत न करनी पड़े मगर भर पेट भोजन और आमोद प्रमोद के साधन

मिल जाएं तो बस, धरती पर ही उन्हें स्वर्ग दिखाई देने लगता है। पुण्य का प्रताप ही क्या जो बिना मिहनत किये खाना न मिला! अपनी कमाई का अन्न खाकर जीने का तत्त्व बहुत कम लोगों ने सीखा है। जसमा ऐसे ही व्यक्तियों मे थी।

जसमाने कहा-मैं बिना मिहनत किये, बैठी-बैठी खाना पसन्द नहीं करती। बैठी-बैठी खाऊं तो अनेक रोग हो जाएं और फिर इलाज के लिए वैद्य फीस मांगे तो मैं गरीब मजदूरिन कहा से दूं।

हिस्टीरिया का रोग, जिसे अशिक्षित स्त्रियाँ भेहा या चेडा कहती हैं और जिसके होने पर भीरा दाता आदि स्थानों पर रोगी को ले जाया जाता है, बैठे रहने परिश्रम न करने मे होता है। यह रोग प्राय धनिक स्त्रियों को ही होता है, गरीब स्त्रियों को नहीं। गरीब स्त्रिया श्मशान के पास रहने पर भी इस रोग का शिकार नहीं बनती और अमीर स्त्रियों जो बन्द घर मे बैठे भी यह रोग हो जाता है। असली बात यह है कि जो स्त्रियाँ आलसी होती हैं, परिश्रम नहीं करतीं, उन्हीं को यह भयानक बीमारी घेरती है। मगर अशिक्षा और कुसस्कारों के कारण लोग वास्तविकता को न समझ कर देवी-देवता की मिन्नत-पूजा करते हैं और डाक्टरों का बिल चुकाते-चुकाते परेशान हो जाते हैं। भोपा लोगों को, जो भैरवजी का प्रसाद हड़प जाते हैं, कोई बीमारी नहीं होती, लेकिन भैरवजी को मानने वाले अगर उन्हें चढावा न चढाते तो अपनी हानि समझते हैं। यह सब भ्रम की बातें हैं। वास्तविक बात यह है कि परिश्रम न करने से ही हिस्टीरिया की बीमारी होती है।

जसमा पढ़ी-लिखी न होने पर भी परिश्रम का मूल्य समझती थी। उसने सिद्धराज से कहा—'मैं काम करके खाती हूं। मेरा काम

अच्छी तरह चल रहा है। मेरे सम्बन्ध में आप चिन्ता न करें।'

जसमा का यह उत्तर सुन कर सिद्धराज ने सोचा—'जसमा साधारण स्त्री नहीं मालूम होती। सौन्दर्य-सम्पत्ति के साथ उसमे बुद्धि की विभूति भी है।'

सिद्धराज प्रकट में बोला—'जसमा, मैं कहता हूँ, तू जङ्गल मे भटकने और सुबह से शाम तक मजूरी करने के लिए नहीं है। तू अपने सौन्दर्य को, अपनी सुकुमारता को और अपने असली स्वरूप को नहीं समझती। क्या तेरा यह फूल-सा कोमल शरीर मिट्टी ढोने के लिए है? तू मेरे शहर में चल। पाटन शहर देखकर ही तू चकित रह जायगी। पाटन इस पृथ्वी पर स्वर्ग है। शहर में तुझे अच्छी आराम की जगह दिला दूंगा।'

जसमा समझ गई कि इसने पहले जो प्रलोभन दिया था, उसमें न फँसती देख अब और बड़े प्रलोभन में फाँसना चाहता है। मस्तक से विचार करने वाले के लिए राजा की बात ठीक हो। सकती है। मस्तक आराम ढूंढता है, लेकिन हृदय कुछ और ही कहता है। आधुनिक शिक्षा ने मस्तिक का विकास चाहे किया हो, मगर हृदय के विचारों को नष्टप्राय कर दिया है।

राजा की बात सुनकर जसमा बोली—कहां तो प्रकृति की स्वच्छन्द लीला का धाम, स्वभाव से सुन्दर, आनन्दायक जङ्गल और कहाँ निगोड़ा नगर जहाँ गन्दगी की सीमा नहीं! जिस प्रकार गर्मी के मारे कीड़े-मकोड़े निकल कर रेंगते हैं, उसी प्रकार नगरों के तग मार्गों में मनुष्य फिरते हैं। जंगल में मंगल रहता है। जगल सरीखी स्वच्छ वायु और विस्तृत स्थान शहर में कहाँ? जंगल की अपेक्षा नगर अच्छा होता तो बड़े-बड़े महात्मा नगर छोडकर जंगल

में क्यों रहते ? रामचन्द्रजी वन-वास करने के कारण ही इतने प्रसिद्ध हुए। अगर वह नगर में ही रहे होते तो उन्हें कौन पूछता ? अपनी नागरिक सभ्यता प्रदान कर हमें असभ्य बनाने का अनुग्रह हम पर न कीजिये। हमारा बिगाड़ हमें प्रिय है और आपका सुधार आपको मुबारिक हो! हमारी दृष्टि में आपके सुधार से हमारा बिगाड लाख दर्जे श्रेष्ठ है।'

भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति का निर्माण कहाँ हुआ है ? जंगल में या नगर में ? जंगल ने भारतवर्ष को जो अनुपम विभूतियाँ प्रदान की हैं, वह सारे संसार में भारत का गौरव बढ़ाने वाली हैं। जंगलों ने एक से एक उच्चकोटि के महापुरुष विश्व को दिये हैं। जंगल ने दर्शनशास्त्र दिया, आध्यात्मवाद दिया, विज्ञान दिया, कला कौशल दिया और क्या नहीं दिया ? मनुष्य समाज में अगर कोई उत्तमता है तो वह जंगल की ही देन है। जंगल की बदौलत ही ज्ञान का सूर्य चमका है। जंगल ने अन्धों को प्रकाश दिया है। जंगल के साथ नगर की क्या तुलना ? जहाँ बाहर की घोर अस्वच्छता से भी अधिक अस्वच्छता दिलों में भरी रहती है। जहां मुफ्त में खून चूसने वाले खटमल बसते हैं, जहाँ स्वार्थ-लिप्सा, झूठ, कपट और दगाबाजी का बाजार लगा रहता है, ऐसे नगर, जंगल का मुकाबिला नहीं कर सकते। कहां जंगल की अनुपम शक्ति और कहाँ नगर का क्षोभजनक कोलाहल! कहाँ जंगल का नैसर्गिक सौन्दर्य और कहां नगर की फीकी और प्राणहीन सुन्दरता का दिखावा! कहां वन्य कुसुमों से सुगन्धित जंगल की वायु और कहां मोरियों और गटरों की बदबू से सनी हुई नगर की घबराहट पैदा करने वाली वायु! एक जगह नरक का आभास मिलता है और दूसरी जगह स्वर्गीय दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं।

राजा जसमा का उत्तर सुन पशोपेश में पड़ गया। उसने सोचा—जसमा इस फन्दे में भी नहीं फँसी। अब उसने एक नया तरीका अख्तियार किया।

राजा ने कहा—'जसमा! जान पड़ता है, तेरी बुद्धि बिगड़ी हुई है। गँवारों का दिमाग ही उलटा होता है। उन्हें सीधी बात भी उलटी मालूम होती है। गँवारों के साथ रहती-रहती तू भी गँवार हो गई है। इसी कारण अधिक मनुष्यों को देखकर तुझे घबराहट होती है। अधिक मनुष्यों में रहना बड़े भाग्य से मिलता है। शहरों का वास बहुत उपयोगी होता है। तू मगज की हलकी है। बन्दर क्या जाने अदरख का स्वाद! तू जंगल की रहने वाली, शहरों के मजे क्या समझ सकती है? जंगल जंगली जानवरों के बसने की जगह है। तेरे लायक तो पाटन जैसा शहर ही है। तू चल। शहर में रहने के लिए तुझे बहुत बढ़िया स्थान दिला दूँगा।

उत्तर में जसमा ने कहा—'आप मेरी ढिठाई ही समझ लें कि मैं आपको उत्तर देने का साहस कर रही हूँ। लेकिन सौ बात की एक बात यह है कि जैसे आपको नगर प्रिय है, वैसे ही मुझे जंगल प्रिय है। शहरों के आदमी जैसे मैले मनके होते हैं, जंगलके नहीं होते।'

बड़े-बड़े शहर पापके किले बन रहे हैं। चोर, जुआरी, भंगेड़ी, गंजेड़ी, शराबी आदि सभी प्रकारके विकारी मनुष्य शहरों में होते हैं। शहर में बहुत-से लोग विकारों से भरे हुए ही सम्मिलित होते हैं। देहात में सोने-चाँदी की चीज पड़ी मिल जायगी, तो देहाती आदमी उसके मालिक के पास पहुँचाने की इच्छा करेगा, लेकिन नगर के लोग छोटी से छोटी चीज के लिए भी हत्या जैसा क्रूर

कर्म करने पर उतारू हो जाते हैं। ग्रामों की अपेक्षा नगरों में बीमारियाँ ज्यादा होती हैं। डाक्टरों की राय से बीमार लोग जंगल में रहने के लिए जाते हैं।

जसमा कहती है—'जैसे नगरों के मार्ग संकीर्ण होते हैं, उसी प्रकार वहाँ के निवासियों के हृदय भी संकीर्ण होते हैं। जैसे शहरों में बदबू होती है, उसी प्रकार वहाँ के लोगों के हृदय में भी वासनाओं और विकारों की बदबू होती है। आप कहते हैं—जंगल पशुओं के रहने की जगह है पर नगर में क्या नर-पशु नहीं रहते? जंगल महात्माओं का प्रिय आवास नहीं है? खैर, मैं, जंगल में रहना ही पसन्द करती हूँ। मुझे जंगल प्रिय है। आपको जंगल बुरा लगता है यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। जहर के कीड़े जहर में रहना ही पसन्द करते हैं।

राजा—'जसमा, तू बड़ी चतुर है। तेरी बुद्धि तारीफ के लायक है। मगर जान पड़ता है कि तूने शहर की गलियाँ ही देखी हैं मेरा राज-दरबार नहीं देखा। चल कर देख तो सही, वह कितना स्वच्छ, भव्य और विशाल है। राजमहल कितने सुन्दर बने हुए हैं। कैसा सुन्दर बगीचा लगा है। तुझे इतना बढ़िया महल रहने को मिल जाय तो क्या हर्ज है?'

जसमा—'महाराज! जंगलके सामने बगीचा क्या चीज है! जंगल प्राकृतिक रचना है और बगीचा में बनावट होती है। सूर्यके सामने जैसे तारे फीके दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार जंगल के सामने बनावटी बगीचे मालूम होते हैं। जो जंगल में नहीं रह सकता हो, वह भले ही बगीचे में जाय राजमहल में निवास करे।

मुझे बाग या महल की आवश्यकता नहीं। प्राकृतिक जंगल को छोड़ कर नकली बगीचे में रहना कौन पसन्द करेगा ? मैं असली जंगल में ही भली हूँ।'

राजा—'इतनी ज़िद ! मैं गुजरात का राजा हूँ और तू एक मामूली मजूरिन है। मेरे सामने इस प्रकार की बातें करते तुझे शर्म मालूम नहीं होती ? तू मेरा कहना मान ले। जंगल में रह कर अपने सुन्दर शरीर का नाश मत कर। शहर में चल। वहाँ तुझे मृदंग के मीठे स्वर और गान की मधुर तान सुनने को मिलेगी।'

जसमा में जो शक्ति थी, वह आज हिन्दुस्तान में होती तो हिन्दुस्तान कौन जाने कैसा देश होता ! जहाँ प्रलोभन है वहाँ शक्ति और साहस कहाँ ? विदेशी वस्तुओं के आकर्षण में भारतीय जनता बुरी तरह लुभा गई है। आज यह दशा है कि जिसके घर में विलायती वस्तुएँ नहीं, वह घर नहीं—जंगल माना जाता है। अगर सामान्य हिन्दुस्तानियों की तरह जसमा लोभ में पड़ जाती तो उसके सतीत्व की अनमोल निधि सुरक्षित रहती ? हर्गिज़ नहीं। आज के लोग फैशन की फाँसी में बुरी तरह फँस गये हैं।

गले में फाँसी पड़ने पर ही मदारी का बन्दर उसकी उंगली के इशारे पर नाचता है। जंगल का बन्दर मदारी के नचाने पर क्यों नहीं नाचता ? कारण यही है कि उसके गले में फाँसी नहीं पड़ी है।

आज करोड़ों रुपये फैशन के निमित्त बर्बाद हो रहे हैं और देश की सम्पत्ति विदेशों में चली जा रही है। बच्चों को नशा करते देखकर विचार आता है—इन बालकों का जीवन किस प्रकार सुधरेगा ? आज की शिक्षा कितनी दूषित है कि वह बालकों के जीवन-

सुधार की ओर जरा भी लक्ष्य नहीं देती। मगर यह सब कहे कौन? अगर कोई कहता भी है तो वह राजद्रोही समझा जाता है।

सिद्धराज से जसमा कहती है–'तुम्हारे गायनों और वाजों मे विष भरा है, मेरा मन उस विष की ओर नहीं जाता। मुझे तो जगल में रहने वाले मोर, पपीहा और कोयल की मीठी ध्वनि ही भली लगती है। मेरे कान इन्हीं की मधुर टेर के अभ्यासी हैं।'

कोयल को चाहे सोने के पींजरे में रक्खो और उत्तम से उत्तम भोजन दो, फिर भी वह आनन्दविभोर होकर नहीं बोलेगी। उसकी मस्त टेर आम की मंजरी पर ही सुनाई देगी। वह परतन्त्र होकर नहीं बोलेगी, स्वतन्त्र होकर ही कूकेगी।

जसमा कहती है–'कहा तो मोर, पपीहा और कोयल का निसर्ग-सुन्दर मधुर गान और कहाँ निर्जीव बाजों की आवाज! मोर, पपीहा और कोयल की अमृतमयी ध्वनि में जो आकर्षण है, जो मनोहरता है, मिठास है, वह नकली गीतों मे कहाँ है? मुझे तो इन पक्षियों की बोली ही प्यारी लगती है महाराज, मैं जगली और गँवारिन जो ठहरी।'

मोर, पपीहा और कोयल की टेर से आज तक किसी में कोई बुरी बात पैदा हुई है?

'नहीं।'

और वैश्या के नाचों से कोई सुधरा है?

'नहीं।'

जसमा का निर्भीक और निश्चित उत्तर सुनकर भी सिंद्धराज ने हार न मानी। वह कहने लगा—'पगली जसमा! मेरी बात

पर भली भाँति विचार कर देख। क्यों इस जंगल में अपना सुन्दर जीवन वृथा बर्बाद कर रही है! तुझे अत्यन्त सुन्दर महल रहने को मिलेगा। बहुत सी दासियाँ तेरा हुक्म बजाने को तैयार रहेंगी। मेरे पास हाथी, घोड़े, रथ आदि सभी कुछ है। वह सब तेरे ही होंगे। तेरा अच्छा स्वभाव देखकर ही तुझ से आग्रह करता हूँ। ऐसे स्वभाव वालों से प्रीति करना राजाओं का धर्म है।

राजा की नीयत को जसमा पहले ही ताड़ गई थी, अब उसके वाक्यों से वह एकदम स्पष्ट हो गई। जसमा बोली—'महाराज! मुझे महलों की आवश्यकता नहीं है मुझे झोंपड़ी ही बस है। मैंने महलों पर चढ़ना सीखा ही नहीं। मैं स्वयं अपने पति की दासी हूँ। मुझे और दासियों का क्या करना है? दासी होने के साथ मैं अपने पति की स्वामिनी हूँ। ऐसी दशा में दासियों की स्वामिनी बनकर क्या करूँगी?

सिद्धराज—ओढन, चलो। क्यों सूखी-सूखी रोटियां पर गुजर करती है? मैं तुझे मेवा, मिष्टान्न और षट-रस भोजन दूँगा। तू जानती है, मैं गुजरात का स्वामी हूँ। असीम सम्पत्ति और ऐश्वर्य मेरे यहाँ बिखरा पड़ा है। सोच ले। ऐसा अवसर फिर न मिलेगा अभी राजमहल का द्वार तेरे लिए खुला है, जिस के लिए अप्सरा भी तरसती होंगी।'

जसमा—आप बड़े दयालु हैं। इसी कारण मुझे पकवान और उत्तम भोजन खिलाना चाहते हैं। मगर मुझ अभागिनी के भाग्य में यह सब कहा है? मेरे पेट ने तो मक्की की घाट खा जानी है। वह पकवानों को पचा नहीं सकता। मुझे राब और

दुनिया भला। पकवान और मेवा-मिष्टान्न आपको मुबारिक हो। आपके पास हाथी है, घोड़े हैं, मगर मैं उन पर सवारी करने में डरती हूँ। कहीं गिरकर मर गई तो? मेरे लिये तो भूरी भैंस ही भली है, जो दूध-दही देती है और हम सब आनन्द के साथ खाते हैं।'

संसार का काम घोड़े से चलता है या भैंस से?

'भैंस से।'

लेकिन असल बात को लोग भूल जाते हैं। इसी कारण लोग घोड़े को पसन्द करते हैं।

सिद्धराज—क्या तुम ऐसे फटे-पुराने और मोटे कपड़े पहनने के लिए जन्मी हो? मैं ऐसे मुलायम और बारीक वस्त्र दूँगा कि तुम्हारा एक रोम भी छिपा न रहेगा। तुम्हें हीरा और मोती के सुन्दर गहने पहनने को मिलेंगे।'

जो स्त्रियाँ शील को ही नारी का सर्वोत्तम आभूषण समझती हैं, उनके मन में बढ़िया वस्त्र और हीरा-मोती के आभूषणों की क्या कीमत हो सकती है? उन्हें इन्द्राणी बना देने का प्रलोभन भी नहीं गिरा सकता। शील का सिंगार सजने वाली के लिए यह तुच्छ—अति तुच्छ है। सच्ची शीलवती अपने शील का मूल्य देकर कदापि उन्हें लेना नहीं चाहेगी।

और बारीक कपड़े! निर्लज्जता का साक्षात् प्रदर्शन है कुलीन स्त्रियों को यह शोभा नहीं देते। खेद है कि आजकल बारीक वस्त्रों का चलन बढ़ गया है। यह प्रथा क्या आप अच्छी समझते हैं?

'नहीं।'

मगर आज तो यह बडप्पन का चिह्न बन गया है। जो जितने बड़े घर की स्त्री, उसके उतने ही बारीक वस्त्र! बडप्पन मानो निर्लज्जता में ही है? क्या बारीक वस्त्र लाज ढँक सकते हैं? इन बारीक वस्त्रों की बदौलत भारत की जो दुर्दशा हुई है, उसका बयान नहीं किया जा सकता।

गहनों और वस्त्रों का लालच स्त्रियों के लिए साधारण नहीं है। लेकिन जसमा साधारण स्त्री भी नहीं है। वह कहती है–मुझे बारीक कपड़े नहीं चाहिए। मेरे शरीर पर तो खादी के कपड़े ही ठहर सकते हैं। बारीक कपड़े पहन कर मैं मजदूरी कैसे कर सकती हूँ?

मोटे कपडे मजदूरी करना सिखाते हैं और महीन कपड़े मजदूरी करने से मना करते हैं। महीन कपडा पहनने वाली बाई अपना बच्चा लेने में भी संकोच करती है, इस डर से कि कहीं कपड़ों में धूल न लग जाय। इस प्रकार बारीक वस्त्रों ने सन्तान-प्रेम भी छुड़ा दिया है।

जसमा कहती है–'मुझे न बारीक वस्त्रों की ही आवश्यकता है, न हीरों और मोतियों की ही। हीरा मोती पहनने से तो जान का खतरा बढ़ जाता है। मेरा पति आभूषणों के बिना ही मुझे प्रेम करता है। फिर और सिंगार की मुझे क्या आवश्यकता है? मैं अपने पति को ही प्रसन्न रखना चाहती हूँ। मुझे औरों की प्रसन्नता से कोई मतलब नहीं।

राजा सभी प्रकार के प्रलोभन देकर भी अपने उद्देश्य में सफल न हो सका। उसने अनेक फन्दे फैलाये, फिर भी शिकार

न फँसा। तब कुछ-कुछ निराश भाव से राजा ने कहा—'तू जिस पति को प्रसन्न करना चाहती है, उसे दिखा तो सही। कौन है तेरा पति? देखूँ वह कैसा है?'

बड़े-बड़े महलों में और बड़ी बड़ी हवेलियों में रहने वालों के लिए दाम्पत्य-प्रेम का क्या मूल्य? दाम्पत्य प्रेम की कीमत जंगल वाले ही जानते हैं। सीता और राम ने अपने दाम्पत्य प्रेम की वृद्धि जंगल में ही की थी। विषय-भोग के कीड़े दाम्पत्य-प्रेम की पवित्रता को क्या समझेंगे!

जसमा ने कहा—'वह जो कमर कस कर काम कर रहा है, जिसके हाथ में कुदाली है, जो अपने साथियों को साहस बँधाता हुआ मिट्टी खोद रहा है और जो मिट्टी खोदने में सब से आगे है, जिसकी कुदाली की चोट से पृथ्वी काँपती है और जिसके सिर पर फूल गुँथे हैं, वही मेरा पति है। मैंने उसके सिर पर फूल गूँथ दिये हैं, जिससे थकावट के समय उसे विश्राम मिले।

जसमा के पति का नाम टीकम था। टीकम की ओर देख कर सिद्धराज ईर्षा की आग से जल-भुन गया। उसने जसमा से कहा—बस, यही तेरा पति है! कौवे के गले में रत्नों की माला! उस मिट्टी खोदने वाले मजूर के लिए ही तू मेरा अपमान कर रही है? हंसनी कौवे के पास नहीं सोहती जसमा! हंसनी की शोभा हंस के साथ साथ रहने में ही है। तू मेरे महल में चल। तेरी शोभा महलों में बढ़ेगी। तेरे पति को तुझ पर विश्वास भी नहीं है। देख न, तेरी ही तरफ वह टेढ़ी-टेढ़ी नजरों से देख रहा है। उसकी नजर से साफ मालूम होता है कि उसका तेरे ऊपर न प्रेम है,

न विश्वास ही है। ऐसा आदमी तेरी कद्र क्या जाने ? ऐसे अविश्वासी पति के साथ रहना घोर अपमान है । तू चिन्ता मत कर। तुझे रानी बना दूंगा।

सचमुच टीकम इसी ओर देख रहा था। वह सोचता था–'राजा मेरी स्त्री से क्या बात कर रहा है ?'

राजा ने साम और दाम से काम लेने के बाद भेदनीति से काम निकालने की चेष्टा की। मगर जसमा को फुसलाना बालू से तेल निकालना था।

जसमा कहने लगी–'राजा साहब, कहावत मशहूर है–'सांच को आँच नहीं।' सत्य सदैव निर्भय होता है। मेरे पति को मुझ पर पूर्ण विश्वास है। मैं अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को भाई के समान समझती हूँ। पारस्परिक अविश्वास की भावना तो राज-घरानों की ही सम्पत्ति है। हम दरिद्रों को यह सम्पत्ति कहाँ नसीब होती है ? अगर मुझे अपने पति पर अविश्वास हो तो उसे मुझ पर भी अविश्वास हो सकता है। मगर ऐसा नहीं है। मेरा पति आपको देख रहा है, क्योंकि आपकी दृष्टि बिगड़ी हुई है।'

राजा ने देखा, भेदनीति भी यहाँ कारगर नहीं हो सकती। तब सिद्धराजने कड़क कर कहा–'जसमा, होश सँभाल। तू जानती नहीं मैं कौन हूँ ? बड़े-बड़े शूरवीर, राजा और महारथी भी मेरे चरणों में सिर झुकाते हैं और मेरी भौंह चढ़ने ही काँप उठते हैं। उन्हें भी मेरे हुक्म के खिलाफ जबान खोलने का साहस नहीं हो सकता। फिर तू किस खेत की मूली है ? तेरे पास क्या बल है, जिसके बूते पर तू मेरा हुक्म टाल रही है ? आखिर तो मजदूरी

करने वाले की ही स्त्री ठहरी न ! तू किस मुँह से मेरे सामने बोलती है ? एक बार फिर चेतावनी देता हूँ । विचार कर देख । व्यर्थ समय बर्बाद न कर । क्या तेरे कहने से राजा अपना हठ छोड़ सकता है ?'

भेदनीति ने काम न दिया तो राजा ने दण्डनीति ग्रहण की । साधारण स्त्री राजा की इस धमकी से दहल जाती । उसका हृदय काँप उठता । वह विवश हो जाती या आँसू बहाने लगती । मगर धन्य जसमा ! वह वीरांगना तनिक भी विचलित न हुई । उसने उसी प्रकार कड़क कर उत्तर दिया—'बड़े-बड़े सूरमाओं को अपने चरणों में झुकाने वाला वीर एक मजूरिन के तलुवे चाटने को तैयार हो जाय, यह आश्चर्य की बात नहीं तो क्या है ? महाराज, आपकी बहादुरी का इससे बढ़ कर और क्या सबूत हो सकता है ? हां, मैं जानती हूँ कि आप गुजरात के स्वामी हैं और मैं असहाय स्त्री हूँ । मैं यह भी जानती हूँ कि रावण लंका का प्रचण्ड प्रतापी राजा था और उसके पंजे में पड़ी सीता असहाय थी । मगर सीता ने अपना धर्म नहीं छोड़ा । आप पूछते हैं—मेरे पास क्या बल है ? मेरे पास सतीत्व की शक्ति है, जो तीन लोक में अजेय है और जिस शक्ति की बदौलत सीता आज भी अमर है ।

आपने बड़े-बड़े राजाओं को वश में किया, यह ठीक है । किन्तु आपका बल काया और माया पर ही तो है । आत्मा इन दोनों से जुदी है । मेरे गुरु ने यह बात मुझे पहले से ही बता रक्खी है ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

—गीता, २, २२।

आत्मा उसी प्रकार शरीर बदलता है, जिस प्रकार पोशाक बदली जाती है। शरीर का नाश है, लेकिन आत्मा का नाश नहीं है। मेरे लिए जीवन-पर्यन्त वही पति है। वह अच्छा है तो मेरा है और बदसूरत है—मजूर है तो भी मेरा ही है। प्रेम से उसके साथ विवाह किया है, सो उसके प्रेम में प्राण भी दे सकती हूँ। संसार की कोई भी शक्ति उसे मेरे हृदय से अलग नहीं कर सकती।

राजाजी, आपको अपने उत्तरदायित्व का विचार करना चाहिए। आप प्रजाके पालक हैं, प्रजाके पिता हैं, प्रजाके आदर्श हैं। प्रजा, राजा का अनुकरण करती है। 'यथा राजा तथा प्रजा।' सदाचार की सीमा की रक्षा करना आपका उतना ही आवश्यक कर्त्तव्य है, जितना राज्य की सीमा की रक्षा करना। बल्कि सदाचार की रक्षा, राज्यरक्षा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। आप सदाचार को तिलाजलि दे देंगे तो राज्य भर में दुराचार का दौरदौरा हो जायगा। रक्षक ही भक्षक बन जाएँगे तो पृथ्वी कैसे स्थिर रहेगी? अतएव आप अपने पद का विचार कीजिए। न्याय-नीति का त्याग न कीजिए। आप मुझे होश में आने को कहते हैं लेकिन होश में आने की आवश्यकता आप को ही है। मैं होश में ही हूँ अब क्या होश में आऊँगी?

यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है। मैंने अब तक आपसे बातचीत की है लेकिन अब मैं समझ गई कि आप मेरे पति के शत्रु

हैं। मैं अपने पति के शत्रु का मुँह नहीं देखना चाहती। इसलिए अब मैं आपके सामने घूँघट निकालती हूँ। अब मैं आप से कोई बात नहीं करूँगी।

यह कहकर जसमा ने राजा के सामने घूँघट निकाल लिया। आजकल घूँघट की प्रथा निराली हो गई है। स्त्रियाँ अनजान और गुण्डों-लुच्चों के आगे तो घूँघट डालती नहीं, किन्तु देवर, जेठ आदि परिचित लोगों के सामने, जो उन्हें अपनी बहिन-बेटी समझते हैं, लम्बा घूँघट काढ़ती हैं। पहले दुष्ट और दुराचारियों के सामने घूँघट निकाला जाता था, जैसे जसमा ने सिद्धराज को दुराचारी समझ कर उसके सामने घूँघट निकाल लिया।

सूरदास की कारी कमरिया, चढ़े न दूजो रंग।

यही कहावत यहाँ चरितार्थ हुई। जसमा की तेजस्वी भाषा में कही हुई न्याय और धर्म से संगत बातों का काम से कलुषित हृदय वाले सिद्धराज पर तनिक भी प्रभाव न पड़ा। वह जसमा की ओर से सर्वथा निराश हो गया।

निराशा की अवस्था में मनुष्य प्राय, भयंकर निश्चय कर बैठता है। सिद्धराज को अपना अपमान भी काँटे की तरह चुभ रहा था। वह जसमा का लोभ भी संवरण नहीं कर सकता था। उसने निश्चय किया—'जसमा को जबर्दस्ती पकड़ मंगवाना चाहिए।'

जसमा अपना भविष्य साफ-साफ ताड़ चुकी थी। उसे अपने अपहरण की आशंका हो चुकी थी। ज्यों ही राजा नगर की ओर रवाना हुआ कि जसमा ने अपने पति को बुलाकर सारा

वृत्तान्त कह सुनाया। उसने यहाँ न ठहर कर तत्काल चल देने के लिये भी आग्रह किया।

टीकम अपने साथी ओड लोगों के साथ पाटन से रवाना हुआ। राजा को पता चला कि जसमा और उसके साथी ओड भाग गये हैं। वह घोड़े पर सवार होकर जसमा को पकड़ने दौड़ा।

जसमा और उसके साथी कुछ ही दूर पहुँचे थे कि राजा ने उन्हें रोक लिया। वह बोला 'जसमा को मुझे सौंप दो। मैं उसे चाहता हूँ।

ओड़ निशस्त्र थे, मगर कायर नहीं थे। भला कौन जीवित पुरुष आँखों के सामने स्त्री का अपमान होते देख सकता है? ओड़ लोगों ने राजा का सामना किया। राजा ने बहुत से ओडों के सिर काट डाले। जसमा के पति टीकम ने भी अपनी पत्नि की रक्षा करने में प्राण होम दिये। अन्त में जब जसमा ने देखा कि अब मैं असहाय हूँ और राजा के अपवित्र स्पर्श से मेरा शरीर अपवित्र हो जाने की सभावना है तो उसने अपने पेट में कटार भौंकते हुए कहा—'राजकुल-कलंक! कायर! ले, मेरा बलिदान ले। मेरे हाड़ मास को अपने महल में सजा लेना। यह तेरी लम्पटता की, तेरी कामुकता की और तेरी नीचता की गौरव-गाथा सुनाता रहेगा।'

पतिव्रता जसमा ने अपने प्राण क्या दिये, जगत् का एक उज्जवल आदर्श प्रदान किया। उसने अपने सतीत्व की रक्षा ही नहीं की, नारी के गौरव की और सन्मान की भी रक्षा की। वह मरकर चिर-अमर हो गई। जसमा का जस इतिहास के पृष्ठों पर

सुनहरे अक्षरों में चमक रहा है। आज भी लोग इससे प्रेरणा पाते हैं।

कहते हैं—सती जसमा ने मरते मरते सिद्धराज को शाप दिया था—'राजा, तेरा तालाब खाली रहेगा और तेरा वंश नहीं चलेगा।'

यह सब देख और सुनकर राजा का दिल दहल गया। उसे अपनी करतूत पर पछतावा होने लगा। तालाब खाली रहा।

जसमा ने कौन सा शास्त्र पढ़ा था और किस गुरु ने उसे शिक्षा दी थी यह नहीं कहा जा सकता। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वह सती पतिव्रता थी और पतिव्रत धर्म का मर्म उसने भली भांति समझा था।

मैंने व्याख्यान में कहा था—

श्री जिन मोहनगारो छे,
जीवन प्राण हमारो छे।

इस प्रार्थना में बतलाया गया है कि राजीमती के प्यारे नेमीश्वर हमें भी प्यारे लगते हैं। जसमा ने अपने पति टीकम के लिए गुजरात के प्रतापी राजा को भी ठुकरा दिया, तो क्या हमारा भगवान टीकम से छोटा है? 'नहीं।'

तो फिर उस भगवान को मोहनगारो बनाकर संसार के कल्पित सुखों को आप भी लात क्यों न मार दें? भगवान् को मोहनगारा मान कर धर्म का पालन करोगे तो परम कल्याण के भाजन बनोगे।

२

ईश्वर की खोज

श्रीमहावीर नमूं नर नाणी ।
शासन जेहनो जाण रे प्राणी ॥

यह चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर की प्रार्थना है। आज जो संघ विद्यमान है वह भगवान् महावीर का ही है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, यह चतुर्विध संघ भगवान् महावीर ने ही स्थापित किया है।

आज भगवान् महावीर स्थूल रूप में हमारे सामने नहीं हैं, लेकिन जिसे भगवान् महावीर पर श्रद्धा है, उसे समझना चाहिए कि चतुर्विध संघ में ही भगवान् महावीर हैं। भगवान् तीर्थङ्कर थे और तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थंकर कहलाते हैं। आज तीर्थंकर नहीं हैं लेकिन उनके बनाये तीर्थ मौजूद हैं। जिस कारीगर का बनाया हुआ किला विशाल और सुदृढ है तो निश्चय ही वह कारीगर बड़ा विशाल होगा। जिसका संघ आज हजारों वर्ष की नींव हो जाने पर भी मौजूद है, उस संघ का संस्थापक कोई होना ही चाहिए और इस प्रकार महावीर भगवान् संघ के रूपमें प्रत्यक्ष हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से हम में और भगवान् में समय का बहुत अन्तर है, लेकिन गौतम स्वामी तो भगवान् महावीर के समय में ही थे। भगवान ने तो गौतम से भी कहा था—

'न हु जिणे अज्ज दीसइ ।'

अर्थात्–गौतम ! आज तुझे जिन नहीं दीखते, (लेकिन तू इसके लिए सोच मत कर । उनके द्वारा उपदिष्ट स्याद्वाद मार्ग तो तेरी दृष्टि में है ही । तू यह देख कि यह मार्ग किसी अल्पज्ञ का बतलाया नहीं हो सकता । तूने न्यायमार्ग प्राप्त किया है, अतएव जिन को न देख पाने की परवाह मत कर । उनके उपदिष्ट मार्ग को ही देख कि वह सच्चा है या नहीं ? अगर उनका मार्ग सच्चा है तो जिन हैं ही और वह सच्चे हैं ।)

प्रश्न होता है, भगवान् स्वयं मौजूद थे फिर उन्होंने गौतम स्वामी से क्यों कहा कि आज तुझे जिन नहीं दिखलाई देते ? इस कथन का अभिप्राय क्या है ?

इस गाथा का अर्थ करते हुए डाक्टर हर्मन जेकोबी भी गड़बड़ में पड़ गये थे । अन्त में उन्होंने यह गाथा प्रक्षिप्त (बाद में मिलाई हुई) समझा । उनकी समझ का आधार यही था कि खुद भगवान् महावीर बैठे थे, फिर वह कैसे कह सकते कि आज तुझे जिन नहीं दीखते ? इस कारण उन्होंने लिख दिया कि यह गाथा प्रक्षिप्त है ।

डाक्टर हर्मन जेकोबी की दौड़ यहीं तक रही, लेकिन वास्तव में यह गाथा प्रक्षिप्त नहीं है, सूत्रकार की ही मौलिक रचना है । भगवान् महावीर केवलज्ञानी जिन थे और गौतम स्वामी छद्मस्थ थे । केवलज्ञानी को केवलज्ञानी ही देख सकता है । छद्मस्थ नहीं देख सकता । अगर गौतम स्वामी, जो छद्मस्थ थे-केवलज्ञानी को देख

लेते, तब तो वह स्वयं उसी समय केवलज्ञानी कहलाते। आचारांग सूत्र में कहा है—

'उवएसो पासगस्स नत्थि।'

अर्थात्—सर्वज्ञ के लिए उपदेश नहीं है।

इस गाथा से और ऊपर की गाथा से प्रकट है कि गौतम स्वामी उस समय छद्मस्थ थे। इस कारण उन्हें पूर्ण करने के लिए भगवान् ने उपदेश दिया है। भगवान् के कथन का अभिप्राय यह है कि—हे गौतम! तेरी छद्मस्थ-अवस्था के कारण मैं तुझे केवलज्ञानी नहीं दीखता। मेरा जिनपना तुझे मालूम नहीं होता। क्योंकि शरीर जिन नहीं है और जिन शरीर नहीं है।

जिनपद नहीं शरीर को, जिनपद चेतन मांय।
जिन वर्णन कछु और है, यह निज वर्णन नांय॥

साधारण जनता नेत्रों से दिखाई देने वाले अष्ट महाप्रातिहार्य को जिन समझती है, लेकिन यह महाप्रातिहार्य जिन नहीं हैं। ऐसे महाप्रातिहार्य तो मायावी-इन्द्रजालिया भी अपनी माया में रच सकते हैं। वास्तव में जिन तो चेतना है और उस चेतन रूप जिन को जिन ही प्रत्यक्ष से देख सकते हैं।

इस कथन का आशय यह नहीं है कि जिन भगवान् का शरीर भी नहीं दीखता। इसका ठीक आशय यही है कि जिन दशा वास्तव में आत्मा की ही होती है और उसे केवलज्ञानी के सिवाय दूसरा कोई नहीं देख सकता।

तब प्रश्न उपस्थित होता है कि साधारण आदमी उस पर श्रद्धा कैसे करे? जिन को हम पहचान नहीं सकते। ऐसी अवस्था

में कोई भी हमें कह सकता है कि मैं जिन हूँ। जब हमें जिन दिखाई नहीं देते तो हम किसे वास्तविक जिन मानें और किसे न मानें?

इस विषय में शास्त्र कहते हैं-बिना प्रमाण के किसी को जिन न मानना ठीक ही है, लेकिन जिन भगवान को पहचानने के लिए तुम्हारे पास प्रत्यक्ष प्रमाण का साधन नहीं है। जिन को केवली ही प्रत्यक्ष से जान सकते हैं। तुम छद्मस्थ हो, इसलिए अनुमान से निश्चय करना होगा। अनुमान प्रमाण से किस प्रकार निश्चय होता है, इसके लिए एक उदाहरण लीजिए—

एक आदमी यमुना नदी को बहती देखता है। वह प्रत्यक्ष से यमुना को बहती देख रहा है, लेकिन कालिन्दी कहलाने वाली और कालिंजर पहाड़ से निकलने वाली यमुना का उद्गमस्थान उसे नहीं दीखता। उसे यह भी नहीं दीख पड़ता कि वह किस तरह समुद्र में मिल गई है। इस प्रकार यमुना नदी सामने है, मगर उसका आदि और अन्त उसे नजर नहीं आता, सिर्फ थोड़ा-सा मध्यभाग ही दिखाई देता है। इस मध्यभाग को देखकर मनुष्य को अपनी बुद्धि लगानी चाहिए कि जब इसका मध्य है तो आदि और अन्त भी होगा ही। हाँ, अगर मध्यभाग भी दिखाई न दे और आदि अन्त मानने को कहा जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा एक अंश को देख कर दूसरे पर बिना देखे भी विश्वास करना न्याययुक्त है।

उदाहरण की यही बात गौतम स्वामी के लिए भी समझ लेना चाहिए। भगवान् कहते हैं—गौतम! तू मुझे जबर्दस्ती जिन मत मान। किन्तु जैसे यमुना को देख कर उसका उद्गमस्थान और संगमस्थान मान लिया जाता है, उसी प्रकार तू जिन के

उपदिष्ट मार्ग को देखकर अनुमान से जिन को स्वीकार कर । जिन का मार्ग तो प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है न ! तू श्रुतज्ञानी है । श्रुत-ज्ञानी, केवलज्ञानी को नहीं देख सकता । केवलज्ञानी ही केवल-ज्ञानी को देख सकता है । मैं जो उपदेश देता हू, वह केवलज्ञान का होने पर भी तेरे लिए श्रुतज्ञान का ही है, क्योंकि तू उससे अधिक नहीं देख सकता । लेकिन मेरा उपदेश पूर्ण है या अपूर्ण ? लौकिक है या अलौकिक ? साधारण है या असाधारण ? इत्यादि प्रश्नों पर विचार कर । अगर मेरा उपदेश श्रुतज्ञानी के उपदेश सरीखा ही हो, उसमें कुछ भी विशेषता नजर न आती हो तो भले ही मुझे केवली न मान, अगर कोई विशेषता मालूम होती हो—जो कि श्रुत-ज्ञानी के उपदेश में सभव नहीं है—तो मुझे केवली मान । मेरे केवली होने न होने का निर्णय तू आप ही करले ।

गौतम ! अगर मुझ पर तेरा विश्वास है, मेरे उपदेश की सत्यता तुझे अनुभव हो रही हो तो मेरा कहना मान । मेरा कहना यह है कि तू समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

'प्रमाद मत कर' यह भगवान् का वचन अत्यन्त गम्भीर है । गौतम स्वामी बेले-बेले का पारण करते थे । शरीर को तो मानो वह त्याग ही चुके थे । वह चौदह पूर्वों के ज्ञाता और सर्वाक्षर सन्निपाती थे । तप और सयम मे लीन रहते थे । ऐसी दशा में उन्हें समय मात्र का भी प्रमाद न करने का उपदेश देने की क्या आवश्यकता पड़ी ?

सर्वज्ञ के सामने गौतम स्वामी जैसे विशिष्ट श्रुत ज्ञानी और साधारण जीव समान ही हैं । उनका उपदेश सब के लिए समान है । गौतम आदि के लिए उपदेश न देकर वे दूसरों को

ही उपदेश दे, ऐसी बात नहीं है। यह बात दूसरी है कि भगवान् के उपदेश का जो सूक्ष्म रहस्य गौतम स्वामी ही ग्रहण कर सके थे, वह दूसरा ग्रहण न कर सका, फिर भी उपदेश तो सब के लिए समान ही था। उपदेश को ग्रहण करने की मात्रा तो श्रोता की अपनी शक्ति पर निर्भर करती है। सरोवर किसी को जल लेने से इन्कार नहीं करता, लेकिन जिसके पास जितना बड़ा पात्र होगा, वह उतना ही जल ग्रहण करेगा। इसी प्रकार भगवान् का ज्ञान-सागर सब के लिए है। जिसका जितना सामर्थ्य हो, उतना ग्रहण कर ले। गौतम अधिक ग्रहण कर सके, दूसरे लोग उतना न ग्रहण कर सके।

भगवान् ने गौतम को सबोधन करके कहा है कि एक समय मात्र भी प्रमाद मत करो। एक न्यायशील राजा यही कहेगा कि मेरा कानून प्रधान और प्रजा सभी के लिए समान है। अगर कोई कानून प्रधान के लिए न हो और सिर्फ प्रजा के लिए ही हो तो उस कानून को बनाने वाला राजा न्यायशील नहीं कहला सकता। न्यायशील राजा तो वही है जो सब के लिए समान कानून बनाता है। जब राजा अपने प्रधान से भी यही कहेगा कि मेरा कानून तुम्हारे लिए भी है, तब प्रजा आप ही काँप जाएगी। वह सोचेगी-प्रधान को भी कानून की मर्यादा पालनी पड़ती है तो हमारी क्या बिसात ! हमें तो पालनी ही पड़ेगी।

इसी प्रकार गौतम स्वामी में विशेष प्रमाद नहीं है, फिर भी भगवान ने उन्हें प्रमाद न करने की हिदायत की है। इससे हमें यह समझ लेना चाहिए कि भगवान ने यह बात हमारे लिए ही कही है। भगवान को गौतम स्वामी का जैसा ध्यान था वैसा ही सब का था।

भगवान् तीर्थङ्कर हैं। सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्-चरित्र तीर्थ है और चतुर्विध संघतीर्थ के आधार हैं। या यों कहिए कि जिसमें उपर्युक्त रत्नत्रय मिल गया वह तीर्थ है। जिसमें यह तीन रत्न नहीं हैं वह तीर्थ नहीं—हड्डियों का ढेर है।

आज भगवान् नहीं दीखते, लेकिन उनका उपदेश किया हुआ मार्ग आज भी दीख रहा है। उनके द्वारा स्थापित तीर्थ आज भी विद्यमान है। इसे देखकर ही गौतम स्वामी ने भगवान् को केवल ज्ञानी माना था। भगवान् का उपदेश किया हुआ मार्ग और स्थापित किया हुआ तीर्थ आज भी मौजूद है। इन्हें देखकर यह मानना चाहिए कि आज भी भगवान मौजूद हैं।

ईश्वर चर्म-चक्षु से नहीं दीखता। हाँ, ईश्वर का शरीर चर्म-चक्षु से भले ही दिखाई दे और दिखाई देता भी है, लेकिन ईश्वरत्व तो उसी को दीखेगा, जो स्वयं ईश्वर होगा। जो लोग ईश्वर को आँखों से ही देखना चाहते हैं और देखे विना उस पर विश्वास नहीं करना चाहते, वे भ्रम में पड़े हुए हैं। ईश्वर को देखने के लिए दिव्य दृष्टि की आवश्यकता है। दिव्य-दृष्टि प्राप्त होने पर ईश्वर का साक्षात्कार होता है। मगर जो लोग दिव्य दृष्टि प्राप्त करने के लिए योग्य साधना करना नहीं चाहते, फिर भी ईश्वर को देखना चाहते हैं, उनकी स्थिति बड़ी विचित्र है। उनका यह बालहठ ही कहा जा सकता है।

हमें अपने अनंत सामर्थ्य पर विश्वास रखते हुए भी मौजूदा असामर्थ्य को भूलना नहीं चाहिए। आत्मा में अनन्त ज्ञानशक्ति है, अनन्त दर्शनशक्ति है। आत्मा अनन्त वीर्य का भंडार है। किन्तु आज वह अप्रकट है। अतएव हमें ईश्वर द्वारा उपदिष्ट तत्त्व

को ही देखना चाहिए और यदि वह परिपूर्ण दिखाई दे तो उसके उपदेष्टा को भी परिपूर्ण समझ लेना चाहिए। इस प्रकार करने से ईश्वरीय मार्ग पर चलने की रुचि जाग्रत होगी और धीरे-धीरे ईश्वरत्व भी प्राप्त हो सकेगा। ईश्वरत्व प्राप्त होने पर ईश्वर दिखाई देगा। अथवा यह कहिए कि उस समय ईश्वर को देखने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

ग्रहण दो प्रकार से होता है—बुद्धि से और इन्द्रियों से। इन्द्रियों से देखकर ही अगर ईश्वर को मानने की इच्छा रक्खी जाय, तो बड़ी गड़बड़ी होगी। ईश्वर केवल बुद्धि गम्य है और वह भी विशिष्ट बुद्धिगम्य है।

जिस समय तुम भगवान् महावीर के उपदेश के मर्म को भलीभाँति जानोगे उस समय यह भी तुम्हें मालूम हो जायगा कि ऐसा उपदेश किसी अल्पज्ञ के द्वारा होना संभव नहीं है। यह ज्ञान ही तुम्हें भगवान का साक्षात्कार करायगा। इसी से ईश्वर की ईश्वरता पहचान पाओगे।

भक्तों का कथन है कि ईश्वर को ढूँढने के लिए इधर-उधर मत भटको पृथ्वीतल बहुत विशाल है और तुम्हारे पास छोटे-छोटे दो पैर हैं। इनके सहारे तुम कहाँ-कहाँ पहुँच सकोगे? फिर इतना समय भी तुम्हारे पास कहाँ है? ईश्वर को खोजने का ठीक उपाय यह नहीं है। मन को शान्त और स्वस्थ बनाओ। फिर देखोगे तो ईश्वर तुम्हारे ही निकट-निकटतर दिखाई देगा।

मो कों कहाँ तू ढूँढे, मैं तो हरदम तेरे पास में।
ना मैं मंदिर ना मैं मस्जिद ना काशी कैलाश में॥
ना मैं बैठूं अन्ज द्वारिका, मेरी भेट विश्वास में॥मोको॥

कस्तूरी मृग की नाभि में ही होती है। लेकिन मृग यह बात नहीं जानता और कस्तूरी खोजने के लिए इधर-उधर दौड़ता फिरता है। घास पानी को सूंघ-सूंघ कर उसमें कस्तूरी खोजता है। इस प्रकार कस्तूरी के लिए वह पागल होकर जगल-जगल भटकता फिरता है, उसे क्या मालूम है कि यह सुगध मेरे ही शरीर से आ रही है। इसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानी बनकर ईश्वर की खोज करने के उद्देश्य से ससार में भटकता फिरता है, लेकिन यह नहीं जानता कि ईश्वर जब मिलेगा तब अपने आप मे ही मिलेगा। उसकी भेट विश्वास में है। यह बात जैन सिद्धान्त तो कहता है, वेदान्त, उपनिषद और गीता सेभी यही कहते हैं। इसमें तर्क या सदेह को स्थान नहीं है। जहा सदेह आया, चित्त में चचलता उत्पन्न हुई कि ईश्वर दूर भाग जाता है।

जब तक कोई आप में अपने को पाता नहीं।
मोक्ष के मार्ग में हर्गिज कदम जाता नहीं ॥

ईश्वर को अपने आप में खोजो। जैसे प्रकाश से सूर्य जाना जाता है, वैसे ही भगवान के वचनो से भगवान को समझो। भगवान् के वचनों से प्रकाश लेकर उनमे बुद्धि लगाओ। यह देखो कि जिन भगवान का उपदेश पूर्ण है तो वह भगवान कैसे पूर्ण होगे।

ससार मे रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण की प्रकृति बनी रहती है। तमोगुण की वृद्धि होने पर रजोगुण और सतोगुण दब जाता है और आत्मा, महाशक्ति की उपेक्षा करके गड़बड़ मे पड जाता है। द्रौपदी के आख्यान से यह बात आपकी समझ में अच्छी तरह आ जायगी।

पाण्डवों के राजदूत बनकर जब श्रीकृष्ण कौरवों के पास संधि करने के लिए जाने लगे, तब द्रौपदी ने कृष्ण से कहा—'मैं नहीं जानती थी कि पुरुष इतने मानहीन, बुद्धिहीन और सत्वहीन होते हैं। लोग स्त्रियों को कायर बतलाते हैं, मगर पुरुषों की कलई खुल रही है। ऐसे पुरुषों से तो स्त्रियाँ ही अधिक बहादुर हैं।

फिर दुष्ट दुःशासन हुआ था मुदित जिनको खींचकर।
ले दाहिने कर में वही निज केश-लोचन सींचकर ॥
रख कर हृदय पर वाम कर शर-विद्ध हरिणी सी हुई।
बोली विकलतर द्रौपदी वाणी महा करुणामयी—
करुणासदन ! तुम कौरवों से संधि जब करने लगो।
चिन्ता व्यथा सब पाण्डवों की शान्ति कर हरने लगो ॥
हे तात ! तब इन मलिन मेरे मुक्त केशों की कथा।
है प्रार्थना मत भूल जाना, याद रखना सर्वथा ॥

द्रौपदी उग्र रूप धारण करके कृष्ण और पाण्डवों के सामने अपने हृदय के भाव प्रकट कर रही है। द्रौपदी का करुण-कथन सुन कर कृष्ण के रथ के घोड़े और समस्त प्रकृति भी जैसे स्तब्ध रह गई। सब लोग चकित हो गये। सोचने लगे-आज द्रौपदी अपने हृदय का भारी कथा शब्दों के मार्ग से कृष्ण के आगे उंडेल रही है।

दुःशासन द्वारा खींचे हुए केशों को अपने दाहिने हाथ में कर और बायाँ हाथ अपनी छाती पर रखकर द्रौपदी ने कृष्ण से कहा—'प्रभो ! आप संधि करने जाते हैं? और सिर्फ पाँच गाँव लेकर संधि करेंगे? ठीक है कौन ऐसा मूर्ख होगा जो विशाल राज्य में से केवल पाँच गाँव देकर संधि न कर लेगा? फिर आप सरीखे संधि कराने

वाले दूत जहाँ हैं, वहाँ तो कहना ही क्या है ? वहाँ संधि होने में शंका ही क्या हो सकती है ? आप संधि करके पाण्डवों की चिन्ता और उनके कष्ट हरने चले हैं, लेकिन, प्रभो ! दुष्ट दुःशासन का हाथ लगने के कारण मेरे मलीन बने हुए और खुले हुए यह केश क्या यों ही रहेंगे ? क्या यह केश दुःशासन के खींचने के लिए ही थे ? क्या इन केशों की कोई प्रतिष्ठा शेष रह गई है ? जिस समय दुःशासन ने मेरे केश खींचे थे, उसी समय मैंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक केश खींचने वाले के हाथ वहीं न उखाड़े जाएँगे तब तक मैं इन्हें न धोऊँगी न बाँधूँगी। क्या मेरे यह केश जन्म भर खुले ही रहेंगे ? क्या मेरी प्रतिज्ञा आजीवन पूर्ण न होगी ? अगर आप सत्य के पक्षपाती हैं तो पाण्डवों को युद्ध में प्रवृत्त कीजिए। अगर आप मुझे और पाण्डवों को प्रतिज्ञा-भ्रष्ट करना चाहते हैं तो भले ही संधि करने पधारिए।

दुःशासन का हाथ लगने के कारण द्रौपदी ने अपने केशों को भी मलीन माना, परन्तु आप क्या चर्बी लगे वस्त्र, हड्डी मिली शक्कर और माँस-मदिरा मिली औषध को भी मलीन मानते हैं? आप कॉडलीवर ऑयल-जो मछली के लीवर का तेल है, उसे भी मलीन नहीं मानते। अनेक आर्य और अहिंसा धर्मी कहलाने वाले लोग उसे भी पी जाते हैं। द्रौपदी को राज्य जाने का इतना दुःख नहीं था, जितना वस्त्र खींचने के समय हुआ था। वस्त्र खींचने से उसकी लज्जा जाती थी। मतलब यह हुआ कि वस्त्र लज्जा की रक्षा करने के लिए हैं। लेकिन लाज मोटे कपड़ों से रहती है। या बारीक वस्त्रों से ? मोटे कपड़ों से।

लेकिन आजकल तो बड़े घरानो की स्त्रियाँ कहती हैं–जाड़े (मोटे) कपड़े जाटनें पहनती हैं। हम भी वैसे ही पहनने-ओढ़ने लगेंगी तो उनमें और हममें क्या अन्तर रह जाएगा ?

द्रौपदी बाण से बिंधी हुई हिरनी की तरह रोने लगी। कहा है–

कह कर वचन यह दुःख से तब द्रौपदी रोने लगी।
नेत्राम्बु धारा पात से कृश अंग को धोने लगी॥
हो द्रवण करके श्रवण उसकी प्रार्थना करुणाभरी।
देने लगे निज कर उठाकर सान्त्वना उसको हरी॥

द्रौपदी अपनी आँखों के आसुओं से अपने दुबले शरीर को जैसे स्नान कराने लगी। हृदय के घोर संताप-संतप्त शरीर को मानो ठंडा करने का निष्फल यत्न करने लगी। निष्फल यत्न इसलिए कि उसके आँसू भी गरम ही थे और उनमें संताप मिटने के बदले बढ़ ही सकता था।

द्रौपदी की प्रार्थना सुन कर, कृष्ण का हृदय भी पिघल गया। फिर भी उन्होंने अपने को सँभाला और हाथ उठाकर वह द्रौपदी को सान्त्वना देने लगे।

द्रौपदी की बातों का उत्तर देना कृष्ण को भी कठिन जान पड़ा। कृष्णजी द्रौपदी की कही बातें सत्य मानते हैं, लेकिन क्या कृष्णजी को संधि की चर्चा करके धर्मराज से कह देना चाहिये कि–बस, अब संधि की बात मत करो। एक बार दूत भेज ही दिया था, अब ज्यादा पंचायत में पड़ने की जरूरत नहीं है। दुर्योधन दुर्जन है। वह यों मानने का नहीं। उससे कोई भी न्याययुक्त बात कहना ऊसर में बीज बोना है। अतएव समय न

खोकर लड़ाई की तैयारी करो ? द्रौपदी की बातों की सचाई समझते हुए भी बुद्धिमान कृष्ण ने ऐसा नहीं कहा। बल्कि वह द्रौपदी को सान्त्वना देने लगे। उन्होंने अपना ध्येय नहीं छोड़ा।

एक ओर संधि द्वारा शान्ति स्थापित करने की बात है और दूसरी ओर द्रौपदी का कहना मान कर युद्ध करने की। द्रौपदी की बात प्रबल दीखती है, लेकिन कृष्णजी महापुरुष थे। द्रौपदी के भाषण मे रजोगुण झलक रहा है, लेकिन धर्मराज की बात सतोगुणी है और कृष्ण द्वारा समर्थित है।

सुन कर कथन यह द्रौपदी का कृष्णजी कहने लगे—
धीरज बँधा कर प्रेमयुत यों वचन अमृत से पगे।
है नीति-युक्ति सुयुक्त तेरा कथन पर जँचता नहीं,
कर्त्तव्यपथ पर यह सहायक हो कभी सकता नहीं।
सन्तप्त होकर संधि से ही यह वचन तुमने कहे,
पर सोचती हो तुम नहीं क्या भेद उसमें छिप रहे।
पट खींचने के समय में जो कुछ प्रमाण तुम्हें मिला,
कौरवगणों पर क्रुद्ध हो उसको दिया तुमने भुला।

पहले जो कुछ कहा है, वह एक कवि की कल्पना है। अब जो कहता हूँ वह मेरी कल्पना समझिए। कवि की कल्पना में कमी यह है कि उसने रजोगुण में ही बात समाप्त कर दी है। प्रत्येक बात और विशेषत आदर्श आख्यान सतोगुण मे लाकर समाप्त करना और सतोगुण का आदर्श स्थापित करना उचित है।

द्रौपदी को सान्त्वना देकर कृष्णजी कहने लगे—भद्रे ! रुदन मत करो। चित्त को शान्त और स्थिर करो। तुम्हें पहले की बाते

स्मरण करके संताप होता है, और इसी से तुम पाण्डवों पर कुपित हो रही हो। शक्ति होने के समय ऐसा-स्वार्थ और माया द्वारा चित्त का चंचल हो जाना-स्वाभाविक है। साधारण मनुष्य को ऐसा ही होता है। लेकिन मेरा जन्म मनुष्य प्रकृत की हाँ में हाँ मिलाने के लिए नहीं है। मैं अपने आचरण द्वारा मानव प्रकृत को शुद्ध करके सत्पथ पर लाना चाहता हूँ। यही मेरा जीवन-उद्देश्य है। अगर तुम्हें मुझ पर विश्वास है तो ध्यानपूर्वक मेरी बात सुनो।

कृष्णजी की यह भूमिका सुनकर लोग उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करने लगे कि देखें, द्रौपदी की बातों का कृष्णजी क्या उत्तर देते हैं। इस समय धर्मराज को बहुत प्रसन्नता हुई। वह सोचने लगे-'संधि की बात मैंने ही चलाई थी, लेकिन द्रौपदी ने अपनी बातों से मेरी योजना निर्बल बना दी थी। द्रौपदी ने मुझ पर सारा उत्तरदायित्व डाल कर एक प्रकार से मुझे कायर सिद्ध किया है। भाई भी द्रौपदी की बातों से सहमत हैं। अभी तक वह चुप रहे, मगर द्रौपदी ने अपना अधिकार नहीं छोड़ा। उसने सहन भी तो बहुत किया है। सबसे अधिक अपमान उसी का तो हुआ है।

द्रौपदी की बात का उत्तर देने में धर्मराज अपनी असमर्थता अनुभव करते थे। उसने धर्मराज पर भी अभियोग लगाया था। मगर कृष्ण का सहारा मिलने से उन्हें प्रसन्नता हुई।

कृष्णजी की बात सुनकर सब लोग आश्चर्य करने लगे कि द्रौपदी की यह प्रबल युक्तियों से परिपूर्ण बातें भी कृष्णजी को नहीं जँची। सब विस्मय में डूबे हैं और धर्मराज प्रसन्नता अनुभव कर रहे हैं।

इस अवस्था में कृष्णजी कहने लगे-'द्रौपदी ? तुम्हारी बातें नीति और युक्तियों में से भरी हैं, फिर भी मुझे जँचती नहीं हैं। तुम्हारा कथन कर्त्तव्य-मार्ग में सहायक नहीं हो सकता। मेरा कर्त्तव्य लडाई कराना नहीं, शान्ति स्थापित करना है।'

लोग कुछ दिन पहले अहिंसा की शक्ति का उपहास करते थे। उनका कथन था कि अहिंसा का राजनीति से क्या सरोकार है ? अहिंसा तो मंदिरों मे या इतर धर्मस्थानकों में पालन करने की चीज है। राजनीति और अहिंसा तो परस्पर विरोधी बातें हैं मगर अन्त में सत्य छिपा नहीं रहा। आज सब ने अहिंसा की प्रचण्ड शक्ति का अनुभव कर लिए है। अहिंसा की यह शक्ति तो अपूर्ण है इसकी परिपूर्ण शक्ति का पता कभी भविष्य में चलेगा।

कई लोग समझते हैं कि कृष्ण का उद्देश्य लडाई करना था। लेकिन उनके उपदेश से—गीता से—इस कथन का समर्थन नहीं होता। 'अद्वेष्ट सर्वभूतानाम्' का उपदेश देने वाला हिंसा का उपदेशक कैसे माना जा सकता है ? कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—'सब प्राणियों को अपने समान समझो।' मैं सत्पुरुषों की रक्षा एव दुष्कृतों का विनाश करने के लिए जन्मा हूँ। दुष्टों का नाश करने के लिए नहीं, किन्तु दुष्टों से प्रेम करने। उन पर दया करने और दुष्कृत्यों का नाश करने के लिए ही मेरा जन्म हुआ है।

गीता मे इस आशय की अनेक युक्तियाँ विद्यमान होने पर भी लोग गीता को लडाई कराने वाली पुस्तक और कृष्ण को लडाई कराने वाला पुरुष समझते है। मर्मज्ञ ही इन बातों की गहराई समझ पाते हैं। ऊपरी दृष्टि से वास्तविकता नजर नहीं आती।

तो कृष्णजी कहने लगे—'द्रौपदी ! लड़ाई कराना मेरे लिए उचित नहीं है। तुम्हें मुझ पर पूर्ण विश्वास है, इसीलिए तुमने मेरे सामने सब बातें कहदी हैं। लेकिन मुझे अपना कर्त्तव्य करने दो। तुमने जो कुछ कहा है सो आवेश के वश हो कर ही। तुम संधि की वार्त्ता से दुःखित हुई हो। तुम सोचती हो-पाँच गाँवों से हमारा काम कैसे चलेगा? और इस प्रकार संधि कर लेने में उनकी जीत और हमारी हार समझी जायगी। द्रौपदी ! तुमने वन में रहकर भी अपना काम चलाया है, इसलिए शायद पाँच गाँव लेकर काम चलाने में तुम्हें कठिनाई नहीं भी मालूम होती हो, तो भी इस प्रकार की संधि में तुम्हें कौरवों की गुरुता और अपनी लघुता प्रतीत होती है। इन्हीं कारणों से तुम संधि का विरोध कर रही हो। लेकिन तुम्हें यह नहीं मालूम कि संधि करने में क्या रहस्य छिपा हुआ है। यह बात मैं जानता हूँ या धर्मराज जानते हैं। संधि में पाँच गाँव राज्य करने के लिए मैंने नहीं माँगे हैं और न कौरवों से भयभीत होकर ही ऐसा किया है। कौरवों की दुष्टता का नाश करने के लिए ही यह माग उपस्थित की गई है। अगर कौरव पाँच गाँव दे देंगे तो वह दुष्ट कहलायेंगे। संसार उन्हें घृणा की दृष्टि से देखेगा। कोई आदमी किसी के पास एक करोड़ की धरोहर रख देता है और फिर केवल पाँच रुपया लेकर फैसला कर लेता है, तो पाँच रुपये में फैसला करने वाले का संसार में यश होगा। पाँच रुपया देने वाला सोचेगा कि एक करोड़ के बदले पाँच रुपया देने से मुझे संसार क्या कहेगा? यही बात पाँच ग्राम लेकर संधि करने में है।

विशाल राज्य के बदले सिर्फ पाँच ग्रामों से संतुष्ट हो जाने में पाण्डवों का तो कल्याण ही है। हाँ इसमें कौरवों की ही लघुता है। मैं

लड़ाई कराने के बदले इस प्रकार का उत्तम आदर्श पेश करना अच्छा समझता हूँ। इस संधि से संसार पाडवों की प्रशंसा करेगा? सभी लोग मुक्त कंठ से पाण्डवों की सराहना करते हुए कहेंगे— पाण्डवों ने बारह वर्ष तक वन में और एक वर्ष अज्ञात रह कर भी अपने अधिकार का राज्य केवल शान्ति के लिए छोड़ दिया।

क्रोध से आवेश हो आता है। मगर क्रोध का त्याग करना साधारण बात नहीं है।

'पट खींचने के समय में जो कुछ प्रमाण तुम्हें मिला।'

दुःशासन द्वारा पट खींचे जाने के समय सभामें खड़ी होकर तुमने भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, आदि सब से न्याय की भिक्षा मांगी थी न्याय भी क्या? केवल यही कि धर्मराज अगर जुए में पहले अपने आपको हार गये हों तो फिर उन्हें यह अधिकार कहाँ रहता है कि वे मुझे हारें? हां अगर पहले मुझे हारा हो और फिर अपने आप को तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। तुम्हारे बहुत कहने-सुनने पर भी किसी ने न्याय दिया? तुम उस समय की बात स्मरण करो।

'द्रौपदी! तुम न केशों को बतला रही हो लेकिन इनके साथ की उस समय की बात भूली जा रही हो जब तुम्हें किसी ने न्याय नहीं दिया और तुमने सब बल छोड़ दिया और जब मन ही मन कहा—'प्रभो! शरीर, लाज, तन, मन, धन, आदि तुझे सौंप चुकी हूँ। अब तू चिन्ता कर, मुझे चिन्ता नहीं है। इस प्रकार कह कर निर्बल बन गई थीं, तब तुम्हारे रक्षा हुई थी या नहीं? दुःशासन बड़ा बली था, लेकिन तुम्हारा चीर खींचते खींचते तो वह भी थक गया। उस समय किसने तुम्हारी रक्षा की थी।

श्रद्धा रखो उस सत्य पर जो अखिल जग का प्राण है।
सच्चा हितैषी पाण्डवों का और अटल महान् है ॥

'द्रौपदी ! तुम्हें उस अटल सत्य पर विश्वास रखना चाहिए।

'सच्च खु भगवं ।'

'सत्य विश्वास ही ईश्वर है, यह समझ कर सत्य पर श्रद्धा रक्खो। सत्य पर विश्वास होगा तो ईश्वर पर भी विश्वास होगा।'

कृष्ण ने कहा—'द्रौपदी ! जिसने तुम्हारे वस्त्र बचाए वही सत्य तुम्हारी बात रक्खेगा। तुम शान्त होओ ! उत्तेजना के वशीभूत होकर तुम इस समय सत्य को भूल रही हो।'

तुम्हें भीम की प्रतिज्ञा पूर्ण न होने की चिन्ता है, लेकिन इसमें सत्य पर अविश्वास होता है, इसकी चिन्ता है या नहीं? चीर खींचन के समय भीम और अर्जुन काम आये थे? जिस सत्य का अपरिमित प्रभाव तुम जान चुकी हो, उसे क्यों भुलाये देती हो? तुम साधारण स्त्री नहीं हो, संसार को अनुपम शिक्षा देने वाली आदर्श देवी हो। तुम पाण्डवों के साथ वन-वन भटकी हो तुमने विराट के घर दासीत्व किया है, लेकिन यह सब किया है राज्य पाने की आशा से। मैं कहता हूं—तुम ईश्वर बनने के लिए ईश्वर को भजो। जरा से राज्य के टुकड़े पर ललचा कर सत्य पर अविश्वास मत करो।

भाइयो ! और बहिनो ! कृष्णजी का यह उपदेश केवल द्रौपदी के लिए नहीं है। यह वर्त्तमान और भावी प्रजा के लिए भी है। इतिहास और भूगोल समयानुसार पलटता रहता है,

लेकिन सत्य का यह उपदेश सत्य की भाँति सदैव रहेगा। जैसे सत्य ध्रुव है उसी प्रकार यह उपदेश भी ध्रुव है।

कृष्ण कहते हैं—'संधि हो जाने पर तुम्हारा सिर न गूँथा जायगा तो क्या वह मुंडित न हो सकेगा ? सिर का मुंडन भी तो किया जा सकता है। लोकोत्तर धर्म की भावना से मुंडन कराया हुआ सिर अनन्त सौभाग्य का सूचक है। भीम की प्रतिज्ञा भी अगर नहीं रहती तो न रहे, लेकिन सत्य उससे भी बढ़कर है। उसे जाने देना, उस पर अविश्वास करना उचित नहीं है। जो मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य की रक्षा करता है, सारा संसार संगठित होकर भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।'

'द्रौपदी! तुम कहती हो, जिन कौरवों ने पाण्डवों को विष दिया उन पर दया कैसी ? लेकिन यह तो सोचो कि पाण्डवों को कैसा भयंकर विष दिया होगा! उस उग्र विष से कोई बच सकता था ? फिर उस विष से उस समय उन्हें किसने बचाया ? जिस सत्य ने उस भयानक विष से रक्षा की थी वह सत्य क्या भुला देने योग्य है ? जिसने पाण्डवों की प्राणरक्षा की उसकी पाण्डवों द्वारा हत्या करना तुम पसंद करोगी ?'

'द्रौपदी! तुम लाक्षागृह का घोर संकट बतला कर कहती हो, उसकी याद आ जाती है। तुम उस विकराल आग की याद तो करती हो, लेकिन यह भी याद आता है कि लाक्षागृह में से बच निकलने की आशा थी या नहीं ? जिस सत्य के प्रताप से वह संकट टल सका, उसी सत्य पर अब अविश्वास करने चली हो ?'

कृष्ण फिर कहते हैं—'द्रौपदी! आवेश में आने पर आज तुम्हें कौरवों की बुराई दिखाई देने लगी। पाण्डवों को भटकते

देखा और सर्वस्व चला गया, इसलिए आज तुम्हें चिन्ता हो गई, लेकिन आवेश को त्याग कर सत्य का चिन्तन करो। सत्य से तब भी कल्याण हुआ था, अब भी कल्याण होगा। जैसे मलीन काँच में मुह नहीं दीखता, उसी प्रकार लोभ और तृष्णा से भरे हुए हृदय को न्याय नहीं सूझता। तुम अपने कष्ट सहन की बात कहती हो, सहनशीलता का स्मरण करती हो, लेकिन सत्य ने भी तुम्हारे लिए कुछ उठा नहीं रक्खा। हृदय का मालिन्य दूर कर दो, सत्य उस पर प्रतिबिम्बित होने लगेगा।

'द्रौपदी! ससार के समस्त आभूषणों में विद्या बड़ा आभूषण है। मनुष्य शरीर का शृंगार हार नहीं है, विद्या है। बिना हार-शृंगार के विद्वान् शोभा दे सकता है, लेकिन बिना विद्या के हार-शृंगार शोभा नहीं देता। मैंने शृंगार नहीं कर रक्खा है, तो क्या मैं बुरा लगता हूँ? द्रौपदी! विद्या बडी चीज है, मगर क्रोध को मार डालना उससे भी बडी बात है। इस लिए गहने और राज्य आदि जाने की चिन्ता मत करो।'

'द्रौपदी! सत्य पर अटल विश्वास रक्खो। सत्य की ही अंतिम विजय होगी। सत्य से खिसकना पराजय के समीप पहुँचना है।'

इस आख्यान पर बहुत कुछ कहा जा सकता है। पर इसे विस्तार पूर्वक कहने का समय नहीं है। मनुष्य रजोगुण और तमोगुण के वशीभूत होकर किस प्रकार विराट् शक्ति को भूल जाता है, यह बतलाने के लिए ही यह कहा गया है।

अब हमें फिर अपने मूल विषय पर आ जाना है, महापुरुष की पहिचान उसके वचनों से होती है। जिन वचनों से जीवन मे

ऊर्ध्वता आवे, जीवन में निर्मलता और शुद्धता की वृद्धि हो, समझना चाहिए कि यह वचन महापुरुष के हैं। जिन वचनों से विकारों का उपशमन न होकर उत्तेजन हो, जिनसे हृदय में अशान्ति का संचार होता हो, वे वचन महापुरुष के नहीं हो सकते।

'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में कहा है कि सृष्टि के मध्य में सुमेरु पर्वत है। एक बार एक मासिक-पत्रिका में भी 'पवित्र सुमेरु' शीर्षक लेख किसी लेखक ने लिखा था। लेखक, सुमेरु को इतिहास और भूगोल की दृष्टि से देखते हैं, जिसमें लाभ के बदले जनता को संदेह ही ज्यादा होता है। कोई मुझसे पूछे कि सुमेरु पर्वत कहाँ है? मैं इसका उत्तर दूंगा—सुमेरु प्रथम तो केवली के ज्ञान में हैं, दूसरे, शास्त्र में है, तीसरे, नक्शे में है। पृथ्वी पर सुमेरु कहाँ है, यह मुझे मालूम नहीं। और पता लगाने की आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि भगवान् ने पिंड में ब्रह्माण्ड बतलाया है।

परिकर कर धर कंचुकी, पुरुष फिरे चकचोर।
यह आकार है लोक का, देख्यो ग्रंथ निचोर ॥

झगा पहन कर और कमर पर हाथ रख कर नाचता हुआ पुरुष जिस आकार का दिखाई देता है, वह लोक का आकार है। संक्षेप में कहा जाय तो यह कि मनुष्य सारी दुनियाँ का नक्शा है। लोक को देखने के लिए कृत्रिम नक्शा देखने की जरूरत नहीं है। लोक के नक्शे में जो रेखाएँ हैं, वैसी ही मनुष्य के शरीर में नसों के रूप में मौजूद हैं। मानव-शरीर के ठीक बीचोंबीच नाभि है। यह नाभि सूचित करती है कि सुमेरु पर्वत भी इसी तरह का है। शरीर की नाभि और सुमेरु गिरि रूप लोकनाभि ठीक बीच में है। कदाचित् कोई प्रश्न करे कि मनुष्य के शरीर में

सुमेरु कहाँ है ? तो मैं कहूँगा—अपनी नाभि में। सृष्टि के मध्य का सुमेरु पर्वत तभी मिलेगा, जब ऊर्ध्वगामी बन कर ब्रह्माण्ड, मस्तक और नाभि को एक कर दोगे तथा जब सोती हुई शक्तियाँ जाग उठेंगी ! ऐसी स्थिति प्राप्त होनेपर आपही सुमेरु गिरि का पता लग जायगा।

सुमेरु पर्वत पर भगवान् ने चार वन बतलाये हैं। सब से नीचे भद्रशाल वन है। उससे पाँच सौ योजन की ऊँचाई पर नन्दन वन है। उससे साढ़े बासठ योजन ऊपर सोमनस वन है और उससे भी छत्तीस हजार योजन ऊपर पाण्डुक वन है। इस पाण्डुक वन के ऊपर अभिषेक शिला है। तीर्थङ्कर के जन्म के समय इन्द्र उन्हें इस अभिषेक-शिला पर ले जाते हैं और वहाँ उनका अभिषेक करते हैं। उपनिषद् में कहा है—

'देवो भूत्वा देव यजेत् ।'

अर्थात्—ईश्वर बन कर ईश्वर को देख-ईश्वर की पूजा कर। यानी अपने आत्मा का स्वरूप पहचान ले, बाहर के झगड़े दूर कर।

हम भी परमात्मा की पूजा करते हैं मगर धूप, दीप, फल और मिठाई आदि से नहीं। ऐसा करना जड़-पूजा है। सच्ची पूजा वह है जिसमें पूज्य और पूजक का एकीकरण हो जाय। जैसे शक्कर की पुतली पानी की पूजा करने में उसके साथ एकमेक हो जाती है—उसी में मिल जाती है, उसी प्रकार ईश्वर की पूजा करनी चाहिए शास्त्र में कहा है —

'कित्तिय-वन्दिय-महिमा'

अर्थात्—हे प्रभो ! तू कीर्तित है, वन्दित है और पूजित है।

साधु भी यह पाठ बोलते हैं। यह पाठ षडावश्यक के दूसरे अध्ययन का है। भगवान् की पूजा यदि केवल धूप, दीप आदि से ही हो सकती होती तो साधु उनकी पूजा कैसे कर सकते थे?

परमात्मा की पूजा के लिए पूजक को सर्व प्रथम यह विचारना चाहिए कि मैं कौन हूँ? हे पूजक! क्या तू हाड़, मांस, नख या केश है? अगर तेरी यही धारणा है तो तू ईश्वर की पूजा के लिए अयोग्य है। 'तू देवो भूत्वा देवं यजेत्' तत्त्व नहीं जान सकता। क्योंकि हाड़-मांस का पिंड अशुचि है, जो ईश्वर की पूजा में नहीं टिक सकता। अपने आपको मांस का पिंड समझने वाला पहले तो ईश्वर की पूजा करेगा नहीं, अगर करेगा भी तो केवल मांस पिंड बढ़ाने के लिए। अगर मांस पिंड बढ़ाने के लिए ईश्वर की पूजा की और उससे मांस बढ़ गया तो चलने फिरने में और कष्ट होगा, मरने पर उठाने वालों को कष्ट होगा और जलाने में लकड़ियाँ अधिक लगेंगी।

मैं पूछता हूँ, आप देह हैं या देही हैं? घर हैं या घरवान हैं? आप कहेंगे हम देही हैं, हम घरवाले हैं। घर तो चूना, ईंट या पत्थर का होता है। मगर देखना आप कहीं घर ही तो नहीं बन गये हैं? अगर कहीं अपने आपको घरवान् न मानकर घर ही मान लिया तो बड़ी गड़बड़ी होगी।

'देहो यस्यास्तीति देही' अर्थात् देह जिसका है, जो स्वयं देह नहीं है—वह देही है। निश्चय समझो—मैं हाथवान् हूँ, स्वयं हाथ नहीं हूँ। ऐसा निश्चय होने पर तुम देव बनकर देव की पूजा के योग्य अधिकारी बन सकोगे। गीता में कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहु, इन्द्रियेभ्यो पर मन ।
मनसस्तु परा बुद्धि, यो बुद्धे परतस्तु स ॥

तू इन्द्रिय, मन या बुद्धि नहीं है। वरन् बुद्धि को शक्ति देकर उसका प्रयोग करने वाला है।

जिसने इस प्रकार ईश्वर को समझ लिया है, वह ईश्वर की खोज में मारा-मारा नहीं फिरेगा और न ईश्वर के नाम पर अन्याय ही करेगा। वह कानो मे उँगली डालकर ईश्वर को पुकारे और फिर कहे—या अल्लाह! तू हिन्दुओं को मारडाल। ऐसा कदापि नहीं करेगा। जर्मन लोग इंग्लैण्ड वालों को मार डालने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं और इँग्लैण्ड वाले जर्मनों को मार डालने के लिए। अब बेचारा ईश्वर किसकी रक्षा करे और किसे मार डाले? वह किस का पक्ष ले? यह ईश्वर की सच्ची प्रार्थना नहीं है। ऐसी प्रार्थना करने वाला ईश्वर को समझता ही नहीं है।

कहा जाता है कि सिकन्दर के हाथ में उसके शत्रु-पक्ष की ओर से आया हुआ तीर चुभ गया। सिकन्दर आग बबूला हो गया और उसने तीर मारने वाले की जाति के दो हजार कैदियों के सिर कटवा लिये। क्या वह ईश्वर को जानता है? क्या यह न्याय है? लेकिन सिकन्दर के सामने कौन यह प्रश्न उपस्थित करता? ईश्वर की सच्ची पूजा को आत्मा को उन्नत बनाने के उद्देश्य मे ही निहित है। जिसने आत्मा का असली स्वरूप समझ लिया है, उसने परमात्मा पा लिया है। परमात्मा की खोज आत्मा में तन्मय होने पर समाप्त हो जाती है।

३

परमात्मप्राप्ति के सरल साधन

प्रत्येक आस्तिक और अध्यात्मप्रेमी पुरुष की आकांक्षा परमात्मा की प्राप्ति में ही पर्यवसित होती है। अतएव यह विचारणीय है कि किन उपायों द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होना संभव है? जिज्ञासुओं के हित के लिए मैं संक्षेप में यह बतलाता हूँ कि परमात्मा को प्राप्त करने के सरल साधन कौन-से हैं? वह इस प्रकार है—

(१)

जुआ न खेलना। धर्मशास्त्र में जुआ का बहुत निषेध है। इसका दुष्फल महापुरुष के चरित्र पर घटा कर बताया गया है। जुए ने युधिष्ठिर पर भी संकट लाद दिया था। जिसमें हार-जीत की बाजी है, वह सब जुआ है, फिर उसका नाम चाहे कुछ भी हो।

(२)

मांसाहार न करना। यद्यपि कुल और वंश की परम्परा के कारण बहुत से लोग मांसाहार से बचे हुए हैं, लेकिन समय के फेर से और पाश्चात्य सभ्यता के प्रबल प्रभाव से बहुत से लोग मांसभक्षण करने लगे हैं और धीरे-धीरे मांस के प्रति घृणा घटती जा रही है।

(३)

शराब न पीना। आज शराब के कई सुन्दर सुन्दर नाम रख लिये गये हैं। बुद्धि को भ्रष्ट करने वाली मद्य मादक वस्तुएँ

शराब की श्रेणी में ही है। गांजा, भंग, बीड़ी, सिगरेट आदि की गणना मादक द्रव्यों में होती है।

(४)

वेश्या गमन न करना। साधुओं के उपदेश से वेश्या भी वेश्या वृत्ति छोड़ देती है। कुलीन जनों को तो वेश्या गमन छोड़ना ही चाहिए।

(५)

परस्त्री गमन न करना। बहुत-से लोग परस्त्री का अर्थ यह लगाते हैं कि जिस स्त्री पर दूसरे किसी पुरुष का स्वामित्व हो, वही परस्त्री है। वेश्या पर किसी का स्वामित्व नहीं, अतएव वह परस्त्री नहीं है। इस कुतर्क को टालने के लिए यहां वेश्या और परस्त्री का त्याग अलग-अलग बताया है।

(६)

शिकार न खेलना। आजकल के कई रईस मक्खियों का भी शिकार खेलने लगे हैं। वे लोग बारूद और शक्कर जमीन पर बिखेर देते है और जब मक्खियाँ शक्कर पर बैठती है तब दियासलाई लगा देते हैं। बेचारी मक्खियों को जलती देखकर क्रूरता और पिशाचता की हँसी हँसते है। यह कितना दानवीय कृत्य है!

साँप, बिच्छू आदि जंतुओं को, जिन्होंने कोई अपराध नहीं किया है, मारना सर्वथा अनुचित है। कई लोग कहते है—आज नहीं किया तो कल करेगा। मगर ऐसा समझकर उन्हें मारना घोर अन्याय है। कौन भविष्य में अपराध करेगा और कौन नहीं, यह

कौन जानता है। मनुष्य भी भविष्य में अपराध कर सकता है तो क्या सभी मनुष्यों को फाँसी पर लटका देना न्याय है ?

(७)

चोरी न करना। जो चोरी राज्य के कानून के अनुसार दण्डनीय समझी जाती है और लोक में निन्दनीय मानी जाती है, कम से कम ऐसी स्थूल चोरी से सदैव बचना चाहिए।

(८)

विवाह आदि के अवसरों पर गालियां न गाना, अश्लील गीत न गाना, काला मुँह नहीं करना।

(९)

प्रिय-जन की मृत्यु होने पर बिलख-बिलख कर न रोना और छाती एवं माथा पीटकर न रोना।

(१०)

बच्चों को भूत या हौआ आदि का भय दिखाकर कायर न बनाना।

(११)

मृतक-भोज न करना। शास्त्र में मृतक-भोज का उल्लेख कहीं नहीं मिलता।

(१२)

जीमनवार में जीमने के बाद जूठन न छोड़ना।

(१३)

ठहराव करके वर या कन्या के निमित्त पैसा न लेना।

(१४)

विवाह में वेश्या न बुलाना। वेश्या बुलाकर उसका गान-नृत्य कराने से दुराचार का प्रचार होता है और दुनियाँ बिगड़ती है।

(१५)

तेरह वर्ष से कम आयु की कन्या और अठारह वर्ष से कम आयु के लड़के का विवाह न करना।

(१६)

महीने में अष्टमी और चतुर्दशी को कम से कम चार उपवास करना। उपवास और धारण-पारण नियमपूर्वक करने वाला डाक्टरों को हजारों रुपया देने से बचा रहता है और स्वस्थ रहता है। पाप से भी बचाव होता है।

(१७)

किसी मनुष्य से घृणा मत करो। अस्पृश्य कहलाने वाले लोग भी तुम्हारे ही भाई हैं। वह तुम्हारा बहुत उपकार करते हैं। उनका भूल कर भी तिरस्कार मत करो।

(१८)

आलस्यमय जीवन मत बिताओ। आलस्य मनुष्य का महान् शत्रु है। आलस्य के कारण लोग अधर्म में प्रवृत्त होते हैं।

(१९)

जीवन को संयममय बनाओ। धर्म का ही आचरण करो। ज्ञान का उपार्जन करो, सत्संगति में समय बिताओ। भगवान् का भजन करो।

(२०)

जिन कपड़ों में चर्बी लगती है, वह न पहनना। जो गाय लोक में पूजनीय मानी जाती है और जो अत्यन्त उपकारक और रक्षक है, उसकी चर्बी लगे चमकीले वस्त्रों को पहनना सर्वथा अनुचित है। यह कपड़े अक्सर बारीक होते हैं और बारीक कपड़ों मे लज्जा नहीं रहती। लज्जा-शास्त्र में बड़ा गुण माना गया है और निर्लज्जता दोष है।

आजकल की बहुत-सी स्त्रियाँ घूँघट पर्दा आदि से ही लज्जा की रक्षा समझती हैं, किन्तु वास्तव में लज्जा कुछ और ही है। लज्जावती अपने अंग-अंग को इस प्रकार से छिपाती है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। लज्जावती कैसी होती है, यह बात एक उदाहरण से समझ लीजिये—

एक लज्जावती बाई पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई अपना जीवन बिताती थी। उसने यह निश्चय कर रक्खा था कि मेरे साथ जो भी कोई रहेगी, उसे भी मैं ही शिक्षा दूँगी। उसकी शिक्षा से मुहल्ले की बहुत-सी स्त्रियाँ सदाचारिणी बन गईं।

उसी मुहल्ले में एक और औरत थी, जिसका स्वभाव इससे एकदम विपरीत था। यह पूर्व को तो वह पश्चिम को जाती थी। वह अपना दल बढ़ाने के लिए स्त्रियों को भरमाया करती। उस पतिव्रता की निन्दा करती, उसकी संगति को बुरा बतलाती और कहती—'अरी, उसकी संगत करोगी तो जोगिन बन जाओगी। खाना-पीना और मौज करना ही तो जीवन का सब से बड़ा लाभ है।

कुछ स्त्रियाँ उस निर्लज्जा और धूर्ता स्त्री की भी बातें सुनतीं, पर ऐसी थीं बहुत कम ही। सदाचारिणी की बातें सुनने वाली बहुत थीं। यह देखकर उसे बड़ी ईर्ष्या होती और उसने उस सदाचारिणी की जड़ खोद फैंकने का निश्चय कर लिया।

वह सदाचारिणी बाई बड़ी लज्जावती थी, मगर ऐसी नहीं कि घर में ही बन्द रहे और बाहर न निकले। वह अपने काम करने के लिए बाहर भी जाती थी। जब वह बाहर निकलती तो निर्लज्जा उससे कहती-'मैं तुम्हे अच्छी तरह जानती हूँ कि तू कैसी है। बड़ी बगुला-भगत बनी फिरती है, लेकिन तेरी जैसी दूसरी कहीं शायद ही मिले।'

निर्लज्जा ने दो-चार बार लज्जावती से ऐसा कहा। लज्जावती ने सोचा-क्षमा रखना तो उचित है, पर ऐसा करने से-'चुपचाप सुन लेने से तो लोगों को शङ्का होने लगेगी।' एक बार ऐसा ही प्रसंग उपस्थित होने पर उसने रूक कर कहा-'तेरा मार्ग अलग है और मेरा मार्ग अलग है। मेरा-तेरा कोई लेन-देन नहीं, फिर बिना मतलब अपनी जबान क्यों बिगाड़ती है?'

लज्जावती का इतना कहना था कि निर्लज्जा भड़क उठी। वह कहने लगी-'तू मीठी-मीठी बातें बना कर अपने ऐब छिपाती है और जाल रचती रहती है। मगर मैं तेरे सारे ऐब संसार के सामने खोल कर रख दूँगी।

यह सुनकर लज्जावती को भी कुछ तेजी आ गई। उसने उस कुलटा से कहा-'तुझे मेरे चरित्र को प्रकट करने का अधिकार है, मगर जो यद्वा-तद्वा ऊल-जलूल कहा तो तेरा भला न होगा।

पतिव्रता की यह युक्तिपूर्ण बात सुनकर लोगों पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ा। लोगों ने उससे कहा 'बहिन, तुम अपने घर जाओ। यह कैसी है, यह बात सभी जानते हैं।' लोगों की बात सुनकर पतिव्रता अपने घर चली गई। यह देखकर कुलटा ने सोचा—'हाय! वह भली और मैं बुरी कहलाई। अब इसकी पूछ और बढ़ जायगी और मेरी बदनामी बढ़ जायगी। ऐसे जीवन से तो मरना ही भला! मगर इस प्रकार मरने से भी क्या लाभ है? अगर उसे कोई कलंक लगाकर उसके प्राण ले सकूँ तो मेरे रास्ते का काँटा दूर होजाए। मगर कलंक क्या लगाऊँ? और कोई कलंक लगाने पर तो उसका साबित करना कठिन हो जायगा। क्यों न मैं अपने लड़के को ही मार डालूँ और दोष उसके माथे मढ़ दूँ। लोगों को विश्वास हो जायगा और उसका खात्मा हो जायगा।'

इस प्रकार का क्रूरता पूर्ण विचार करके उसने अपने लड़के के प्राण ले लिये। लड़के का मृत शरीर उस सदाचारिणी के मकान के पास कुएँ में फैंक आई। इसके बाद रो-रो कर, बिलख २ कर अपने लड़के को खोजने लगी। हाय! मेरा लड़का न जाने कहाँ गायब हो गया है! दूसरे लोग भी उसके लड़के को ढूंढने लगे। आखिर वह लोगों को उसी कुएँ के पास लाई, जिसमें उसने लड़के का शव फैंका था। लोगों ने कुएँ को ढूंढा तो उसमें से बच्चे की लाश निकल आई। लाश निकलते ही दुराचारिणी उस सदाचारिणी का नाम ले-लेकर कहने लगी'—हाय! उस भगतन की करतूत देखो। उस पापिनी ने मुझे बैर भंजाने के लिए मेरे लड़के को मार डाला! डाकिन ने मेरा लाल खा लिया हाय! मेरे लड़के को गला घोटकर मार डाला।'

आखिर न्यायालय में मुकद्दमा पेश हुआ। दुराचारिणी ने सदाचारिणी पर अपने लड़के को मार डालने का अभियोग लगाया। सदाचारिणी को भी न्यायालय में उपस्थित होना पड़ा। उसने सोचा—बड़ी विचित्र घटना है। मैं उस लड़के के विषय में कुछ नहीं जानती, फिर भी मुझ पर हत्या का आरोप है। खैर कुछ भी हो, अभियोग का उत्तर तो देना ही पड़ेगा।

कुलटा स्त्री ने अपने पक्ष के समर्थन में कुछ गवाह भी पेश किये। सदाचारिणी से पूछा गया—'क्या तुमने इस लड़के की हत्या की है?'

सदाचारी—नहीं, मैंने लड़के को नहीं मारा, किसने मारा है, यह भी मैं नहीं जानती और न मुझे किसी पर शक ही है।

मामला बादशाह के पास पहुँचाया गया। बादशाह बड़ा बुद्धिमान् और चतुर था। उसने सदाचारिणी को भली भाँति देखा और सोचा—कोई कुछ भी कहे, सबूत कुछ भी हो पर यह निश्चित मालूम होता है कि इसने लड़के की हत्या नहीं की।

बादशाह का वजीर बड़ा बुद्धिमान् था। उसने कहा—इस मामले में कानून की किताबें मददगार नहीं होंगी। यह मेरे सुपुर्द कीजिये। मैं इसकी जाँच करूँगा।

बादशाह ने वजीर को मामला सौंप दिया। वजीर दोनों स्त्रियों को साथ लेकर अपने घर गया। वह उस सदाचारिणी को साथ लेकर एक ओर जाने लगा। सदाचारिणी ने वजीर से कहा—मैं अकेली परपुरुष के साथ एकान्त में कदापि नहीं जा सकती। आप जो पूछना चाहें, यहीं पूछ सकते हैं। अकेले पुरुष

के साथ एकान्त में जाना धर्म नहीं है, फिर वह चाहे सगा बाप ही क्यों न हो।

वजीर ने धीमे स्वर में कहा—तुम एक बात मेरी मानो तो मैं तुम्हें बरी कर दूंगा।

सदाचारिणी—आपकी बात सुने बिना मैं नहीं कह सकती कि मैं उसे मान ही लूँगी। अगर धर्म विरुद्ध बात नहीं हुई तो मान लूँगी, अन्यथा जान देना मजूर है।

वजीर—मैं तुम्हारा धर्म नहीं जाने दूंगा, तब तो मानोगी।

सदाचारिणी—अगर धर्म न जाने योग्य बात है तो साफ क्यों नहीं कहते?

वजीर—तुम्हारे खिलाफ यह आरोप है कि तुमने लड़के को मारा है। न मारने की बात केवल तुम्हीं कहती हो, पर तुम्हारी बात पर विश्वास कैसे किया जाय? अपनी बात पर विश्वास कराना है तो नंगी होकर मेरे सामने आ जाओ। इससे मैं समझ लूँगा कि तुमने मेरे सामने जैसे शरीर पर पर्दा नहीं रक्खा, उसी प्रकार बात कहने में भी पर्दा न रक्खोगी।

सदाचारिणी—जिसे मैं प्राणों से भी अधिक समझती हूँ, उस लज्जा को नहीं छोड़ सकती और आपका यह कर्त्तव्य नहीं है। आप चाहें तो शूली पर चढ़ा सकते हैं—फाँसी पर लटकाने का आपको अधिकार है, परन्तु लज्जा का त्याग मुझ से न हो सकेगा।

इतना कह कर वह वहाँ से चल दी। वजीर ने कहा—'देखो, समझ लो। न मानोगी तो मारी जाओगी।' सदाचारिणी ने

कहा--'आपकी मर्जी। यह शरीर कौन हमेशा के लिए मिला है। आखिर मनुष्य मरने के लिए ही तो पैदा हुआ है।'

वजीर ने सोच लिया--'यह स्त्री सच्ची और सती है।

इसके बाद वजीर ने कुलटा को बुलाकर वहीं कहा-'तुम मेरी एक बात मानो तो तुम जीत जाओगी।'

कुलटा---मैं तो जीती हुई हू ही। मेरे पास बहुत से सबूत हैं

वजीर----नहीं, अभी सन्देह है। यह बाई हत्यारिणी नहीं है।

कुलटा--आप इसके जाल में तो नहीं फँस गये? वह बड़ी धूर्त्ता है।

वजीर--यह सदेह करना व्यर्थ है।

कुलटा--फिर आप उस हत्यारिणी को निर्दोष कैसे बतलाते हैं?

वजीर—अच्छा मेरी बात मानो।

कुलटा--क्या?

वजीर--तुम मेरे सामने कपड़े खोल दो तो मैं समझूंगा कि तुम सच्ची हो।

कुलटा अपने कपड़े खोलने लगी। वजीर ने उसे रोक दिया और जल्लाद को बुला कर कहा-'इसे ले जाकर बेंत लगाओ।'

जल्लाद उसे बेरहमी से पीटने लगा। वह चिल्लाई-ईश्वर के नाम पर मुझे मत मारो। जल्लाद ने पूछा'-तो बता, लड़के को किसने मारा है?' कुलटा ने सच्ची बात स्वीकार कर ली। मार के आगे भूत भागता है, यह कहावत प्रसिद्ध है।

वजीर ने अपना फैसला लिखकर बादशाह के सामने पेश कर दिया। कहा—लड़के की हत्या इसकी माँ ने ही की है।

बादशाह ने कहा—यह बात कौन मान सकता है कि माता अपने पुत्र को मार डाले! लोग अन्याय का सन्देह करेंगे।

वजीर ने कहा—यह कोई अनोखी बात नहीं है। धर्मशास्त्र के अनुसार पहला धर्म लज्जा है। जहाँ लज्जा है, वहाँ दया है। मैंने दोनों की लज्जा की परीक्षा की। पहली बाई ने मरना स्वीकार किया, पर लज्जा तजना स्वीकार न किया। वह धर्मशील है। इस दूसरी ने मुझे भी कलंक लगाया और लाज देने को तैयार हो गई। यह देखकर इसे पिटवाया तो लड़के की हत्या करना स्वीकार कर लिया।

सारा मामला बदल गया। सच्चरित्रा बाई के सिर मढ़ा हुआ कलंक मिट गया। बादशाह ने सच्चरित्रा को धन्यवाद देकर कहा—'आज से तुम मेरी बहिन हो।'

लज्जा के प्रताप से उस बाई की रक्षा हुई। वह लाज तज देती तो उसके प्राण भी न बचते। बादशाह ने कुलटा को फाँसी की सजा सुनाई और सदाचारिणी से कहा—'बहिन! तुम जो चाहो, मुझ से माँग सकती हो।'

सदाचारिणी बाई ने उठकर कहा—'आपके अनुग्रह के लिए आभारी हूँ। मैं आपके आदेशानुसार यही माँगती हूँ कि यह बाई मेरे निमित्त से न मारी जाय। इस पर दया की जाय।'

बादशाह ने वजीर से कहा—तुम्हारी बात बिलकुल सत्य है। जिसमें लज्जा होगी, उसमें दया भी होगी। इस बाई को

देखो। अपने साथ बुराई करने वाली को भी कितनी भलाई कर रही है।

बादशाह ने सदाचारिणी बाई की बात मान कर कुलटा को क्षमा-दान दे दिया। कुलटा पर इस घटना का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसका जीवन एक दम बदल गया।

सारांश यह है कि लज्जा एक बड़ा गुण है। जिसमें लज्जा होगी, वह धर्म का पालन करेगा।

यह परमात्मा की प्राप्ति के सरल उपाय हैं। इन्हें अपनाओगे तो निस्सन्देह आपका कल्याण होगा।

४

प्रभु-प्रार्थना का प्रयोजन

[क]

श्री आदीश्वर स्वामी हो।

भगवान् ऋषभदेव की यह प्रार्थना है। देखना चाहिए कि इस प्रार्थना के साथ आत्मा का क्या सम्बन्ध है?

प्रार्थना वही करता है, जिसे किसी प्रकार की अभिलाषा होती है। चाहे वह अभिलाषा किसी चिन्ता को दूर करने की हो, किसी न्यूनता की पूर्ति करने की हो या और किसी प्रकार की हो। दूसरे शब्दों में कहना चाहिए कि जब कोई गरज होती है, तभी प्रार्थना की जाती है। बिना गरज के न तो प्रार्थना की जाती है और न बेगरज की प्रार्थना सच्ची प्रार्थना ही है। जब यह सत्य है तो देखना चाहिए कि भगवान् ऋषभदेव की यह प्रार्थना किस गरज से की जाती है? इस प्रार्थना में कहा गया है—

'मेटो जे चिन्ता मन तणी।'

अर्थात् मेरे मन की चिन्ता मिटा दो। प्रार्थना करने वाले को सज्ञान होकर ही प्रार्थना करना चाहिए, मूर्खता या अन्धविश्वास

में रहना उचित नहीं है । इस धारणा से यह जानना आवश्यक है कि हम जिस चिन्ता को मिटाने की भगवान् से प्रार्थना करते हैं, वह चिन्ता क्या है और वह किसी दूसरे से भी मिट सकती है या नहीं ?

किसी बड़े आदमी से छोटी वस्तु के लिए प्रार्थना करना उसका अपमान करना है । किसी न्यायाधीश (जज) को झाड़ू निकालने के लिए बुलाना उसका अपमान करना है । झाड़ू देने का काम तो बुलाने वाला स्वय ही कर सकता है या किसी भी साधारण आदमी से करा सकता है । इसके लिए न्यायाधीश को बुलाने की क्या आवश्यकता है ? अगर किसी ने झाड़ू देने के लिए न्यायाधीश को बुलाया तो उसने विवेक से काम नहीं लिया । 'योग्य योग्येन योजयेत्' जो जैसा हो, उससे वैसा ही काम लेना चाहिए । यही विवेकशीलता का लक्षण है ।

परमात्मा सर्वोपरि है । वह ससार और त्रैलोक्य से भी बडा माना गया है । परमात्मा को त्रिलोकीनाथ कहते हैं । इस प्रकार परमात्मा जब अखिल विश्व का सिरमौर है, तब उसकी प्रार्थना करने का क्या आशय होना चाहिए ? किस गरज से प्रभु की प्रार्थना करना उचित है ? जो लोग परमात्मा को केवल व्यवहार के हेतु त्रिलोकीनाथ कहते हैं, उनकी प्रार्थना भी कोरा व्यवहार ही है, उसमें वास्तविकता नहीं है । जो लोग अन्तरतर से परमात्मा को त्रिलोकीनाथ मानते हैं, उन्हें सावधानी के साथ अपने हृदय की जाँच करनी चाहिए । उन्हें देखना चाहिए कि वास्तव में उनके हृदय की चिन्ता क्या है, जिसे मिटाने के लिए मैं प्रार्थना कर रहा हूँ ? त्रिलोकीनाथ से, झाड़ू निकालने के समान कोई तुच्छ चिन्ता

दूर करने के लिए तो प्रार्थना नहीं की है ? दर असल आपकी चिन्ता क्या है ?

आप कहेंगे—हमारी चिन्ताओं का क्या पूछना है ! हमारी जैसी चिन्तायें तो घर-घर में फैली हैं। किसी को धन की चिन्ता है, किसी को परिवार की चिन्ता है, किसी को राज-सम्मान की चिन्ता है। इस प्रकार अनेकविध चिन्ताओं के कारण सुख की नींद सोने वाला कोई विरला ही मिल सकता है। यद्यपि आराम के लिए निद्रा ली जाती है, परन्तु कइयों की चिन्ता तो ऐसे समय में भी नहीं मिटती।

प्राय इन्हीं चिन्ताओं को मिटाने के लिए परमात्मा से प्रार्थना की जाती है। पर विचारणीय बात यह है कि अगर आपने धन की चिन्ता मिटाने के लिए त्रिलोकीनाथ से प्रार्थना की तो क्या आपने त्रिलोकीनाथ को पहचाना है ? अगर परमात्मा से आपने यही चाहा तो उसे त्रिलोकीनाथ समझा या सेठ-साहूकार समझा ?

धन की चिन्ता तो किसी धनवान् की सेवा करने से ही मिट सकती थी। तुमने धन की चिन्ता नाश करने के लिए परमात्मा से प्रार्थना की तो उसे त्रिलोकीनाथ नहीं समझा, किन्तु दरिद्रता का कूड़ा-कचरा साफ करने वाला समझा। तुमने इससे ज्यादा उसका क्या महत्त्व जाना ?

धन की ही तरह कई लोग पुत्र-सम्बन्धी चिन्ता नाश करने के लिए परमात्मा की प्रार्थना करते हैं। विशेषत स्त्रियाँ को पुत्र-

लाभ की लालसा इतनी प्रबल होती है कि अनेक स्त्रियाँ ताजियों के तीजे की रोटी खाने को तैयार होजाती हैं और भैरव-भवानी आदि २ पूजती फिरती हैं। वह समझती हैं—भवानीजी पुत्र दे देती है। लेकिन भैरव-भवानी पुत्र दे देते हैं, ईश्वर भी पुत्र दे देता है और ताजिया भी, तो ईश्वर भवानी—भैरव और ताजिया के समान ही ठहरा !

कॉरेपन में बेटा नहीं मांगा जाता। विवाह के पश्चात् ही यह लालसा पूरी करने की चाह होती है। मतलब यह है कि विवाह होने पर स्त्री मे गरज न सरी तब परमात्मा का सहारा लिया। अर्थात् परमात्मा को स्त्री से कुछ बडा माना। क्या यही त्रिलोकीनाथ को समझना कहलाता है ?

कई लोग परमात्मा की प्रार्थना शारीरिक रोग मिटाने के लिए किया करते हैं। उनकी समझ में भगवान् कोई डाक्टर या वैद्य है ? जो कार्य एक साधारण वैद्य से भी हो सकता है, उसके लिए तुम परमात्मा से प्रार्थना करते हो तो परमात्मा की महिमा नहीं समझते।

दुनियाँ की सभी चीजें मूल्य वाली हैं और परमात्मा अनमोल है। अनमोल परमात्मा से तुच्छ मूल्य की चीजों की याचना करना क्या परमात्मा का अपमान करना नहीं है ? क्या यह उसके त्रिलोकीनाथ-स्वरूप को समझना है ?

तात्पर्य यह है कि जिस चिन्ता का नाश वैद्य, साहूकार, राजा, स्त्री आदि से भी न हो सके और जिस चिन्ता का नाश होने के पश्चात् फिर कभी कोई चिन्ता प्रादुर्भूत ही न हो-अनन्त

निश्चिन्तता उत्पन्न हो जाय, उस चिन्ता को मिटाने के लिए प्रार्थना की जाय, तो समझो कि तुमने परमात्मा को जाना है। जो क्षुद्र चिन्तायें वैद्य आदि के द्वारा भी दूर हो सकती हैं, उनके लिए परमात्मा से प्रार्थना करना परमात्मा की महिमा को न समझना है।

अब प्रश्न होता है—परमात्मा की प्रार्थना किस उद्देश्य से करनी चाहिए? इस सम्बन्ध में कहा है—

'मेरे काटो पुराकृत पाप।'

भगवन्! तू त्रिलोकीनाथ है। मैं तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि मेरे पूर्वकृत पाप काट दे।

परमात्मा से जब माँगने लगे तो ऐसी चीज ही क्यों न माँगे कि जिसमें सभी का समावेश हो जाय?

एक बुढ़िया पर उसका आराध्य देव प्रसन्न हो गया। देव ने कहा—'वृद्धे, तेरी इच्छा हो सो माँग।' बुढ़िया होशियार थी। उसने सोचा—अलग-अलग चीजें माँगने से तो कईएक हो जाएँगी, कुछ ऐसा माँग लूँ कि जिसमें सभी बातें आ जाएँ। उसने देव से माँग की—मैं सातवें मंजील पर, अपने पोते को, सोने के थाल में, खीर खाते देखूँ।' बुढ़िया की इस माँग में सभी कुछ आगया। सोने के थाल में पोता खीर खाएगा तो उसके साथ और धन-सम्पत्ति भी होगी ही। इस प्रकार उसने धन भी माँग लिया, पोता भी माँग लिया, महल भी माँग लिया और लम्बा आयुष्य भी माँग लिया।

तुम गृहस्थ हो, तुम्हें पैसे की, पुत्र की और धन आदि सभी व्यवहारिक वस्तुओं की आवश्यकता रहती है। लेकिन इन्हीं

सब के लिए ईश्वर की प्रार्थना करना ईश्वर को पहचानना है। तुम उस बुढिया की तरह, परमात्मा से एक ही बात क्यों नहीं मॉग लेते, जिसमें इन सब के समावेश के साथ और भी बहुत-सी बातों का समावेश हो जाता है? ऐसी क्या चीज है? इसके लिए कहा गया है—

"मेरे काटो पुराकृत पाप।"

जब परमात्मा से पूर्वोपार्जित पापों के नाश की याचना कर ली तो और क्या याचना करना शेष रहा? पाप ही सुख मे बाधक है। वह न रहेगा तो सभी सुख बिना बुलाये आएँगे।

गाड़ी चलने पर आप ही मालूम हो जाता है कि रास्ता साफ है या नहीं? गाडी बेरोक चली जाय तो समझा जाता है रास्ता साफ है, अगर कहीं रुकावट आ गई तो यह मान लिया जाता है कि रास्ते में गड़-बड़ी है। इसी प्रकार शरीर रूपी गाडी मे आत्मा विराजमान है। आत्मा की गति में रुकावट न आए और सब काम बराबर होता रहे तो समझ लो कि पुण्य का उदय है। ऐसा न हो तो पाप का उदय समझो। आप अपनी गाड़ी को देखो, कहीं अटकती तो नहीं है? आपके मन की सभी अभिलाषाए बराबर पूरी हो रही है? या 'नहीं'

तो गाड़ी अटकी है। रास्ता साफ करने का उपाय पाप काटना है। मगर स्मरण रखना, परमात्मा की शरण लिये बिना, दूसरे मिथ्या उपायों से पापों को काटने का प्रयत्न करोगे तो पाप और बढ जाएगा।

पाप में एक प्रकार की मिठास है। पाप में मिठास न होती, पाप अच्छा न लगता तो कोई करता ही क्यों ? मिठास-यही कारण है कि लोग पाप की ओर प्रवृत्त होते हैं।

धन की आवश्यकता अनुभव करके आपने व्यापार किया। व्यापार करने पर आपको लोभ हो आया। लोभ-ग्रस्त होकर आपने परमात्मा से धन की याचना की तो आपने परमात्मा को नहीं जाना। इसके विरुद्ध, आपने प्रभु से कहा—मैं तन, धन आदि तुझे सौंपता हूँ, लेकिन मेरे पाप कट जाएँ। तो ऐसा कहने से और पापों का नाश हो जाने से परमात्मा को भी जाना और तन, धन आदि तो रहेंगे ही। लेकिन यह कथन जीभ का न हो, अन्तरात्मा का हो, यह ध्यान रखना होगा।

आप मन, वचन, काय के अनुसार कार्य करना चाहते हैं, लेकिन होते नहीं हैं। इस प्रकार गाड़ी का अटकना पाप की निशानी है। लेकिन इस कथन में अपवाद भी हो सकता है। कभी-कभी गाड़ी अटकना पुण्य का प्रताप भी हो सकता है। उदाहरणार्थ-एक आदमी एकान्त मे मदिरापान करना चाहता है, मगर उसे अवसर नहीं मिलता। यह भी गाड़ी अटकना है। यह पुण्य का का प्रताप है। ऐसे अवसर पर कोई परमात्मा को स्मरण करके अपनी गाड़ी चलाना चाहे तो यह गाड़ी चलाना नहीं है, किन्तु चलती गाड़ी को गढ्ढे में गिराना है। अगर मदिरापान के बिना चैन नहीं मिलता तो ईश्वर से यह प्रार्थना करो कि-प्रभो ! मेरी गाड़ी रुकी है, मेरा मार्ग साफ कर दे। अर्थात मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कर कि मैं अपने मन को अपने नियन्त्रण में रख सकूं।

पाप जनक संयोग इष्ट होने पर भी अगर नहीं मिलते तो पाप का नहीं पुण्य का उदय समझो। उदाहरणार्थ–तीव्रतर क्रोध के आवेश में आकर एक मनुष्य आत्म-घात करने के अभिप्राय से शस्त्र या विष खोजता है। उसे शस्त्र या विष मिल जाना पुण्य है या न मिलना पुण्य है?

'न मिलना!'

क्रोध की आग के समान ही काम की आग भी प्रचंड होती है। काम की आग संतप्त होकर ही पुरुष वेश्या आदि की अभिलाषा करता है। अगर उसे उसकी प्राप्ति नहीं होती तो वह पुण्य के कारण या पाप के कारण?

'पुण्य के कारण!'

अब विचार कर देखो कि परमात्मा को किधर बुलाना चाहते हो? वेश्या आदि न मिलने के लिए भगवान् को बुलाना है या मिलने के उद्देश्य से?

क्रोध से पागल हुए को आत्म हत्या के लिए शस्त्र न मिलना पुण्य का प्रताप है। इसी प्रकार काम वासना का जागना और व्यभिचार की भावना होना भी आत्म हत्या से कम पाप नहीं है। काम वासना की पूर्ति का साधन न मिलना भी पुण्य ही समझो। प्रार्थना में कहा है–

'म्हारा काटो पुराकृत पाप।'

भगवान्! तेरी कृपा हुए बिना पाप की वासना नहीं मिटेगी। मेरे मन में से काम वासना चली जाए, यही तुमसे चाहता हूँ।

लोभ से प्रेरित होकर कोई मुद्दई वकील के पास झूठा मुकदमा ले जाता है। लोभी वकील भी सोचता है—'सच्चे मुकदमे में तो अधिक आमदनी नहीं होती, इसलिए हे भगवन्! कोई झूठा मामला आ जाय तो अच्छा है। प्रभो! तेरी कृपा से ही मेरा मनोरथ पूर्ण हो सकता है। बस, मैं यही चाहता हूँ कि कोई अच्छा-सा झूठा मामला आ जाए और उसमें मुझे सफलता मिल जाए।'

अब आप विचार करें कि झूठे मामले का खारिज हो जाना ईश्वर की कृपा समझी जाय या उसमें सफलता मिलना ?

मित्रो! स्वच्छ हृदय से ईश्वर की प्रार्थना करने से ही मनोवाञ्छित कार्य की सिद्धि होती है। लोभ-लालच, वासना, काम, क्रोध, आदि से मलीन हृदय की पुकार परमात्मा के पास नहीं पहुँचती। इस बात को जानते हुए भी बहुत-से लोग कहते हैं—ईश्वर ने हमारा झूठा मुकदमा सफल नहीं किया और इस प्रकार हमें ईश्वर ने सहायता नहीं दी।

आज यही हो रहा है। अपने पक्ष को अन्याययुक्त और असत्य समझते हुए भी लोग उसे सर्वसाधारण के समक्ष न्याययुक्त और सत्य सिद्ध करना चाहते हैं। असल में साधु नहीं हैं, मगर साधु कहलाना चाहते हैं। ऐसे समय में तो यही प्रार्थना करनी चाहिए—हे प्रभो! यह आत्मा साधुपन नहीं पालन करना चाहता, फिर भी साधु कहलाना चाहता है। तेरी कृपा से इसकी असाधुता का भण्डाफोड़ हो जाय तो अच्छा है।

पाप हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। इन्द्रियाँ बलवान हैं और मन अत्यन्त चचल है। अनादि कालीन संस्कार भी इस

शक्तिशाली नहीं है। यद्यपि यह ठीक है कि आत्मा इन सभी से अधिक सामर्थ्यवान् है, तथापि वह इन सब के चङ्गुल में फँसकर अपने आपको निर्बल अनुभव करता है। उसकी शक्ति कुण्ठित है। अतएव वह पाप की ओर प्रवृत्त हो जाता है। पाप में प्रवृत्ति होने पर एकमात्र उत्तम उपाय यह है कि परमात्मा से उन पापों के प्रकट हो जाने के लिए प्रार्थना की जाय। ऐसा करने से पापों से बचने की इच्छा और शक्ति उत्पन्न हो जायगी। पवित्रता के वेष में दुराचार का सेवन बुरा है।

आपको विचार करना चाहिए कि पापी पुरुष पाप बढ़ाने के लिए भले ही ईश्वर का स्मरण और ध्यान करे, मगर ईश्वर पाप बढ़ाने के लिए नहीं है। कभी विवश होकर असत्य या पाप का आश्रय भी लेना पड़े, तब भी उसे बुरा तो मानो। कम से कम उस की सफलता के लिए ईश्वर की सहायता तो न चाहो। काम-क्रोध, मद मोह आदि विकारों को दूर करने के लिए ही परमात्मा की प्रार्थना करो। परमात्मा से कहो—'प्रभो! मुझे अपने आन्तरिक विकार दूर करने की चिन्ता लग रही है। तू मेरी यह चिन्ता दूर कर दे।'

मोह के प्रताप से छोटी चीज भी बड़ी दीखने लगती है और बड़ी चीज भी छोटी दिखाई देने लगती है। कहावत है—मेरा सो अच्छा और अपना नहीं सो अच्छा नहीं। हम बड़े रूपवान् और हमारा बेटा बड़ा गुणवान्! मुँह बन्दर जैसा ही क्यों न हो, पर काच में देखकर कौन प्रसन्न नहीं होता? बन्दर भी काच में मुँह देखकर प्रसन्न होता है। यह मोह नहीं तो क्या

है ? मोह के प्रताप से ही लोग सत्य को भूल कर असत्य का आश्रय लेते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

एक मेला में एक मालिन फूल लेकर बेचने के लिए बैठी थी। उसके सामने फूलों से भरा टोकरा था और पास ही छोटा बच्चा भी था। बच्चे ने फूलों के टोकरे के पास अशुचि कर दी। बाजार का मौका ठहरा। मालिन अशुचि फेंकने जाती है तो लोग सूने टोकरे में से फूल ले जायँ। अशुचि फेंकने के लिए पास में कोई स्थान नहीं है। अगर वहीं अशुचि पड़ी रहने देती है तो अशुचि के पास के फूल कौन लेगा ? और पुलिस भी रोक-टोक करेगी।

मालिन स्वभावतः चतुर होती है। उसने सोचा—और कोई नहीं है तो दमड़ी के फूल जायँ तो भले जाय आफत तो मिटेगी। उसने अशुचि पर थोड़े से फूल चढ़ा दिये। अशुचि गुलदस्ते के समान मालूम होने लगी।

मालिन ने अपने टोकरे के सब फूल बेच दिये और उठ कर चल दी। फूल चढ़ी अशुचि वहीं पड़ी रही। दो-तीन मित्र टहलते टहलते उधर ही जा निकले। एक मित्र ने कहा—देखो, सामने फूलों का गुलदस्ता पड़ा है। दूसरे ने कहा—मालिन फूल बेच रही थी, भूल गई होगी। तीसरे ने कहा—चलो, आज फूल नहीं खरीदे थे, यह गुलदस्ता सूँघने को हो गया। इतना कहकर उसने गुलदस्ते पर हाथ मारा और उसकी पाँचों उङ्गलियाँ भर गईं। उसने सोचा यह गलत हुआ। यह बात प्रकट करते हैं तो

मित्र मजाक करेंगे। उसने चटपट अपनी उँगलियाँ धूल आदि से पोंछ लीं।

उसके मित्र ने पूछा—क्यों, फूल उठाये नहीं? उसने उत्तर दिया—नहीं, वह अपने काम के नहीं। वे तो हगा देवी पर चढे हुए हैं। इस प्रकार अपनी बात छिपाने के लिए उसने अशुचि को हगा देवी बना दिया।

इस दृष्टान्त में मोह के सिवा और क्या है? ऊपरी सौन्दर्य देखकर लुभा जाना और भीतर की असलियत पर विचार न करना ही तो मोह है। हाथ लगाने वाले को पहले ही मालूम हो जाता कि यह अशुचि है, गुलदस्ता नहीं होता तो क्या वह हाथ लगाता?

'नहीं।'

अगर वह जानबूझ कर ऐसा करता तो मूर्ख गिना जाता मगर संसार के लोग जानते-बूझते भी ऐसा ही करते हैं।

मल-मूतर की कोथली रे अशुचिन तणो भंडार।
ऊपर से कमला लगी रे ता ऊपर सिंगार।
हंगा देवी समजिया सो तुम देखो हृदय विचारजी॥

आप लोग हगा देवी की अशुचि को देखते हैं, लेकिन वह अशुचि और कहीं से नहीं आई थी, मनुष्य शरीर की ही थी। ऐसे शरीर के प्रति इतना मोह! इस शरीर के खातिर लोग आत्मा को भी भूल जाते हैं और परमात्मा से भी इसी के हेतु प्रार्थना करते हैं?

भक्त जन कहते हैं—'प्रभो ! मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मैं अपने पुराने पापों को काटना चाहता हूँ। मैं निष्पाप बन गया तो त्रिभुवन की सम्पदा से क्या प्रयोजन है ?

यही प्रभु की प्रार्थना का प्रयोजन है। आत्मशुद्धि के लिए चित्त की चंचलता के कारण उसमें उत्पन्न होने वाले विकारों को दूर करने के लिए और आत्मा का बल वीर्य बढ़ाने के लिए ही परमात्मा की प्रार्थना करना उचित है। निष्काम भक्ति सर्वोपरि मानी गई है। मगर जब तक पूर्ण निष्काम दशा प्राप्ति नहीं होती तब तक भी कम से कम सांसारिक वासनाओं की पूर्ति और उनके साधन माँगने के लिए तो परमात्मा की प्रार्थना करना उचित नहीं है। आत्मा की शुद्धि ही जीवन का श्रेष्ठतम उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए परमात्मा का बल पाने के हेतु उसकी प्रार्थना करोगे तो आपका कल्याण होगा।

५

प्रभु-प्रार्थना का प्रयोजन

[ख]

सहज उपाय और सहज योग सब के लिए सुन्दर है, कठिन योग का साधन विरले ही कर सकते हैं। इस उद्देश्य से ज्ञानियों ने प्रार्थना का मार्ग निकाला है। प्रार्थना का मार्ग किसी के लिए दुर्गम नहीं, सब के लिए सुगम है।

प्रार्थना बाल-कवियों की कृति है, यह समझना भूल है। ज्ञानियों ने ओजस्वी भाषा मे जो कुछ बतलाया है वही बात सर्व-साधारण की समझ में आने योग्य सुगम बाल-भाषा में प्रार्थना द्वारा प्रकट की जाती है। भक्त-कवियों ने ऐसी प्रार्थनाएँ उन महात्माओं को भूलकर नहीं की हैं, वरन् अपने आपको तुच्छ मानकर और साथ ही जगत् के प्राणियों का असामर्थ्य देखकर की हैं।

प्रार्थना कवि की भाषा में बोली जाती है, मगर उसे अपनी ही भाषा समझना चाहिए। प्रार्थनाकार कवि अपने समान ससार के ताप से सतप्त सभी मनुष्यों का प्रतिनिधि है। वादी अदालत में दावा दायर करता है मगर उसे अपना दावा समझना नहीं आता। इस कारण फैसला गलत होने की सभावना को टालने के लिए

वह अपना प्रतिनिधि-वकील नियत करता है । इसी प्रकार भक्त कवि संसारी जीवों का प्रतिनिधि होकर प्रार्थना करता है । वह ऐसी सरल भाषा में प्रार्थना करता है कि उसे सब भली-भाँति समझ सकें । इस प्रकार की एक प्रार्थना है.—

श्री अभिनन्दन दुःखनिकन्दन वंदन पूजन जोग जी ।
आशा पूरो चिन्ता चूरो, आपो सुख आरोग जी ॥

यह कौन नहीं चाहता ? प्राणी मात्र की यह प्रार्थना है । दुखी ही प्रार्थना करते हैं । जिन्हें किसी भी प्रकार का दु.ख नहीं वे क्यों प्रार्थना करेंगे ।

इस प्रार्थना में कहा है—प्रभो ! हम दुखी हैं । हमारा दु.ख दूर करो । तू वन्दन और पूजन के योग्य है । संसार में वन्दना, पूजा, सब चाहते हैं, लेकिन वास्तव में वन्दन-पूजन के योग्य तू ही है ! क्योंकि तू दुःख निकंदन है । सूर्य की पूजा उसके प्रकाश के कारण ही है । प्रकाश न करता तो उसे कौन पूछता ? प्रकाश न करना-पर का उपकार न करना और वन्दना-पूजा चाहना बेईमानी और चालबाजी है ।

आज सर्वत्र यही विरूपता दिखाई पड़ती है । उद्योग न करना पड़े पर धन के ढेर लग जाएँ । अगर कोई जुआ का अंक बताने लगे तो सब उसके चरणों पर लोटने लगें । लोगों की इस आलस्यमयी दशा ने उन्हें सचाई से गिराकर गुलामी में फँसा दिया है । इसी कारण लोग अपने ही लायक गुरु खोज लेते हैं और वैसा ही धर्म भी तलाश करते फिरते हैं । धर्म का मार्ग वीरों का है और लोगों में कायरता आ गई है । कायर लोग वीरों

के धर्म को कैसे अपना सकते हैं ? मिहनत न करके मजे करने का मनोरथ रखना वीरों का काम नहीं है, और जबतक वीरता न होगी, ईश्वर का स्वरूप भी नजर नहीं आएगा।

जब भगवान् ही दुःख का नाश कर देता है—दुःख निकन्दन है—तो हमें क्या करना है ? हम उद्योग करने की खटपट में क्यों पड़ें ? सूर्य हो तो दीपक जलाने की क्या आवश्यकता है ? ऐसा कहने वाले, पर प्रमादशील व्यक्ति दुःखों से किस प्रकार मुक्त हो सकते हैं ?

परमात्मा से सभी अपना-अपना दुःख दूर करना चाहते हैं, प्रार्थना भी इसी लिए करते हैं, लेकिन जबतक यह न जान लिया जाय कि दुःख क्या है और किन दुःखों का नाश करने के लिए प्रार्थना में परमात्मा से कहा गया है, तबतक काम नहीं चल सकता।

सूर्य तो प्रकाश करता ही है, मगर प्रकाश को ग्रहण करने के लिए आपको आँखें खोलने की आवश्यकता है या नहीं ? कदाचित् कहने लगोगे—सूर्य प्रकाश करने वाला है ही, फिर हमें आँख खोलने की क्या आवश्यकता है ? वह हमारे आँख न खोलने पर भी हमारे लिए प्रकाश क्यों न करे ? यह कथन बुद्धिमत्ता पूर्ण नहीं है।

ईश्वर दुःख नाश करता है इस विषय में भी यही बात समझ लेनी चाहिए। ईश्वर अपना काम करता है, आप अपना काम करें। सूर्य प्रकाश करता है, मगर हम भी अपनी आँखें खोलें ! कहते हैं, बिल्ली के बच्चों की आँखें कई दिनों तक बन्द रहती हैं, परन्तु

आखिर तो वह खुलती ही है। लेकिन आप अपनी आँखें कब तक बन्द किये रहेंगे ?

आपके आँखें खोलने का अर्थ यह है कि आप अपने दुःख को भली-भाँति समझें। यानी यह जानो कि हमारा दुःख क्या है ? जब तुम अपना दुःख ही न समझोगे तब परमात्मा दुःख क्या नष्ट करेगा ? प्रकाश वही चाह सकता है जो अन्धकार को जानता हो। आप अपने दुःख को समझो परमात्मा तो दुःख निकन्दन है ही। अगर आप अपने असली दुःख को समझ पाएँगे, तो परमात्मा की प्रार्थना का प्रवाह कभी बन्द नहीं होगा। फिर निरन्तर और प्रमोद प्रार्थना जारी ही रहेगी।

'सूर्यातिशायि महिमाऽसि मुनीन्द्र ! लोके।'

अर्थात्–हे भगवन् तेरी महिमा सूर्य से भी अधिक है।

जो काम सूर्य से हो सकता है उसके लिए परमात्मा का स्मरण करने की क्या आवश्यकता है ? सूर्य से न हो सकने वाले कार्य के लिए ही परमात्मा को याद करना उचित है। जो अँधेरा सूर्य से नहीं मिट सकता, उसे मिटाने के लिए ही परमात्मा की प्रार्थना करना बुद्धिमत्ता है।

आज के लोग इन्द्रिय भोग की पूर्ति के साधन को ही धर्म मान बैठे हैं, इसी भ्रम के कारण गड़बड़ में पड़ जाते हैं। ईश्वर से भी ऐसा ही दुःख मिटाने की प्रार्थना करते हैं। मगर ऐसी प्रार्थना करना ईश्वर को न समझने का प्रमाण है।

अब देखना चाहिए कि सूर्य कौन-सा प्रकाश नहीं कर सकता, जिसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करना उचित है ?

कदाचित् सूर्य का प्रकाश अन्तरात्मा को प्रकाशित कर सकता होता, सूर्य के प्रकाश से अन्तरात्मा के पाप धुल जाते होते, तो ससार में चोरी-जारी न रहती, पुलिस और कचहरियां भी न रहतीं और न सत्सग या धर्मोपदेश की आवश्यकता ही रहती। लेकिन सूर्य से यह काम न हो सका। धूर्त मन को, बेवकूफ इन्द्रियों को और मिथ्याचारिणी बुद्धि को नियंत्रित करके इन पर विजय पाने का काम सूर्य से नहीं हुआ। तभी परमात्मा से प्रार्थना करने की आवश्यकता हुई कि-'हे प्रभो ! यह काम तेरे सिवा और कोई नहीं कर सकता।'

भक्त कहते हैं-प्रभो ! मेरा हृदय ही वह भूमिका है, जिस पर दु ख का विकराल विषवृक्ष उगता, अङ्कुरित होता और फूलता फलता है। मगर मैंने अभी तक यह भी न जान पाया था। ज्ञान का अभिमान तो मुझे बहुत था, मगर अपने हृदय का हाल भी मुझे मालूम नहीं था। मैं बाहर के पदार्थों में ही दु ख देखा करता था, मगर तेरा दर्शन पाकर मुझे निश्चय हो गया है कि दु ख का बीज मेरे अन्त.करण में है-बाहर नहीं।'

मित्रो ! क्या अन्तरात्मा के विकारों का नाश करना अपना कर्त्तव्य नहीं है ? आप गृहस्थ हैं, इस लिए गृहस्थी के दु ख से घबराकर भी शान्ति चाहते हैं, लेकिन बाह्य शान्ति न चाहकर आन्तरिक शान्ति चाहो। आन्तरिक शान्ति ही असली, परिपूर्ण और शाश्वत शान्ति है। आन्तरिक शान्ति प्राप्त होने पर मनुष्य की सकल कामनाएँ भी सफल हो जाती हैं, त्रिलोक की सम्पदा दासी बन जाती है।

बाह्य विभूति, ऋद्धि-सिद्धि, सम्पदा कुटुम्ब-परिवार आदि शान्ति और सुख के माने जाने वाले साधन पारमार्थिक शान्ति नहीं दे सकते। इतना ही नहीं, बल्कि इनके निमित्त से अशान्ति ही पल्ले पड़ती है। पर-पदार्थों के साथ जितना अधिक संयोग होगा, उतनी ही व्याकुलता बढ़ेगी और जहाँ व्याकुलता है वहाँ शान्ति कहाँ? पर-निर्भर रहने वाले को सदैव अशान्ति का अनुभव करना पड़ता है। आध्यात्मिक दृष्टि से—तात्त्विक विचार से देखो तो आत्मा के अतिरिक्त सभी सांसारिक पदार्थ पर हैं और उनके साथ आत्मीयता का सम्बन्ध न जोड़ने में ही सुख और शान्ति है। यही आन्तरिक शान्ति है।

उदाहरणार्थ—कल्पना कीजिए, एक आदमी को भयानक बीमारी है। वह बीमारी भीतरी है। बीमार मनुष्य के सामने एक वैद्य खड़ा है और एक धनिक खड़ा है। वैद्य कहता है—तू भीतर की बीमारी मिटाने के लिए मुझसे दवा ले। मैं तुझे दवा देता हूँ। धनिक कहता है—तू मुझ से अच्छे-अच्छे कपड़े और गहने ले ले, पर तेरा रोग नहीं जाने दूगा। बीमार को धनिक की यह बात जँचेगी?

"नहीं!"

अब एक तीसरा आदमी कहता है—'मैं ऐसा उपाय करूँगा कि तेरे-बाहर के कपड़े आदि भी हो जाएँगे और भीतर का रोग भी चला जायगा।' यह बात रोगी को पसन्द आएगी या नहीं?

'पसन्द आएगी।'

मतलब यह है कि भीतरी शान्ति के बिना बाहरी शान्ति किसी काम नहीं आती। अलंकारिक भाषा में रावण की लंका

सोने की कही जाती है, इसका यह अर्थ तो है ही कि रावण के पास सम्पत्ती की कमी नहीं थी। उसे ऊपरी वैभव असीम प्राप्त था, मगर भीतरी विकार नहीं दबा तो पलंग पर पड़ा हुआ भी वह 'हाय सीता, हाय सीता' करता था। वह विकार के वश होकर अपनी अपार सम्पदा को और मन्दोदरी आदि को तुच्छ मानता था। इस प्रकार उसका संताप ही उसे दुःख दे रहा था। यह आंतरिक शान्ति न होने का कारण है। वह बाह्य शान्ति पाकर भी आन्तरिक शान्ति नहीं पा सका और अन्त में आन्तरिक अशान्ति की धधकती हुई धूनी में उसकी सम्पूर्ण बाह्य शान्ति भी भस्म हो गई।

इस उदाहरण से आप समझ लीजिए कि आप रावण की तरह अपना दुःख मिटाना चाहते हैं या राम की तरह ?

रावण की तरह दुःख मिटाने के लिए कौन दुःखों के अग्नि-कुण्ड में प्रवेश करना चाहेगा ? अगर कोई इस प्रकार से अपना दुःख मिटाना चाहता है तो उसे संतों का उपदेश सुनने की क्या आवश्यकता है ?

मुकुट राम के सिर पर भी था और रावण के सिर पर भी। किन्तु राम का मुकुट हृदय की शुद्धि के लिए था और रावण का दूसरों को दुःख देने के लिए। दोनों के जीवन के अंतिम परिणाम को देखो कि उनमें कितना अन्तर पड़ गया। एक ने असीम, अनन्त और शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त की और दूसरे को नारकीय यातनाओं का अतिथि बनना पड़ा। फिर भी आप बाह्य वैभव को ही शान्तिदाता मानते हैं ?

राम ने अन्त में कहा था—

नाहं रामो न मे वाञ्छा, विषयेषु न च मे मनः ।
शान्ति मिच्छामि जिनो यथा ॥

राम कहते हैं—तुम जिस दृष्टि से मुझे राम कहते हो, मैं वह राम नहीं, न मुझ में वह वाञ्छा ही है । मैं माया की गोदी में रमने वाला राम नहीं हूँ । अब मैं त्रिगुणातीत होना चाहता हूँ-त्रिगुण में नहीं रहना चाहता । म अपनी आत्मा में शान्ति चाहता हूँ । जैसी शान्ति जिन भगवान् ने प्राप्त की, वैसी ही शान्ति मैं भी प्राप्त करना चाहता हूँ ।

राम ने आत्मिक शान्ति प्राप्त करने के लिए जिन का ध्यान किया है अर्थात् राग-द्वेष मिटाने की चेष्टा की है । अगर तुम अपनी आत्मा को शान्त बनाना चाहते हो तो हृदय में उठते हुए क्रोध और काम को हटाओ । रावण की तरह बाह्य शान्ति प्राप्त करने पर हृदय मे काम-क्रोध की भयकर अशान्ति का उदय होगा और उस अशान्ति मे बाहरी शान्ति भी समाप्त हो जायगी ।

सारांश यह है कि परमात्मा की प्रार्थना द्वारा अगर आप दुःख मिटाना चाहते हैं तो पहले दुःखों को समझना होगा । जब तक आप दुःखो का असली स्वरूप नहीं समझ लेते, तब तक दुःखों का नाश भी नहीं हो सकता । असली दुःख आन्तरिक ही है । बाहरी तो कोई दुःख ही नहीं है । आन्तरिक विकारो को नष्ट करने का यत्न करो, फिर देखोगे कि दुखों की जड़ ही उखड़ गई है ।

खट-पट में पड़े रहने पर भी लोभ को जीते बिना और काम-क्रोध को मारे बिना भी सुख मिल सकेगा यह समझना भूल है । माँगने से ही कोई वस्तु नहीं मिलती । हाँ कद्र जरूर घट

जाती है। ऐसी हालत मे माँग कर इज्जत गँवाने से क्या लाभ है? विश्वास रक्खो, ईश्वर के दरबार में संतोष करके रहोगे तो रोटी दौड़ कर आएगी। संसार में बड़े कहलाने वालों के भी घर गया हुआ और शान्ति से बैठने वाला, न मांगने पर भी भूखा नहीं रहता, तो क्या ईश्वर के चरणों मे बैठ कर भूखे रहोगे? संतोष रख कर कल्याण-कामना करोगे तो अवश्य कल्याण होगा। गीता में कहा है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।'

मनुष्य को कर्त्तव्य करने का अधिकार है, फल माँगने का अधिकार नहीं है। कर्त्तव्य करो और फल की चाह से बचो, तो सच्ची शान्ति मिलेगी।

संसार के अन्यान्य व्यापारों की तरह धर्म भी व्यापार बन गया है। लोग चाहते हैं—इधर धर्म करें और उधर तत्काल फल मिल जाय। उधार धर्म किस काम का? ऐसे ही एक कवि ने कहा है--

मने रोटला आपो राम, जदि भजूं तमारो नाम।
चार अंधेरी चार सवेरी चार दोपहरी आरा॥
एटला माही चूक पडे तो मेलो थारी माला॥
छाछड़ा तीरथ राबड़ो तीरथ तीरथ घुगरां बाकरा।
विचले विचले रोटलो तीरथ वड़ो तीरथ अगाकड़ा॥

इस प्रकार की क्षुद्र भावनाओं के साथ की हुई प्रार्थना सार्थक नहीं होती। प्रार्थना का प्रयोजन महान् है, उच्च है, उज्ज्वल है। मानव जीवन के चरम साध्य साश्वत मुक्ति के लिए

ही परमात्मा की प्रार्थना करनी चाहिए। जो इस निर्मल और निर्विकार भाव से प्रभु की प्रार्थना करते हैं, समस्त कल्याण उन्हें खोजते हुए आते हैं।

परमात्मा की महिमा इतनी अधिक है कि प्रत्येक ईश्वर प्रेमी उसका साक्षात्कार करना चाहता है, कभी-कभी भक्त जनों के हृदय में ईश्वर के लिए इतनी तीव्र व्याकुलता पैदा हो जाती है कि न पूछिए बात। भारत का संत-साहित्य देखने से यह बात स्पष्ट मालूम हो जायगी। ऐसी अवस्था में यह एक महत्त्व पूर्ण प्रश्न है कि ईश्वर का साक्षात्कार किस प्रकार हो सकता है?

भौतिक दृष्टि से ईश्वर नहीं देखा जा सकता। यह संभव नहीं कि हम अपने बाह्य नेत्रों से ईश्वर का रूप निरख लें, ऐसा होता तो सभी के लिए वह प्राप्त होता। ईश्वर को देखने के लिए ज्ञान दृष्टि की आवश्यकता है। ईश्वर के विषय में सिद्धान्त कहता है—

'चंदेसु निम्मलयरा आइच्चेसु अहियं पयासयरा।'

अर्थात्—भगवान् चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल और सूर्य से भी अधिक प्रकाश करने वाला है। तात्पर्य यह है कि अगर ईश्वर को नहीं देखा तो चन्द्रमा को तो देखा है? ईश्वर चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल है। सूर्य को प्रति दिन देखते हो? ईश्वर का प्रकाश सूर्य से भी अधिक है।

सूर्य का प्रकाश सारे संसार को व्याप्त कर लेता है तो जो ईश्वर सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान है, क्या वह दूर होगा?

सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रभु, चिदानन्द चिद्रूप ।
पवन शब्द आकाश थी, सूक्ष्म ज्ञानसरूप ।
अनत जिनेश्वर नित नमूँ ॥

वह अनन्त परमात्मा कहाँ और कैसा है ? उसके अनन्त रूप-शक्तियाँ हैं । यह स्थूल सूर्य भी पदार्थ को स्पर्श न करे तो उसे प्रकाशित नहीं कर सकता, तो ईश्वर के साथ एक मेक हुए बिना ईश्वरीय प्रकाश किस प्रकार मिल सकता है ?

सूर्य का पता लगाने के लिए पहले स्थूल वस्तु देखी । सोचा-यह वस्तु रात में दिखाई नहीं देती थी और अब दिखाई देने लगी है । इससे सिद्ध है कि सूर्योदय हो गया । ऐसा विचार करने से सूर्य को न देखने वाला भी सूर्योदय का पता लगा लेता है । इसी प्रकार ईश्वर के संबंध मे विश्वास करो कि अभी अज्ञान है, इस कारण बड़ी-बड़ी वस्तुएँ भी दिखाई नहीं देतीं, परन्तु ज्ञान ज्यों-ज्यों बढ़ेगा त्यों-त्यों ईश्वर का भी रूप दिखाई देता जायगा ।

बचपन मे सूक्ष्म और पेचीदा बातें समझ में नहीं आती थीं । मोटी और सीधी बात ही समझ में आती थी । अब बड़े होने पर बहुत-सी बातें समझ में आने लगी हैं । बालक जो कुछ भी देखता है, आत्मा की ही शक्ति से देखता है । आत्मा की शक्ति ही विभिन्न स्रोतों के द्वारा प्रवाहित होती है । लेकिन उसकी आत्मा बुद्धि और उसका मन अधिक विकसित नहीं है । इनका विकास होने पर वही बालक सूक्ष्म बातें भी समझने लगता है ।

एक आदमी विद्याध्ययन द्वारा चर्मचक्षु को नहीं, हृदय की आँख को खोलता है । दूसरा मूर्ख बना हुआ है । इन दोनों की दृष्टि

में अन्तर रहता है या नहीं ? मूर्ख मनुष्य केवल दीखने वाली मौजूदा चीज को ही देखता है और विद्वान् पुरुष भूत, भविष्य और वर्तमान सभी को जानता है। सात भोंयरों के भीतर बैठा हुआ भी ज्योतिषी चन्द्र-सूर्य-ग्रहण का जो समय बतला देता है, उसी समय ग्रहण होता है। उसने ग्रहण को चर्म-चक्षुओं से नहीं देखा वरन् विद्याध्ययन से हृदय के जो नेत्र खुल गये हैं, उनसे देखा है। इन नेत्रों का जब अधिक विकास होता है—साधना के द्वारा आत्मज्ञान हो जाता है तब परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है।

'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् जिस विद्या से सब प्रकार के बन्धन कट जाते हैं, वही सच्ची विद्या है। इस विद्या की तरफ ध्यान दिया जाय तो बारीक से बारीक चीज भी दिखाई देने लगेगी। आत्मा के सब आवरण हट जाएँगे। बन्धन कट जाएँगे। आत्मा पूर्ण और मुक्त हो जायगा। इस स्थिति में स्वतः भान होने लगेगा कि—'अयं परमात्मा मम्याहं।' अर्थात् मैं ही परमात्मा हूँ।

आत्मा में ईश्वर का प्रकाश तो मौजूद है, लेकिन थोड़ी भूल हो रही है। भूल यही कि जिस ओर मुँह करना चाहिए, उस ओर मुँह न करके विपरीत दिशा में कर रक्खा है।

एक सूर्य पूर्व में उदित हुआ है। एक व्यक्ति पश्चिम की ओर मुँह करके खड़ा है। उसकी परछाई पश्चिम में पड़ रही है। अपनी परछाई देखकर वह व्यक्ति उसे पकड़ने दौड़ता है। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता है, परछाई भी आगे बढ़ती है। वह खीझकर परछाई पकड़ने दौड़ता है तो परछाई भी उसी तेजी के साथ

आगे-आगे दौड़ती जाती है। किसी तरह भी परछाई हाथ नहीं आती।

इस व्यक्ति की परेशानी किसी ज्ञानी ने देखी। उसने दया-लुता प्रेरित होकर कहा—'भाई, तू करता क्या है? क्यों इस प्रकार भाग रहा है?

भागने वाला बोला—'मैं अपनी छाया पकड़ने के लिए दौड़ रहा हूँ, मगर वह हाथ नहीं आती। मैं जितना दौड़ता हूँ, छाया भी उतनी ही दौड़ लगा देती है।'

ज्ञानी ने कहा—'छाया को पकड़ने का उपाय यह नहीं है। तू पूर्व की ओर मुँह करके आगे बढ़ तो तेरी छाया भी तेरे पीछे-पीछे हो लेगी। तू अपना मुँह बदल लेगा तो तुझे छाया के पीछे भागने की आवश्यकता नहीं रहेगी, बल्कि छाया तेरे पीछे भागेगी।'

भागने वाले ने अपना मुँह फेरा और पूर्व की ओर भागने लगा। परछाई भी उसके पीछे-पीछे भागने लगी। इस प्रकार पहले वह छाया के पीछे दौड़कर परेशान हो रहा था, फिर भी छाया हाथ नहीं आती थी, अब छाया ही उसके पीछे दौड़ने लगी।

इस उदाहरण का अभिप्राय यह है कि अगर तुम आत्मा और परमात्मा की ओर दृष्टि न लगा कर माया के पीछे दौड़कर उसे पकड़ना चाहोगे तो माया तुम से दूर रहेगी। माया के दूर रहने का अर्थ यह है कि तृष्णा कभी नहीं मिटेगी। परन्तु आत्मा एवं परमात्मा पर दृष्टि दोगे तो माया तुम्हारे पीछे उसी प्रकार दौड़ेगी, जिस प्रकार सूर्य की ओर दौड़ने से परछाई पीछे-पीछे

दौड़ती है। माया के पीछे भागने से तृष्णा कभी नहीं मिटती। इसके लिए एक उदाहरण लीजिए—

एक मनुष्य किसी सिद्ध महात्मा के पास पहुँचा। महात्मा ने कहा—'मनुष्य शरीर सुलभ नहीं है।' धर्म क्रिया करो। धर्म का आचरण न किया तो शरीर किस काम का, आगत मनुष्य ने कहा—'महाराज! घर में तो बाल-बच्चे हैं। उनका पालन-पोषण करना पड़ता है। संसार की स्थिति विषम से विषमतर होती जा रही है। सारे दिन दौड़ धूप करने के बाद भर पेट खाना मिल पाता है। कहीं कुछ आजीविका का प्रबंध हो जाय-घर का काम चलने लगे तो धर्मध्यान करूँ?

महात्मा ने पूछा—'तुझे प्रतिदिन एक रुपया मिल जाय तब तो तू भगवान् का भजन किया करेगा?

आगत मनुष्य ने प्रसन्न होकर कहा—ऐसा हो जाय तो कहना ही क्या है? फिर तो मैं ऐसा भजन करूँ कि ईश्वर और मैं एक-मेक हो जाऊँ।'

महात्मा ने उसका हाथ ले एक का अंक उस पर लिख दिया। उसे किसी भी प्रकार प्रतिदिन एक रुपया मिल जाता था। एक रुपया रोज में वह खाता-पीता और अपनी सन्तान का पालन पोषण करता। मगर उससे अब पहले जितना भी भजन नहीं होता था।

एक दिन फिर उन्हीं महात्मा से मिला। महात्मा ने उससे कहा—'आज कल तू क्या करता है? अब भी भजन नहीं करता।'

वह बोला—'हाँ महाराज, अच्छी याद दिलाई आपने। आपने एक रुपया रोज का प्रबंध कर दिया है, मगर आप ही सोच देखें कि एक रुपया रोज में खाने-पीने, कपड़े-लत्ते स्त्री के गहने आदि का खर्च किस प्रकार निभ सकता है।'

महात्मा ने पूछा—'फिर चाहता क्या है?'

उसने कहा—'महाराज और कुछ नहीं, दस रुपया रोज मिल जाय तो खर्च बखूबी चल सकता है।'

महात्मा—'दस रुपया रोज मिलने पर तो भगवान का भजन किया करेगा? फिर गड़बड़ तो नहीं करेगा?'

उसने उत्तर दिया—'नहीं महाराज! फिर काहे की गड़बड़। इतने में तो मजे से काम चल जायगा।'

महात्मा ने उसके हाथ पर एक का जो अंक बना दिया था, उसके आगे एक शून्य और बढ़ा दिया। अब उसे प्रतिदिन दस रुपये अर्थात् तीन सौ रुपया मासिक मिलने लगे। उसने अपना काम खूब बढ़ा लिया। कहीं कोई दूकान, कहीं कोई कारखाना चलने लगा। नतीजा यह हुआ कि उसे तनिक भी फुर्सत न मिलती। स्त्री कहने लगी-घर में अच्छे दिन आये हैं तो मेरी भी कुछ सुध लोगे या नहीं? स्त्री के ऐसे आग्रह से उसके लिए भी आभूषण बनने लगे। उसके रहन-सहन का पैमाना (Standard) भी ऊँचा हो गया। विवाह-सगाई भी ऊँची हैसियत के अनुसार ही होने लगी।

कुछ दिनों के पश्चात् फिर उसे महात्मा मिले। बोले आज कल तुझे दस रुपया रोज मिलते हैं, अब क्या करता है? अब भी तू भजन नहीं करता!'

उसने उत्तर दिया—'दीनदयाल! खूब स्मरण दिलाया आपने, आपने मुझे दस रुपया रोज पाने की जो शक्ति दी है मैं उसका दुरुपयोग नहीं करता'। आप हिसाब देख लीजिए, इतने से तो कुछ होता नहीं! संसार में बैठे हैं। गृहस्थी का भार सिर पर है। इज्जत के माफिक ही सब काम करने पड़ते हैं।'

महात्मा बोले—'मैंने दस रुपये रोज का प्रपंच बढ़ाने के लिए दिये थे या घटाने के लिए?'

उसने कहा—'करुणानिधान! गृहस्थी में प्रपंच के सिवाय और क्या चारा है? प्रपंच न करें तो काम कैसे चले?'

महात्मा—'फिर तू क्या चाहता है?'

वह बोला—आपकी दया। आपकी दया हो जाय और कुछ आमदनी बढ़ जाय तो जीवन सफल हो।'

महात्मा ने उसके हाथ पर एक बिन्दु और बढ़ा कर सौ रुपया रोज कर दिये। अब उसे प्रतिदिन सौ, महीने में तीन हजार और वर्ष भर में छत्तीस हजार रुपये मिलने लगे। इतनी आमदनी होते ही उसका काम धंधा और बढ़ गया। मोटर, बग्घी और तांगे दौड़ने लगे। पहले कदाचित् अवकाश मिलने की जो

संभावना थी वह भी अब जाती रही, वह इतनी उलझनों में फँस गया कि उसे महात्मा को मुँह दिखलाना भी कठिन हो गया।

आज के श्रीमंत भी आत्मकल्याण में कितना समय व्यतीत करते हैं? वह समझते हैं मानों हमारी सृष्टि ही अलग है। गरीबों और अमीरों की दो भिन्न-भिन्न सृष्टियाँ हैं।

६

प्रार्थना

श्री महावीर नमूं वर नाणी।

यह भगवान् महावीर की प्रार्थना है। प्रार्थना आत्मा को आनन्ददायिनी वस्तु है। प्रत्येक प्राणी और विशेषतः मनुष्य को प्रार्थनामय जीवन बनाना आवश्यक है। त्यागीवर्ग यानी साधु-सन्तों को ही नहीं, किन्तु पतित से पतित जीवन बिताने वालों को भी परमात्मा की प्रार्थना करके जीवन को पवित्र और पवित्रतर बनाने का अधिकार है। संसार में जिसे पापी कह कर लोग घृणित समझते हों, ऐसे घोर पापी, गो, ब्राह्मण, स्त्री और बालक के घातक, चोर, लवारी, जुआरी और वेश्यागामी अथवा पापिनी, दुराचारिणी और दुष्कर्म करने वाली स्त्री को भी परमात्मा की प्रार्थना का आधार है।

इस प्रकार जो प्रार्थना त्यागी और भोगी, सदाचारी और दुराचारी, सज्जन और दुर्जन, पापी और पुण्यात्मा-सभी को समान रूप से आधारभूत है, गुणदायिनी है, उस प्रार्थना में कैसी शक्ति है? एकाग्र-चित्त होकर प्रार्थना में ध्यान लगाने से ही इस प्रश्न का समाधान हो सकता है। प्रार्थना का वास्तविक

मूल्य और महत्व प्रार्थनामय जीवन बनाने से ही मालूम हो सकता है। प्रार्थना चाहे सादी भाषा में हो या शास्त्रीय शब्दों में हो, उसका आशय यही होता है कि.—

गो ब्राह्मण प्रमदा बालक की मोटी हत्याचारो।
तेनो करणहार प्रभु भजने होत हत्या से न्यारो ॥ पदम प्रभु० ॥
वेश्या चुगल छिनाल कसाई चोर महा बटमारो।
जो इत्यादि भजे प्रभु ! तो ने तो निवृत्ति संसारो ॥ पद्म० ॥

जो वस्तु इतनी पावन है, उसकी महिमा जीभ से किस प्रकार कही जा सकती है ? जीभ में बुद्धि में और मन में प्रार्थना की महिमा प्रकट करने की शक्ति कहाँ ? संसार ने जिसकी अवहेलना कर दी है, लोग जिसका मुँह देखना पाप समझते हैं और जिसे पास में खड़ा भी नहीं रहने देना चाहते, ऐसे पापी को भी जो प्रार्थना पवित्र बना देती है, और ऐसा पवित्र बना देती है कि उसकी घृणा करने वाले लोग ही उसकी प्रार्थना करने लगते हैं, तथा प्रार्थना करके अपना जीवन सफल मानने लगते हैं, उस प्रार्थना की महिमा अगाध है। उसकी महिमा कौन कह सकता है ?

परमात्मा की प्रार्थना में इतनी पावनी शक्ति है। फिर भी जो लोग प्रार्थना में न लग कर गंदी बातों में जीवन लगाते हैं, उन-सा मूर्ख और कौन होगा ? परमात्मा की प्रार्थना में न धन खर्च करने की आवश्यकता है, न कष्ट सहन करने की ही। हृदय को शुद्ध करके परमात्मा पर विश्वास रख कर उसका स्मरण करना

ही प्रार्थना है। ऐसे सरल उपाय का अवलम्बन करके कौन विवेकशील पुरुष पवित्र न बनना चाहेगा ?

प्रार्थना किसे पवित्र नहीं बना सकती ? जो पानी राजा की प्यास बुझा कर उसके प्राण बचाता है, वही पानी क्या एक अधर्मी की प्राण रक्षा न करेगा ? जो अन्न राजा, महाराजा, तीर्थंकर, अवतार आदि सबके प्राणों की रक्षा करता है, वह क्या कनिष्ठ प्राणी के पेट में जाकर उसकी रक्षा नहीं करेगा ? अन्न की कीमत चुकानी पड़ती है और पानी भी बिकने लगा है, लेकिन पवन प्राणरक्षा करता है या नहीं ? और वह सभी के प्राणों की रक्षा करता है या किसी-किसी के ही प्राणों की ? अगर थोड़ी देर तक ही पवन नाक में न आवे तो क्या जीवनरक्षा हो सकती है ? नहीं। ऐसी दशा में मरण के सिवाय और क्या शरण है ? पवन स्वयं नाक में आता और प्राण बचाता है। इस प्राणरक्षक पवन की कोई कीमत नहीं देनी पड़ती। जहाँ मनुष्य है, वहीं वह आ जाता है। यही नहीं, वरन् कई बार लोग उसकी अवहेलना करते हैं, उसे रोकने की चेष्टा करते हैं, तब भी वह नाक में आ ही जाता है। उदाहरणार्थ—बुखार आने पर रोगी के परिचारक उसे अनाप-सनाप कपड़े ओढ़ा देते हैं। ऐसा करना पवन रुकने के कारण स्वास्थ्य के लिए घातक है। फिर भी पवन किसी न किसी मार्ग से पहुँच कर नाक में घुसता ही है और जीवन देता है।

जैसे पवन की कीमत नहीं देनी पड़ती, फिर भी वह जीवन देने वाला है, उसी तरह प्रार्थना भी जीवन देनेवाली है और उस की भी कीमत नहीं देनी पड़ती। लेकिन लोग शायद यह चाहते

हैं कि जिस तरह पवन स्वयं ही आकर हमारी नाक में घुस जाता है, उसी तरह प्रार्थना भी स्वयं आकर हमारे हृदय में घुस जाय। और शायद इसी विचार से वे परमात्मा की प्रार्थना नहीं करते। उन्हें प्रार्थना के लिए समय नहीं मिलता, गन्दी और निरर्थक बातों के लिए समय मिल जाता है। जिन कामों से गालियाँ खानी पड़ती हैं, बुराइयाँ पैदा होती हैं और आत्मा पर संकट आ पड़ता है, ऐसे कामों के लिए समय की कमी नहीं है, समय की कमी सिर्फ प्रार्थना के लिए है।

आप कहेंगे कि हम प्रार्थना करने में कब प्रमाद करते हैं? तो मैं सब से अलग-अलग न पूछ कर सभी से एक साथ पूछता हूँ कि आप लोग जब रेल में बैठ कर कहीं जाते आते हैं, तब वहाँ कोई काम नहीं रहता। फिर भी उस समय में से कितना समय प्रार्थना में लगाया है और कितना निरर्थक गप्पों में? कभी आपने इस बात पर विचार भी किया है? उस खाली समय में क्यों प्रार्थना करना भूल जाते हो? कितने मनुष्य ऐसे हैं जो एकान्त तन्मयता से प्रार्थना करते हैं और प्रार्थना करते समय उन का रोम-रोम आह्लाद का अनुभव करता है? दर्पण में मुँह देखने की तरह सभी लोग अपने-अपने को देखो कि हम कितना समय प्रार्थना में लगाते हैं और कितना समय रगड़ों-झगड़ों में में खर्च कर देते हैं?

लोग कहते हैं—भगवान् के भजन के लिए समय नहीं मिलता। मैं कहता हूँ—भजन के लिए जुदा समय की आवश्यकता ही क्या है? भजन तो चलते, फिरते, उठते बैठते समय भी किया जा सकता है। आपका बाहरी जीवन किसी भी काम में लगा हो,

लेकिन अगर आपके अन्तःकरण में प्रार्थना का संस्कार है तो प्रार्थना करने से विघ्न उपस्थित नहीं होगा।

कई लोग प्रार्थना करते हैं, मगर सांसारिक लालसाओं से प्रेरित होकर। किन्तु ज्ञानी पुरुष कहते हैं-संसार की सम्पद्-विपद् मत मानो, संसार सम्बन्धी लालसा से रहित होकर परमात्मा का भजन होना सम्पद् है और भजन न होना ही विपद् है।

गई सो गई अब राख रही को। आप लोग आगे से अपना जीवन प्रार्थनामय बनाइए। आपका हृदय समाधान पाया हो और आपको कल्याण करना हो तो दूसरी सब बातें भूल कर अखण्ड प्रार्थना की आदत डालो। ऐसा करने से तुम देखोगे कि थोड़े ही समय में अपूर्व आनन्द का अनुभव हो रहा है।

ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि अखण्ड प्रार्थना करने वाले को सदैव योग-क्षेम रहता है। अप्राप्त वस्तु का प्राप्त होना योग कहलाता है और प्राप्त वस्तु की रक्षा को क्षेम कहते हैं। योग और क्षेम के लिए ही आप दौड़ धूप मचाते हैं और ईश-प्रार्थना से यह प्रयोजन सहज ही सिद्ध हो जाता है। अखण्ड प्रार्थना करने वाले को योग और क्षेम की चिन्ता ही नहीं रहती।

ऐसा होते हुए भी आपका मन प्रार्थना पर विश्वास नहीं पकड़ता और रात-दिन बुरे कामों में व्यस्त रहता है। मूल्यवान मनुष्य-जन्म इस प्रकार बर्बाद होते देख कर ज्ञानियों को दुःख होता है, जैसे कीमती रत्न को समुद्र में फेंकते देख जौहरी को दुःख होता है। जौहरी जैसे रत्न का मूल्य जानता है। इसी प्रकार

ज्ञानी पुरुष मानवजीवन का मूल्य समझते हैं। इसी लिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं।

खयाल आता है मुझे दिलजान तेरी बात का।
फिकर तुझको है नहीं आगे अन्धेरी रात का॥
जोवन तो कल ढल जायगा दरियाव है बरसात का।
बेर कोई न खायगा उस रोज तेरे हाथ का॥

ज्ञानी अपनी हार्दिक वेदना इस कविता द्वारा प्रकट करते हैं। वह कहते हैं—प्यारे भाई! हमे तेरी दशा देख कर बहुत ही खयाल होता है कि तू अपना जीवन वृथा बर्बाद कर रहा है। तुझे जरा भी ध्यान नहीं है कि आगे चल कर मौत का और संकटों का सामना करना होगा! तू अपनी जवानी के जोश में भविष्य को भूल रहा है, मगर वह तो वर्षा से आने वाली नदी का पूर है। अधिक दिन ठहरने को नहीं। अतएव जल्दी चेत। वर्त्तमान में न भूल, भविष्य की ओर देख।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ वृथा बातें अधिक करती हैं। परनिंदा और आलोचना में जो समय लगता है, उतना समय अगर परमात्मा के भजन में लगे, तो फिर बेड़ा पार हो जाय। एक वेश्या को भी अपना जीवन उन्नत बनाने का अधिकार है तो क्या श्राविका को यह अधिकार नहीं है? घर का काम काज करते हुए भी भगवान् का भजन किया जा सकता है। फिर आत्मा को उस ओर क्यों नहीं लगातीं? आज अपने मन में दृढ़ संकल्प करलो कि बुरी और निकम्मी बातों की ओर से मन हटा कर भजन और प्रार्थना में

ही मन लगाना है। जो बात बड़े-बड़े ग्रंथों में कही गई है, वही मैं आप से कह रहा हूँ। गीता में कहा है —

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो स ॥

दुराचारी हो भी अनन्य भाव से परमात्मा का भजन करता है उसे साधु होने में देर नहीं लगती। जिसने दुराचार किया है, उसे हमेशा के लिए हिम्मत हार कर नहीं बैठ जाना चाहिए।

आशंका हो सकती है कि—यह कैसे सम्भव है कि महापापी भी साधु बन सकता है? इसका समाधान यह है कि क्या संसार में यह बात प्रसिद्ध नहीं कि ताँबे में जरा-सी रसायन डालने से वह सोना बन जाता है और पारस के संसर्ग से लोहा भी सोना हो जाता है? हाँ बीच में पर्दा हो तो बात दूसरी है। इसी प्रकार भजन में भी पर्दा हो तो बात न्यारी है। कहावत है —

सुणिया पिण सरध्या नहीं, मिटा न मन का मोह।
पारस से भेंट्या नहीं, रहया लोह का लोह ॥

जैसे पारस और लोहे के बीच में कागज का पर्दा रह जाय तो लोहा सोना नहीं बनता, उसी प्रकार हृदय में जब तक पाप का पर्दा है, तब तक भजन से काम नहीं बन सकता। अतएव अपने हृदय के पर्दों को देखो। वृथा बातों से काम नहीं चल सकता और न कपट से ही काम हो सकता है।

बहुत से लोग माला फेरते और भजन करते तो देख पड़ते हैं, लेकिन उनके भजन करने का उद्देश्य क्या है? भगवान् की भक्ति

करने के लिए भजन करते हैं या भगवान् को नौकर रखने के लिए? भगवान् के होकर उसे भजते हैं या कनक कामिनी के लिए? जो भगवान् का बन कर भगवान् को भजता है, उसे किसी वस्तु की कामना नहीं रहेगी। चाहे उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ, फिर भी वह परमात्मा से बचाने की प्रार्थना नहीं करेगा। ऐसे कठिन और संकट के समय भी उसकी प्रार्थना यही रहेगी कि—हे प्रभो! मुझे ऐसा बल दीजिए कि मैं तुझे न भूलूँ।

गजसुकुमार मुनि के सिर पर सोमल ने आग रखदी। फिर भी मुनि ने यह नहीं कहा कि 'हे नेमिनाथ भगवान्! मुझे बचाओ, मैं तेरा भक्त हूँ।' मुँह से गजसुकुमार मुनि की गाथा गाई जाय और हृदय में मारण-मोहन आदि की कुविद्या चलती रहे, यह तो भगवान के भजन को लजाना है। ऐसा करने वालों ने भगवान् का मजाक उड़ाया है और ईश्वर का फजीता किया है। यों तो परमात्मा के भजन से शूली भी सिंहासन बन जाती है, लेकिन भक्त यह कामना नहीं करता। गजसुकुमार मुनि चाहते, कि आग ठंडी हो जाय या सोमल अशक्त हो जाय तो क्या ऐसा न हो जाता? मगर वह तो सोचते थे कि मुझे जल्दी मुक्ति प्राप्त करनी है और सोमल मेरी सहायता कर रहा है। आप बड़े चाव से गाते हैं—

वसुदेवजी का नन्दन धन धन गजसुकुमार ॥
रूपे अति सुन्दर कलावन्त वय बाल ।
सुन नेमजी री वाणी छोड्यो मोह जंजाल ॥
भीखू री पडिमा गया मसाणे महाकाल ।
देखी सोमल कोप्यो मस्तक बाँधी पाल ॥

खेर ना खीरा सिर ठविंया असराल ।
मुनि नजर न खंडी मेटी मनड़ा री भाल ॥
परीषह सहि नें मोक्ष गया तत्काल ।
भावे करि वन्दू दिन में सौ सौ वार ॥

क्षमा और शान्ति का ऐसा उत्कृष्ट उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलेगा ? गजसुकुमार मुनि की क्षमाशीलता की कथा संसार के इतिहास में अद्वितीय है ।

मित्रो ! यह बात आपका हृदय कहता हो तो इस पर कुछ विचार करो कि—जिनके पिता वसुदेव थे, माता देवकी थी और श्रीकृष्ण भाई थे, उनकी छत्रछाया में रहने वाले गजसुकुमारजी भगवान् नेमीनाथ से मुनिदीक्षा लेकर, श्मशान में जाकर ध्यान करने लगे । उनका ध्यान यही था कि मैं कब इस शरीर के बंधन से मुक्त होऊँ । मुनि ध्यान में मग्न थे कि उसी समय वहाँ सोमल आ गया । मुनि पर नजर पड़ते ही सोमल का क्रोध भड़क उठा । क्रोध का कारण यही था कि इसने मेरी लड़की से विवाह नहीं किया । यद्यपि विवाह करना या न करना अपनी मरजी पर है और उस लड़की को इच्छानुसार करने का अधिकार था, फिर भी सोमल ने मुनि पर यह अभियोग लगाया । अगर गजसुकुमार मुनि सोमल पर भी अभियोग लगाते, तो जीत उन्हीं की होती । मगर उन्होंने दावा नहीं किया । उनमें इतना सामर्थ्य था कि अगर वह जरा-सा घुड़क देते तो भी सोमल के प्राण छूट जाते । मगर उन्हें तो सिद्ध करना है कि उन्होंने सोमल को अपकारी नहीं, उपकारी माना ।

क्षमासागर गजसुकुमार की भावना थोड़ी देर के लिए भी आप में आ जाय तो कल्याण होते देर नहीं लगेगी। मगर आप यहाँ की खटपट में वहाँ की बात भूल रहे हैं। आप यह नहीं देखते कि आपकी आत्मा कल्याण के मार्ग से किस प्रकार दूर ही दूर होती जा रही है। आज वही होशियार माना जाता है जो ज्यादा बोल सके और लड़कर जीते, लेकिन संसार के किसी भी बड़े से बड़े नेता से पूछो कि गजसुकुमार में इतना ज्यादा सामर्थ्य होने पर भी उन्होंने सोमल से बदला नहीं लिया, तो बतओ बड़ा कौन रहा ? आज के होशियार बड़े हैं या गजसुकुमारजी महान् हैं ? आज के लोग लड़ाई झगड़े करके विजय चाहते हैं, छल-कपट में ही वीरता मानते हैं। ऐसे वास्तविकता के समय में आप के भाग्य अच्छे हैं कि आपके सामने गजसुकुमारजी का आदर्श है, जिसके कारण आप और लोगों की तरह गैस या बम फेंक कर लोगों की जान नहीं लेना चाहते। अब जरा मन को सावधान करके देखो कि गजसुकुमार मुनि ने क्या भावना की थी ? वह कहते थे कि —

सुसरो सुभागी म्हाने पगड़ी बंधावे।

जब सोमल सिर पर धधकते अंगार रखने के लिए चिकनी मिट्टी की पाल बाँध रहा था तो महामुनि गजसुकुमार कहते थे— मेरे पगड़ी बाँध रहा है। धन्य मुनि ! धन्य है तुम्हारी उत्कृष्ट भावना ! धन्य है तुम्हारी क्षमाशीलता !!

लोगों को पुरानी और फटी पोशाक बदलने में जैसा आनंद होता है, वैसा ही आनन्द ज्ञानी को मृत्यु के समय—शरीर

बदलते समय होता है। जीवन भर आचरण किये हुए तप, संयम आदि का फल मृत्यु-मित्र की सहायता के बिना प्राप्त नहीं होता।

गजसुकुमारजी सोचते थे—जिसके लिए घर छोड़ा, माता-पिता का त्याग किया, संसार के सुखों की उपेक्षा की, राज-पाट को तुच्छ गिना और भगवान् नेमिनाथ के पास दीक्षा धारण की, उस उद्देश्य की सिद्धि में विलम्ब हो रहा था। लेकिन इस भाई ने आकर मुझे सहायता पहुँचाई है। अब मेरा प्रयोजन जल्दी पूरा हो जायगा।

अगर आप गजसुकुमार सरीखे नहीं बन सकते, तो उनके भक्त ही बनो। गजसुकुमार बनने की भावना रक्खो।

शंका की जा सकती है कि मुनि मे और धर्म में अनन्त शक्ति है तो फिर अंगार ठंडे क्यों नहीं हो गये? इस शंका का उत्तर यह है कि यदि गजसुकुमार मुनि इच्छा करते तो आग अवश्य ठंडी हो जाती। पर उन्होंने ऐसी इच्छा ही नहीं की। आपको किसी आवश्यक काम से कहीं जाना हो और रेल निकल गई हो। इसी समय कोई मोटर वाला आपसे कुछ लिए बिना ही आपको उस स्थान तक पहुँचाने लगे तो आप उस मोटर का बिगाड़ चाहेंगे या कुशल चाहेंगे? इसी प्रकार गजसुकुमार को मोक्ष में पहुँचना है, जिसके लिए उन्होंने दीक्षा ली है। मगर मोक्ष पहुँचने में देरी हो रही है। एकाएक सोमल वहां आ पहुँचता है। वह गजसुकुमार को जल्दी ही मोक्ष में पहुँचाने का उपाय करता है। ऐसी अवस्था में मुनि अङ्गार ठंडे करके अपनी अभीष्ट सिद्धि में विघ्न क्यों डालेंगे?

गजसुकुमार मुनि की इस ऊँची भावना को यदि हृदय स्वीकार करता हो तो इसे बार-बार अपनाओ। प्रार्थना में तुच्छ वस्तुओं की कामना न करो। यही सोचो कि-'हे भगवान्! तू और मैं एक ही हैं।'

ज्यों कंचन तिहु काल कहीजे, भूषण नाम अनेक रे प्राणी।
त्यों जग जीव चराचर योनी है, है चेतन गुण एक रे प्राणी॥

निश्चय नय का अवलम्बन करने से वस्तु का असली स्वरूप समझ में आयगा। आचार्य कहते हैं:—

य परमात्मा स एवाहं, योऽहं सः परमस्तथा।
अहमेव मयाऽऽराध्यः, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥

इस श्लोक में 'सोऽहम्' का तत्त्व ही व्यक्त किया गया है। जो परमात्मा है, वही मैं हूँ, जो मैं हूँ वही परमात्मा है। ऐसी स्थिति में मैं ही मेरा आराध्य हूँ, अन्य कोई नहीं।

इस प्रकार की शुद्ध मानसिक स्थिति प्राप्त होने पर सकल कामनाओं का कचरा अन्त करण से हट जाता है और उज्ज्वल कल्याण का द्वार खुल जाता है।

७

परमात्मा व्यापक है।

श्री आदीश्वर स्वामी हो, प्रणमूं सिर नामी तुम भणी।

यह भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना है। प्रार्थना मेरा नित्य का विषय है। अगर एक प्रार्थना करने का कार्य भी अन्त तक-चरम-सीमा तक पहुँचा दिया जाय तो 'एकहि साधे सब सधे' की कहावत के अनुसार मनुष्य के समस्त मनोरथ सफल हो सकते हैं।

प्रार्थना में कितनी शक्ति है और किस प्रयोजन से प्रार्थना करनी चाहिए, इस विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है। लोगों के संस्कार और अभ्यास अलग-अलग होने से रुचि भी उनकी अलग-अलग है, लेकिन कोई चीज ऐसी भी होती है, जो समान रूप से सभी को रुचती है। उदाहरणार्थ—पानी किसे नहीं रुचता? हवा किसे नहीं चाहिए? प्रकृति की सारी चीजें सब को रुचती हैं और यदि किसी को नहीं रुचतीं, तो समझना चाहिये कि उसके जीवन का अन्त निकट आ गया है। इसी प्रकार धर्म सम्बन्धी दूसरी बातों की रुचि में अन्तर हो सकता है, लेकिन प्रार्थना तो हवा और पानी के समान सभी के लिए आवश्यक है। जिसमें प्रार्थना की गति न रही, छूट गई, भूल गई या रुचि न रही, समझना चाहिए कि उसके धार्मिक-जीवन का अन्त आ पहुँचा है।

उच्च भावना से सदा-सर्वदा प्रार्थना करो। मत समझो कि प्रार्थना पुरानी बात हो गई है। आज पर प्रार्थना भी नयी ही है। नवीन स्फूर्ति और नवीन उत्साह के साथ प्रार्थना करोगे तो प्रार्थना नित्य नयी जान पड़ेगी। उससे नित्य नया आनन्द प्राप्त होता है। जिसमें जीवन है, उसके लिए प्रार्थना पुरानी कभी होती ही नहीं। जिसमें जीवन ही नहीं है, उसकी बात निराली है।

ऊपरी दृष्टि से देखने पर भी मालूम होगा कि—भगवान् ऋषभदेव के झंडे के नीचे समस्त भारत आ जाता है। दूसरे अवतारों और तीर्थंकरों के मानने में तो मतभेद भी हो सकता है, लेकिन भगवान् ऋषभदेव के मानने में मतभेद नहीं है। प्राचीन हिन्दू पुराणों में भी भगवान् ऋषभदेव की उतनी ही प्रशंसा पाई जाती है, जितनी जैन शास्त्रों में है। यही नहीं, वेद में भी भगवान् ऋषभदेव का वर्णन आता है। संस्कृत के कवियों ने भगवान् ऋषभदेव के विषय में जो भाव व्यक्त किये हैं, उनके द्वारा वे संसार में महान् से महान् प्रकट किये गये हैं। भक्तामर स्तोत्र में आचार्य मानतुंग कहते हैं —

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम्।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकम्,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः॥

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धिबोधात्,
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्।

धाताऽसि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥

प्रभो ! तेरे अनेक रूप हैं। किस-किस रूप में तेरी स्तुति की जाय ? तू अव्यय है। तेरा कभी नाश नहीं—तू अविनाशी है। ऐसा होने पर भी तू किसी एक स्थान पर नहीं रहता, किन्तु विभु अर्थात् व्यापक है। जैसे आकाश सभी जगह है, उसी प्रकार तू भी सभी जगह है। जिस प्रकार आकाश अनन्त है, उस प्रकार तू भी ज्ञानघन होने से अनन्त है। तू साधारण जनों के चिन्तन में नहीं आता। तू आद्य है, ब्रह्मा है, ईश्वर है। संसार में एक से एक उत्तम योगी हुए हैं, मगर तू उन सब में योगीश्वर है। सन्त पुरुष तुझे ज्ञान रूप-चेतनास्वरूप और निर्मल रूप में देखते हैं।

प्रभो ! तू बुद्ध है क्योंकि विबुध अर्थात् देवता भी तेरे बोध ज्ञान की पूजा करते हैं। प्रभो ! तू शंकर है, क्योंकि तीन लोक का कल्याणकारी है। प्रभो ! तू विधाता है, क्योंकि तू ने मोक्ष मार्ग का विधान किया है। प्रभो ! तू इन सब गुणों के कारण पुरुषोत्तम भी है।

भगवान् अविनाशी और विभु है। तब क्या आपने उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा है ? समझते होओगे—सम्बन्ध नहीं जोड़ा है तो सामायिक क्या यों ही करते हैं ? या साधुपन क्या यों ही लिया है ? लेकिन सामायिक करना और साधु बनना और बात है तथा परमात्मा को विभु और अविनाशी समझ कर उससे सम्बन्ध जोड़ना और बात है। वर्दी पहिनने वाले सभी सिपाही वीर नहीं होते। वीर कोई विरला ही होता है। इस प्रकार परमात्मा

को अविनाशी और विभु जानने वाले वीर भी कुछ और ही होते हैं।

परमात्मा को अविनाशी और विभु जानने का प्रमाण है—पाप में प्रवृत्ति न करना। जिसे परमात्मा की नित्यता और व्यापकता पर विश्वास होगा, उससे पापकर्म कदापि न होगा। आपके साथ राजा का सिपाही हो, तब आप क्या चोरी करेंगे? आपको भय रहेगा कि सिपाही देखता है, चोरी कैसे करें? इसी प्रकार जिसने परमात्मा को व्यापक जान लिया वह किसी के साथ कपट कैसे कर सकता है? जब कभी उसके हृदय में विकार उत्पन्न होगा और कपट करने की इच्छा का उदय होगा, तभी वह सोचेगा—ईश्वर व्यापक है, उसमें भी है, मुझ में भी है। मैं कैसे कपट करूँ? मैं जो ठगाई या बुराई करना चाहता हूँ उसे परमात्मा देख रहा है। ऐसी स्थिति में मैं कैसे इस-पाप में प्रवृत होऊँ?

परमात्मा की सच्ची प्रार्थना करके हमें इस उच्च स्थिति तक पहुँचना है। एक कथानक के द्वारा यह बात सरलता से समझ में आयेगी। उससे आप जान सकेंगे कि हम क्या कर रहे हैं और वास्तव में हमें क्या करना चाहिए?

एक गुरु के पास दो व्यक्ति शिष्य बनने के लिए गये। गुरु के पास पहुँचकर उन्होंने निवेदन किया—महाराज! हम आपकी विद्या, बुद्धि और शक्ति की प्रशंसा सुन कर आकर्षित हुए हैं और आपके शिष्य बन कर सब विद्याएँ प्राप्त करना चाहते हैं। कृपा करके आप हमें अपना शिष्य बनाइये।

गुरु को शिष्य का लोभ नहीं था। अतएव उसने कहा—आप को चेला बनना सरल मालूम होता है पर मुझे गुरु बनना कठिन जान पड़ता है इसलिए पहले परीक्षा कर लूँगा।

आप लोग रुपये बजा-बजा कर लेते हैं और बहिनें हंडियाँ ठोक-बजा कर लेती हैं। ऐसा न करने से बाद में कभी-कभी पछताना पड़ता है और उपालम्भ सहना पड़ता है। इसी प्रकार चेले खराब निकले तो गुरु को उपालम्भ मिलता है। यों तो भगवान् का शिष्य जमाली भी खराब निकला, परन्तु पहले जाँच पड़ताल कर लेना आवश्यक है।

ऐसा विचार कर गुरु ने उन दोनों से कहा—'पहले परीक्षा कर लूँगा, फिर शिष्य बनाऊँगा।'

शिष्य—जी, ठीक है। परीक्षा कर देखिए।

गुरु ने कोठरी में जाकर एक मायामय कबूतर बनाया और बाहर आकर चेले से कहा—इसे ले जाओ और ऐसी जगह मार लाओ, जहाँ कोई देखता न हो।

पहले चेले ने कबूतर हाथ में लिया और सोचा—"यह कौन कठिन काम है, ऐसी जगह बहुत हैं, जहाँ एकान्त है—कोई देखता नहीं और मारना तो कबूतर ही है, कोई शेर तो मारना है नहीं।" यह सोचकर वह कबूतर को ले गया और किसी गली में जाकर उसने कबूतर की गर्दन मरोड़ डाली। मरा हुआ कबूतर लेकर वह गुरु के पास आया। बोला—"लीजिए, गुरुजी, यह मार लाया। किसी ने देखा नहीं।"

गुरु ने कहा—तुम शिष्य होने योग्य नहीं। अपने घर का रास्ता पकड़ो।

चेला—क्यों, मैं अयोग्य कैसे ? मैंने ठीक तरह आपकी आज्ञा का पालन किया है।

गुरु—नहीं, तूने मेरी आज्ञा का पालन नहीं, उल्लंघन किया है।

चेला—मगर आज्ञा तो कबूतर को मारने की ही दी थी आपने ! और मैंने उसका पूरी तरह पालन किया है।

गुरु—लेकिन मैंने यह भी तो कहा था कि ऐसी जगह मारना जहाँ कोई देखता न हो। कोई देखता न हो, यहाँ 'कोई' में तो सभी शामिल हो जाते हैं। मारने वाला तू, मरने वाला कबूतर और परमात्मा-जो विभु है-वह भी 'कोई' में शामिल है। जब तुमने कबूतर मारा तो तुम स्वयं देखते थे, कबूतर देखता था और ईश्वर भी देखता था। इन सब के देखते कबूतर को मारने पर भी किस प्रकार तुमने मेरी आज्ञा का पालन किया है ?

चेला अविनीत था। कहने लगा—ऐसा ही था तो आपको पहले ही साफ-साफ बता देना चाहिए था। पहले मारने की आज्ञा दी और जब मार लाया तो कहने लगे कि आज्ञा का उल्लंघन किया है ! आप कैसे गुरु हैं, मैं अब समझ गया।

गुरु—मैंने स्पष्टीकरण नहीं किया था, फिर भी तुम्हें तो समझना चाहिए था। यह सुन कर चेला और ज्यादा भड़का। गुरु ने अन्त में कहा—भैया, तुम जाओ। मैं तुम्हारा गुरु बनने योग्य नहीं हूँ।

गुरु ने दोनों नवागन्तुक शिष्यों को अलग-अलग जगह बिठला दिया था। एक से निपट कर वह दूसरे शिष्य के पास पहुँचे। उसे भी वही कबूतर दिया और पहले की तरह मार लाने की आज्ञा दी।

शिष्य कबूतर लेकर चला। वह बहुत जगह फिरा—खेतों में गया, पहाड़ों में घूमा और अन्त में एक गुफा में घुसा। गुफा में बैठ कर वह सोचने लगा—यह जगह एकान्त तो है, मगर गुरुजी का अभिप्राय क्या है? उनकी आज्ञा यह है कि जहाँ कोई न देखे, वहाँ मारना। मगर यहाँ भी मैं देख रहा हूँ, कबूतर देख रहा है और सर्वदर्शी परमात्मा भी देख रहा है। गुरुजी दयालु हैं। मालूम होता है उन्होंने अपने आदेश में कबूतर की रक्षा करने का आशय प्रकट किया है, मारने का नहीं। चाहे उनके शब्द कुछ भी हों, मगर उन शब्दों से अखंड दया का ही भाव निकलता है, मारने का नहीं।

जिसमें इतनी सहज बुद्धि हो, वही शास्त्र का गम्भीर अर्थ समझने में समर्थ होता है। वासना से मलीन हृदय शास्त्र का पवित्र अर्थ नहीं समझ सकता।

शिष्य सोचने लगा—गुरुजी ने कबूतर की रक्षा की शिक्षा देने के साथ ही यह भी जता दिया है कि एकान्त में ही गम्भीर विषय समझ में आता है। गुरुजी ने जो कुछ कहा था, उस पर मैंने एकान्त में विचार किया तो मालूम हुआ कि संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ परमात्मा न देखता हो। जब परमात्मा सब जगह है तो हिंसा किस जगह की जा सकती है? इस तरह गुरुजी ने मुझे परमात्मा का भी दर्शन कराया है। उन्होंने अपने आदेश

द्वारा परमात्मा की विभुता का भान कराया है। दयालु गुरुजी ने प्रारम्भ में ही कितनी सुन्दर शिक्षाएँ दी हैं।

शिष्य प्रसन्न-चित्त और कबूतर को सुरक्षित लिए गुरु के पास लौट आया। गुरुजी भीतर ही भीतर अत्यन्त प्रसन्न हुए। लेकिन ऊपर से बनावटी क्रोध प्रदर्शित करते हुए कहने लगे- 'प्रथमग्रासे मक्षिकापात।' तुमने तो मंगलाचरण ही बिगाड़ दिया। मेरी पहली आज्ञा का पालन नहीं किया तो आगे चल कर क्या निहाल करोगे। तुम शिष्य होने के अयोग्य हो, अपना रास्ता नापो।

शिष्य—आप जो कहेंगे, वही होगा। लेकिन मुझे मेरी अयोग्यता समझा देंगे तो कृपा होगी। अयोग्य तो हूँ इसी कारण आपको गुरु बनाना चाहता हूँ।

गुरु—मैंने यह कबूतर मार लाने के लिए कहा था या नहीं?

शिष्य—जी हाँ, मगर साथ ही यह भी तो कहा था कि जहाँ कोई न देखे, वहाँ मारना। मैं जगह-जगह भटका—खेतों में गया, पहाड़ों में गया और गुफा में गया। किन्तु ऐसा कोई स्थान नहीं मिला जहाँ कोई देखता न हो। लाचार हो वापस लौट आया।

गुरु—गुफा में कौन देखता था?

शिष्य—प्रथम तो मैं ही देख रहा था, दूसरा कबूतर स्वयं देख रहा था और तीसरा परमात्मा देख रहा था। गुफा में जाकर मैंने विचार किया तो मालूम हुआ—आपकी आज्ञा मारने के लिए नहीं, रक्षा करने के लिए है। आपने मुझे ईश्वरीय ज्ञान दिया है। अगर आप मुझे शिष्य रूप में स्वीकार करेंगे तो आपकी असीम कृपा होगी। मैं तो आपको गुरु बना ही चुका हूँ। आपने पहली

आज्ञा द्वारा जो तत्त्व समझाया है, वह अकेला ही जीवनशुद्धि के लिए पर्याप्त हो सकता है। लेकिन थोड़ा-सा ज्ञान मिल जाता तो मेरा आचार चमकने लगता।

गुरु ने उसे छाती से लगाया, सिर पर हाथ फेरा और कहा— तू ज्ञानी, ध्यानी और ईश्वर को समझने वाला सच्चा जिज्ञासु शिष्य है। मैं तुझे ज्ञान दूँगा। अगर तूने ईश्वर को सब जगह न माना होता तो गुरु तेरे साथ कहाँ-कहाँ फिरता ! तूने ईश्वर की साक्षी स्वीकार करली है, अब तुझमें पाप का प्रवेश नहीं होगा।

यह दृष्टान्त हमें अपने ऊपर घटाकर देखना चाहिए। हम भी किसी के शिष्य बने हैं या नहीं ? बने हैं तो पहले शिष्य की तरह या दूसरे शिष्य की तरह ? आप कह सकते हैं—हम साधु नहीं, श्रावक हैं। ठीक है, मगर श्रावक तो हैं न ? साधु को साधुता की और श्रावक को श्रावकता की परीक्षा देनी होगी।

जब किसी कन्या के साथ आपका विवाह हुआ होगा तब कुंकुमपत्रिका भेजकर सगे-सम्बन्धियों को बुलाया होगा। मंगलगान हुआ होगा। बाजे बजे होंगे। और देव, गुरु, धर्म की साक्षी से विवाह जग-जाहिर हुआ होगा। अतएव यह प्रसिद्ध हो चुका कि आप पति हुए और कन्या पत्नी हुई। अब सांसारिक प्रथा के अनुसार आपको कोई दोषी नहीं कह सकता। अलबत्ता, विवाह होने पर भी सावधानी की आवश्यकता है। विवाह का उद्देश्य चतुष्पद बनना नहीं, चतुर्भुज बनना है। विवाह पाशविकता का पोषण नहीं करता वरन् उसे सामर्थ्य का पोषक होना चाहिए। जो काम अकेले से नहीं हो सकता था, वह दोनों मिलकर करें, इसी अभिप्राय से विवाह किया जाता है। विवाह करने पर भी

धर्म का विकास और ब्रह्मचर्य की रक्षा करना विवाहित नर-नारी का कर्त्तव्य है। ऋतुकाल के समय के अतिरिक्त दूसरे समय वीर्य का नाश करना अनुचित है। लेकिन मैं यह बताता हूँ कि आप देव, गुरु और धर्म की सत्ता भूल कर उन्हें धोखा देने की निष्फल चेष्टा करते हैं।

जब कोई दुराचारी परस्त्रीगमन करता है तो क्या कुंकुमपत्रिका भेजी जाती है? मंगल गान होता है? किसी की साक्षी दी जाती है? ऐसे समय किसी स्त्री को गाने के लिए बुलाया जाय तो क्या वह आएगी? और बताशे के बदले रुपया देने पर भी वह गाएगी? कदापि नहीं क्योंकि जहाँ कपट और दम्भ को स्थान दिया जाता है और ईश्वर को भूलकर पाप किया जाता है। पापाचार का सेवन लुक छिप कर किया जाता है। उस समय सब की आँखों में धूल डालने का प्रयत्न किया जाता है। मगर किसका सामर्थ्य है जो ईश्वर की दृष्टि से बच कर पाप का सेवन कर सके? ईश्वर सर्वदर्शी है। कौन उसकी निगाह से बाहर हो सकता है? जिसे ईश्वर की व्यापक सत्ता का ध्यान होगा, वह छिपकर भी पापाचार करने की चेष्टा नहीं करेगा। ईश्वर को विभु मानने वाला परस्त्री को माता व बहिन के रूप में ही देखेगा—पाप की दृष्टि से नहीं।

आप पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन न कर सको तो भी परस्त्री के विषय में जिस नियम से बन्धे हो उसका तो पालन करो। परस्त्री गमन का त्याग तो करना ही चाहिए। यह मर्यादा भी साधारण नहीं है। शास्त्र इस मर्यादा की भी भूरी-भूरी प्रशंसा करते हैं। गृहस्थाश्रम में रहने वालों को भी भगवान् ने देशत शीलवान

कहा है, मगर परस्त्रीगमन का त्याग करने पर ही यह पद प्राप्त होता है। शीलव्रत की महिमा देवता भी गाते हैं। उसके सामने भयङ्कर विषधर साँप भी फूल की माला के समान बन जाते हैं।

परस्त्री को माता मानने वाले महापुरुष के चरित्र इस बात के साक्षी हैं कि संसार में रहते हुए भी जो परस्त्री को माता मानते हैं, उनका कल्याण हो जाता है। इतिहास और शास्त्र में ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद हैं।

शिवाजी महाराष्ट्र का एक शक्तिशाली पुरुष हो गया है। इसके विषय में कहा जाता है—'शिवाजी न होते तो सुन्नत होती सब की।' अब देखना चाहिए कि शिवाजी में कौन-सा गुण था, जिसके कारण वह छत्रपति कहलाया? एक सिपाही का लड़का होकर भी एक बड़े राज्य का स्वामी बन गया और हिन्दू धर्म का रक्षक माना गया? और शिवाजी का लड़का संभाजी किस दुर्गुण के कारण शिवाजी से अधिक बलशाली होकर भी बुरी मौत से मारा गया?

शिवाजी परस्त्री को माता मानता था पर संभाजी में यह सद्गुण नहीं था। एक बार शिवाजी किसी गुफा में बैठा हुआ ईश्वर का भजन कर रहा था। उसके एक सरदार ने किसी दूसरे सरदार को जीत लिया। पराजित सरदार की स्त्री अतीव सुन्दरी और रूपवती थी। अपनी खैरख्वाही दिखलाने के लिए सरदार उस स्त्री को शिवाजी की स्त्री बनाने के लिए पकड़ लाया। उसने सोचा—"ऐसा रमणीरत्न पाकर शिवाजी की प्रसन्नता का पार नहीं रहेगा और मेरी पद-वृद्धि होगी।" ऐसा सोच कर सरदार उसे सिंगार कर उस गुफा पर लाया, जिसमें शिवाजी भजन कर

रहा था। भजन-कार्य समाप्त कर शिवाजी बाहर आया। स्त्री पर नजर पड़ते ही वह सारी बात समझ गया। उसने रुष्ट होकर सरदार से कहा—'मेरी इस माता को यहां किस लिए लाए हो ?'

सरदार सिर से पाँव तक काँप उठा। यद्यपि वह स्त्री भी शिवाजी की पत्नी बनने की स्वीकृति ले चुका था, परन्तु शिवाजी का उत्तर सुन कर वह हक्का-बक्का रह गया। आखिर वह स्त्री पालकी में बैठा कर जहाँ की तहाँ पहुँचा दी गई।

शिवाजी के पुत्र सभाजी में यह बात नहीं थी। वह सुरा और सुन्दरी का भक्त था। यद्यपि वह पराक्रम में शिवाजी से भी बढ़कर था, लेकिन सुरा-सुन्दरी की लोलुपता के अवगुण ने उसका नाश कर डाला।

एक बार जोधपुर का वीर राठौड़ दुर्गादास औरंगजेब के लड़के को शरण दिलाने के लिए उसे साथ लेकर सभाजी के यहां गया। सभाजी ने उसका सत्कार किया। दुर्गादास सभाजी के दरबार में बैठा ही था कि सदा के नियमानुसार वहां शराब चलने लगी। यह हाल देख कर और शिवाजी के उत्तराधिकारी के इस पतन का विचार कर उसे बड़ी ही निराशा हुई। उसने सोचा—जो स्वयं ही सुरक्षित नहीं है, वह दूसरे को क्या शरण देगा ? शराब दुर्गादास के सामने भी आई। दुर्गादास ने पीने से इन्कार कर दिया। सभाजी ने शराब की प्रशंसा के पुल बाँधते हुए बहुत आग्रह किया, मगर दुर्गादास ने शराब की घोर निन्दा करते हुए सभाजी का आग्रह अस्वीकार कर दिया।

दुर्गादास एक मकान में ठहराए गए। रात का समय था, वह बैठे बैठे ईश्वर का भजन कर रहे थे और अपने भविष्य के

विषय में विचार कर रहे थे कि इतने में ही एक नवयुवती भागती और रक्षा के लिए चिल्लाती हुई उधर से आ निकली। सभाजी हाथ में तलवार लिये उसके पीछे था। दुर्गादास ने नवयुवती को अपने मकान में आश्रय दिया। सभाजी ने पहुँच कर कहा—'मेरे शत्रु को आश्रय देने वाला कौन है?' दुर्गादास ने दृढ़ता के स्वर में कहा—'मैं, दुर्गादास हूँ और अपने जीते जी इसकी रक्षा करूँगा।' संभाजी कुछ ढीले पड़े। बोले—'तुम उसे मेरे सिपुर्द करदो।' दुर्गादास बोले—'महाराज, यह असभव है। मैं शरणागत का त्याग नहीं कर सकता।' सभाजी कामान्ध था और अब आन का भी कुछ खयाल हो आया। वह लड़ने पर उतारू हो गया और बोला—'अच्छा, अपनी तलवार हाथ में लो।' दुर्गादास ने अविचलित स्वर में कहा—'आपको इतना होश है कि निरस्त्र पर अस्त्र नहीं चलाते पर इस अबला के पास कौन-सा शस्त्र था कि आप उससे लड़ने चले हैं।'

दुर्गादास ने सभाजी की तलवार छीन ली, इतने में उसके बहुत से साथी आ गये और सभाजी की आज्ञा से उन्होंने दुर्गादास को पकड़ लिया। यद्यपि दुर्गादास अकेले ही उन सब के लिए काफी थे, मगर उन्होंने बखेड़ा करना उचित नहीं समझा। कहते हैं-तब तक वह नवयुवती अपने ठिकाने पहुँच भी चुकी थी।

सभाजी के पास औरंगजेब का एक जासूस किबलेखा रहता था। वह उसे सुरा और सुन्दरी में प्रवृत्त किया करता था। उसने सभाजी से दुर्गादास को माग लिया, सभाजी ने दुर्गादास को उसके सिपुर्द कर दिया। उसने बन्दी के रूप में दुर्गादास को औरंगजेब के सामने पेश कर दिया और कहा-'आप जिस

बहुत दिनों से पकड़ लेना चाहते थे, वह दुर्गादास कैद हो गया है। उसे मैं पकड़ लाया हूँ। औरंगजेब बहुत प्रसन्न हुआ। औरंगजेब ने कहा—अच्छा, बन्दीगृह में इसे रख दो। कल विचार करेंगे।

दुर्गादास कारागार में बन्द कर दिया गया। औरंगजेब की बेगम गुलनार ने उदयपुर की लड़ाई में दुर्गादास को देखा था। उसकी तेजस्विता और वीरता देख बेगम उस पर मोहित हो गई थी। बेगम को जब दुर्गादास के कैद होने का समाचार मिला, तो उसे अपना बहुत दिनों का मनोरथ पूर्ण होने की आशा हुई। उसने बादशाह के पास जाकर कहा—'जहाँपनाह! कैदी दुर्गादास को मेरे हवाले कर दीजिए। उसका फैसला मैं करना चाहती हूँ। मैं जो वाजिब समझूँगी, वही सजा उसे देदूंगी।'

बादशाह उसकी बात टाल नहीं सका। गुलनार की प्रसन्नता का पार न रहा। बेगम रात्रि के समय अपने लड़के को लेकर वहां गई, जहां दुर्गादास कैद था। लड़के को बाहर खड़ा रख कर गुलनार भीतर गई। उसने हाव-भाव दिखलाते हुए दुर्गादास से कहा—'आज बहुत दिनों बाद मन की मुराद पूरी हुई। अब आप मुझे स्वीकार कीजिए। अगर आपने मुझे स्वीकार कर लिया तो आज ही बादशाह को परलोक भेज कर आपको दिल्ली का बादशाह बना दूँगी। अगर आपने मेरी बात न मानी तो अभी गर्दन उड़वा दूँगी। मेरा लड़का नंगी तलवार लिये बाहर खड़ा है।'

ऊपर-ऊपर से देखोगे तो मालूम होगा कि धर्म का फल यह हुआ कि दुर्गादास के हाथों-पैरों में हथकड़ी-बेड़ियाँ पड़ी और मौत

का वक्त आया। मगर बात यहीं समाप्त नहीं होती। जरा और आगे देखो कि धर्म के प्रताप से किस प्रकार रक्षा होती है।

दुर्गादास ने गुलनार से कहा—माँ, तुम मेरी माँ हो। मुझे और कोई आज्ञा दो, उसका मैं पालन करूँगा। पर यह काम मुझसे न होगा। चाहो तो सिर ले सकती हो।

गुलनार—सावधान! तुम मुझे माँ कहते हो! अच्छा मरने के लिए तैयार हो जाओ।

दुर्गादास—मरने के लिए तैयारी की क्या आवश्यकता है? मरने का यह मौका भी ठीक है। मैं तैयार ही खड़ा हूँ।

गुलनार ने अपने बेटे को बुला कर दुर्गादास की गर्दन उड़ा देने की आज्ञा दी। दुर्गादास ने गर्दन आगे की और उसी समय वहाँ औरंगजेब का सिपहसालार आ गया। सिपहसालार ने दुर्गादास के कैद होने का समाचार सुना था। वह दुर्गादास की वीरता की कद्र करता था, अतएव मिलने के लिए चला आया था। उसने बेगम और दुर्गादास की बात सुनी थी। आते ही उसने गुलनार से प्रश्न किया—बेगम साहिबा! आप यहाँ कैसे?

बेगम—तुम यहाँ क्यों आये?

सिपहसालार—यह तो मेरा काम है। मैंने तुम्हारी सब बातें सुनी हैं। अबतक दुर्गादास को वीर ही समझता था, अब मालूम हुआ—वह बली भी है।

सिपहसालार ने दुर्गादास को कारागार से बाहर निकाला। उसकी प्रशंसा की और उसे जोधपुर रवाना करने की व्यवस्था कर दी।

दुर्गादास बोले—सिपहसालार साहब ! आप मुझे मुक्त कर रहे हैं, मगर बादशाह का खयाल कर लीजिए। ऐसा न हो कि मेरे कारण आपको दुःख सहन करना पड़े।

सिपहसालार—मैं किसी हद तक ही बादशाह का नौकर हूँ। आप खुशी से जाईए। यह कह कर सिपहसालार ने कुछ सवार और अपना घोड़ा देकर दुर्गादास को जोधपुर रवाना कर दिया।

दुर्गादास जोधपुर पहुँच गये। इधर गुलनार ने सोचा—'अब बेइज्जती से जीना अच्छा नहीं है।' और उसने जहर खाकर अपने प्राण त्याग दिए।

सभाजी को उसी किबलेखाँ के हाथों कैद होना पड़ा। उसने उसे औरंगजेब के सामने पेश किया और औरंगजेब ने सभाजी के हाथ-पैर कटवाकर उसे बड़ी बुरी तरह मरवा डाला। यह सब परस्त्री-गमन का ही परिणाम था।

परमात्मा को सदा सर्वत्र विद्यमान मानने वाला पुरुष पाप में कदापि प्रवृत न होगा और जो पाप में प्रवृत न होगा, वह कल्यण का भागी होगा।

८

नमस्कार मन्त्र

नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं ॥

यह जैनियों का नमस्कार मंत्र है। प्रत्येक जैनी, चाहे वह शिक्षित हो या अशिक्षित हो, इस मंत्र को कंठस्थ करता है और प्रतिदिन इसका पाठ करता है। समान रूप से सभी सम्प्रदाय इसे पवित्र मंत्र मानते हैं। अनेक कथाओं द्वारा इस मंत्र की महिमा बतलाई गई है। इस मंत्र में असीम शक्ति है। इसके जाप से समस्त पापों का नाश होता है और चित्त में अपूर्व समाधि उत्पन्न होती है। इस मंत्र का माहात्म्य प्रकट करते हुए कहा गया है —

एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

यह पंच नमस्कार समस्त पापों का विनाश करने वाला है और सब मंगलों में श्रेष्ठ मंगल है।

मंत्रों में कितनी शक्ति होती है, यह बात तो मंत्रवेत्ता ही जानता है। आचार्यों ने कहा है—'अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः' अर्थात् रत्नों मंत्रों का तथा औषधियों का प्रभाव इतना

अधिक है कि वह विचार से बाहर है। जब साधारण मंत्रों का प्रभाव भी अचिन्तनीय है तो नमस्कार मंत्र जैसे महामंत्र के और सर्वोत्तम मंत्र के प्रकृष्ट प्रभाव का मन के द्वारा किस प्रकार चिंतन किया जा सकता है? इस मंत्र से अपूर्व आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त होती है। संसार के अन्यान्य मंत्र इसी लोक में किंचित् लाभ पहुँचाते हैं, मगर नमस्कार मंत्र इस भव और परभव दोनों में लाभ कारक है। यह मंत्र आत्मा के काम, क्रोध आदि आत्मिक विष का नाशक है और स्वभाविक गुण रूप अनन्त सम्पत्ति का दाता है। इसके प्रभाव से आत्मा समस्त विकारों से विहीन बनता है। इस मंत्र की महिमा से मनुष्य की तो बात दूसरी, पशु भी देवत्व प्राप्त करता है।

णमोकार मंत्र का पहला पद 'नमो अरिहंताणं' है। महापुरुषों ने जैन धर्म का स्वरूप व्यापक बतलाया है। जैनधर्म किसी एक जाति, समाज या व्यक्ति का धर्म नहीं है जो इसे धारण करता है, उसी का यह धर्म है। इसके सभी सिद्धांत बहुत व्यापक, उपकारक और कल्याणकारक हैं। जो इस धर्म का पालन करे, वही जैन या जैनधर्मानुयायी है। प्रकृत् नमस्कार मंत्र में किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार नहीं किया गया है। इसमें गुण पूजा का आदर्श बतलाया गया है। महावीर, पार्श्वनाथ आदि नाम बाद में हैं, पहले तो असल में अरिहंत-मार्ग है। यह नाम उन महापुरुषों के हैं, जिन्होंने जैनधर्म का अनुसरण करके अपनी आत्मिक दशा चरम उन्नति पर पहुँचाई है। 'अरिहंत' कोई नाम विशेष नहीं है, वह तो आध्यात्मिक विकाश की उत्कृष्ट अवस्था का परिचायक गुणवाचक शब्द है। आत्मा के राग द्वेष रूपी मैल को जो दूर कर

देता है और जो सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता प्राप्त कर लेता है, वही अरिहंत है। ऐसे अरिहंत भगवंत को ही पहले पद में नमन किया गया है। जिसने ऐसी उन्नत अवस्था प्राप्त करली है, उसका नाम चाहे ब्रह्मा हो विष्णु हो महेश हो, बुद्ध हो, चाहे उसे इन्द्र धनेन्द्र आदि कुछ भी कहा जाय। जैन को नाम से कोई प्रयोजन नहीं, वह गुणों को मानता और पूजता है। अनेक जैनाचार्यों ने इस भाव को अपनी स्तुतियों में स्पष्ट रूप से प्रकट भी कर दिया है। प्रसिद्ध तार्किक अकलंकदेव कहते हैं—

> यो विश्वं वेद वेद्यं जननजलनिधेर्भङ्गिनः पारदृश्वा,
> पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलङ्कं यदीयम्।
> तं वन्दे साधुवन्द्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तं,
> बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा॥

अर्थात्—जो समस्त ज्ञेय पदार्थों के ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ हैं, जिसके वचनों में पूर्वापर विरोध नहीं है और निर्दोष हैं, जो समस्त आत्मिक गुणों की निधि बन गया है, जिसने राग-द्वेष आदि दोषों का ध्वंस कर दिया है—वीतराग है, उसका नाम चाहे कुछ भी हो—बुद्ध हो, वर्द्धमान हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो वही साधु पुरुषों द्वारा वन्दनीय है। उसे मैं वन्दन करता हूँ।

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

> यत्र तत्र समये यथा तथा, योऽसी सोऽस्यभिधया यया तया।
> वीतदोष कलुषः स चेद्भवान्, एक एव भगवन्नमोऽस्तु ते॥

अर्थात्—जिस किसी भी परम्परा में हो, चाहे सो हो, कुछ भी

नाम हो, अगर वह वीतराग है, तो उसे भगवान् को नमस्कार हो। भगवान् सब शास्त्रों से, सब नामों से ऊपर सर्वत्र एक ही है।

आशय यह है कि जो मुमुक्षु पुरुष आत्मिक साधना करने के लिए उद्यत हुआ है, आत्मा को निष्कलंक, निर्विकार और निर्दोष बनाना चाहता है, वह कभी नाम के झगड़े में नहीं पड़ेगा। उसे इन गुणों की पूर्णता जहाँ नजर आएगी, वहीं श्रद्धाभाव से नम्र हो जायगा वह अरिहंत की आराधना करेगा क्योंकि अरिहंत वही है, जिसने पूर्ण निर्दोषता प्राप्त करली है, जिसके आवरण हट गये हैं जिसमें दिव्य शक्ति का आविर्भाव हो गया है। वह फिर किसी भी जाति का हो, किसी भी कुल का हो। वह व्याख्या इतने में ही समाप्त नहीं हो जाती। इसके विचार में सारे संसार का विचार आ जाता है। किसी का यह अहंकार व्यर्थ है कि हम ही जैन हैं या जैनधर्म हमारा ही है। राग-द्वेष दूर करके आत्मिक गुण प्राप्त करने वाले जिन हैं और उनका बतलाया हुआ मार्ग जिनमार्ग या जैनधर्म है। यह बात दूसरी है कि प्रकृति के दोष से आज धर्म के नाम पर लड़ाई होती है और जैनों का पारस्परिक राग द्वेष दूर करना भी कठिन हो रहा है। किन्तु धर्म का इसमें कोई दोष नहीं है। दोष प्रकृति का और तत्त्व न समझने का है।

मान लीजिए, एक आदमी ने समुद्र मथ कर एक अमूल्य रत्न निकाला और किसी दूसरे को दे दिया। वह दूसरा मूर्ख मनुष्य उस रत्न से अपना या किसी दूसरे का सिर फोड़ दे तो उसमें रत्न निकाल कर देने वाले का क्या दोष है? रत्न निकाल कर देने वाले का यह उद्देश्य नहीं था। यह तो उसकी मूर्खता है कि उसने अमूल्य रत्न का ऐसा दुरुपयोग किया। इसी प्रकार

जिन महापुरुष ने घातिक कर्मों को नष्ट करके, संसार मथ कर धर्म का रत्न हाथ में दिया है, उन्होंने तो उपकार ही किया है, किन्तु पीछे वाले उसी धर्म से अपना और दूसरे का सिर फोड़ने लगें तो इसमें धर्म का क्या दोष है ? जिस धर्म ने राग-द्वेष को जीतने का उपदेश दिया, मनुष्य मात्र से नहीं, पशु पक्षियों से ही नहीं, कीट–पतगों और एकेन्द्रीयों जीवो से भी प्रेम करना सिखाया, विश्वमैत्री की प्रबल प्रेरणा की, उसी धर्म के नाम पर लड़ना और सिर फूटवौल करना कितनी लज्जा की बात है ? क्या धर्म लड़ाई करना सिखलाता है ? जिस धर्म ने विश्वशाति के अमोघ साधन के रूप में अहिंसा और क्षमा आदि का वरदान दिया है, किसी के प्रति मन में दुर्भाव लाना भी पाप बतलाया है, उसी धर्म के नाम पर माथाफोड़ी ! जो धर्म अपने में जगत् को धारण किये हैं, जो मृत्युलोक को पुण्य भूमि बनाने के लिए हैं, उसी धर्म के नाम पर जब नारकीय दृश्य दिखाई देते हैं तो परिताप की सीमा नहीं रहती। इसका मूल कारण यह है कि लोग स्वार्थ लोलुप होकर अपने लाभ के लिए धर्म के नाम का दुरुपयोग करते हैं और साधारण जनता की धर्मभावना को गलत रास्ते पर ले जाकर उसे भड़काते है। वे इस प्रकार धर्म को बदनाम करते है। जिसके हृदय में धर्म की सच्ची भावना होगी, वह धर्म से शान्ति-अलौकिक शान्ति प्राप्त करेगा। अलौकिक शाति पाने में ही धर्म पाने की सार्थकता है।

मित्रो ! धर्म के असली रहस्य तक पहुँचने का प्रयास करो। धर्म को उसके वास्तविक रूप में समझकर ऐसी ज्योति प्रकट करो कि जहाँ वैर हो वहाँ भी शाति की ही झलक दिखाई देने लगे।

जहाँ गले कटते हों वहाँ गले से गले मिलने लगें। प्रत्येक प्राणी प्रेम प्रदर्शित करने लगे और विश्व प्रेम की अखण्ड ज्योति जगने लगे। ऐसा होने पर ही समझना कि हमने धर्म को समझा है।

णमोकार मन्त्र जपने का प्रयोजन यह नहीं है, कि किसी को ठगने में सफलता मिले। उसे इस भावना के साथ जपो—'हे प्रभो! तूने जिन शत्रुओं को जीता था, वही शत्रु मुझे सता रहे है। मैं तेरी सहायता से उन शत्रुओं को जीतना चाहता हूँ।' जिसके अन्तःकरण में इस प्रकार की उज्ज्वल भावना होगी, उसे देव भी नमस्कार करेंगे।

णमोकार मन्त्र का दूसरा पद 'णमो सिद्धाणं' है। अनादि काल से बन्धे हुए कर्म-बन्धन को जिन्होंने नष्ट कर दिया है—जो समस्त आध्यात्मिक बन्धनों से पूर्णतया मुक्त हो गये हैं और जिन्होंने सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया है, वे महात्मा सिद्ध कहलाते हैं। जैसे 'अरिहंत' किसी व्यक्ति का नाम नहीं है, उसी प्रकार सिद्ध भी कोई खास व्यक्ति नहीं है। सिद्ध-शब्द आत्मिक विकास की चरमतम स्थिति का द्योतक है। जिन्होंने यह स्थिति प्राप्त की है, वे सभी सिद्ध हैं।

तीसरा पद 'णमो आयरियाणं' है। अरिहंत और सिद्ध परमात्मा को बतलाने वाले कोई चाहिए। कहावत है —

गुरु गोविन्द दोनों खडे, किसके लागूं पाय।
बलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दिये बताय॥

इस कथन के अनुसार आचार्य, अरिहंत और सिद्ध को बतलाते हैं तथा उनकी पहचान कराते हैं। अरिहंत किसी समय

साक्षात् होते हैं, किसी समय नहीं होते। इस लिए उन्हें समझने के लिए आचार्य की आवश्यकता होती है। आचार्य स्वयं अरिहंत द्वारा उपदिष्ट पथ पर चलते हैं और दूसरों को चलाते हैं। आचार्य धार्मिक पुरुषों के संघ के केन्द्र हैं।

आज की भाषा में आचार्य को 'डाक्टर' कहते हैं। जैसे-अमुक सज्जन अमुक विषय के डाक्टर हैं। मगर णमोकार मंत्र का आचार्य रसायन या भूगोल आदि का आचार्य नहीं है। वह धर्म का आचार्य है, अतएव अरिहंत और सिद्ध को हृदय में रख कर उनके बताए पाँच आचारों का पालन करना और उसका रहस्य प्रकट करना आचार्य का कार्य है। आचार्य पद का महत्त्व बहुत अधिक है और इसी कारण उसका उत्तरदायित्व भी बहुत है। उसे ध्यान रखना पड़ता है कि रत्न से सिर फोड़ने की-सी स्थिति उत्पन्न न हो जाए।

चौथा पद 'नमो उवज्झायाणं' है। आचार्य महान् तत्त्व पर विचार करके उसका रहस्य समझाते हैं, इस कारण उन्हें मूल सूत्र पढ़ने का अवसर नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त महान् तत्त्व पर विचार करते हुए मूल सूत्रों का भी पठन पाठन करना और संघ का संचालन भी करना, यह सब कार्य अकेले आचार्य से नहीं हो सकते। अतएव आचार्य के सहायक रूप में उपाध्याय बनाये गये कि वे मूल सूत्रों के पठन पाठन आदि का कार्य करें। उपाध्याय का प्रधान कार्य मूल सूत्रसंहिता पर विचार करना है।

पाँचवाँ पद 'नमो लोए सव्वसाहूणं' है। जैसे राजा, प्रजा से ही होता है-प्रजा के अभाव में कोई राजा नहीं कहला सकता,

इसी प्रकार आचार्य और उपाध्याय भी साधुओं पर निर्भर हैं। साधुओं का संगठन करके उनकी व्यवस्था करने के लिए आचार्य और उपाध्याय हैं, मगर वे स्वयं साधु हैं और उनका पद भी साधुओं के अभाव में नहीं। साधु शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—

साधयति स्व-परकार्याणि-इति साधुः।

जो अपना कल्याण करता हुआ पर का कल्याण करे, वही साधु कहलाता है। नदी जल इकट्ठा करके समुद्र की ओर जाती है, किन्तु मार्ग में पड़ने वाले खेतों और बगीचों को भी सरसब्ज, हरा-भरा और सजीव बनाती जाती है। इसी प्रकार साधुओं ने अपने कल्याण के लिए दीक्षा ली है—उन्हें मोक्ष के अनन्त सागर में जाकर मिलना है, फिर भी जो उनके संपर्क में आता है, उसे भी वे हरा-भरा बना देते हैं, जिससे उसका भी कल्याण हो जाता है।

जो महात्मा नदी की तरह निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते रहते हैं, नदी की भाँति रूखे-सूखे हृदय-प्रदेश को दया, क्षमा आदि की भावना रूपी सलिल से हरा-भरा बना देते हैं, जो संसार को धर्म का नवजीवन प्रदान करते हैं, जो नदी की तरह सर्वसाधारण की आन्तरिक तृषा मिटा देते हैं, वह साधु कहलाते हैं। ऐसे महात्माओं को पाँचवें पद में नमस्कार किया गया है।

साधु दूसरों से जो सहायता अपनी साधना के लिए लेते हैं, उसका बदला उन्हें चुकाना ही चाहिए। जिसका अन्न ग्रहण किया है, अपनी शक्ति से उसकी सहायता न की जाय तो अन्न पचेगा कैसे? इसके अतिरिक्त उसका बदला न चुकाना एक

प्रकार की स्वार्थपरता है और उसे चोरी का ही एक रूप समझा जा सकता है। गीता में कहा है —

तैर्दत्तं न प्रदायेभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव स ।

अर्थात्-जिससे लिया है, उसे दिये बिना भोगना चोरी है।

यह कथन सिर्फ साधु के लिए नहीं है। मनुष्य मात्र को इस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। पशु जितना लेते हैं, उस से कई गुना चुका देते हैं, मगर क्या मनुष्य भी ऐसा करता है? मनुष्य में इतनी स्वार्थपरता न जाने क्यों है कि वह लेना तो सभी कुछ चाहता है, मगर देना कुछ भी नहीं चाहता! संसार में जो भी अच्छा और मूल्यवान है, वह सब मेरे अधीन हो जाय और फिर उसमें से किसी के पास कुछ भी न जाय। यह वृत्ति गीता के शब्दों में स्तेनवृत्ति है और ऐसी वृत्ति रखने वाले को अन्त में कुछ के बदले सभी कुछ छोड़ना पड़ता है।

साधु अपनी साधना मे सदैव तत्पर रहते है, फिर भी वह जगत् को बहुत कुछ देते भी हैं। प्रथम तो उनके आचरण का आदर्श ही जनता के लिए एक बड़ी देन है, दूसरे वे अपने अनुभव की वाणी से भी जगत् का हित साधन करते हैं।

णमोकार मंत्र में पूर्वोक्त पाँच पदों को वन्दन किया गया है। प्रारम्भ के दो पद देव के हैं और अन्तिम तीन पद गुरु के हैं। श्रद्धा के साथ इस महामंत्र का जाप चिन्तामणि की तरह समस्त मनोरथों का पूरक है। शास्त्रों मे इस मंत्र की महान् महिमा का वर्णन किया गया है। यह महामंत्र चौदह पूर्वों का सार बतलाया गया है। अनेक पतित इसके प्रताप से भव-सागर तिर गये हैं। जो इसका जाप और मनन करते है, वे कल्याण के पात्र बनते हैं।

६

अन्तरतर की प्रार्थना

श्रीमुनिसुव्रत साधवा !

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ की यह प्रार्थना है। देखना चाहिए कि भक्त अपने भावों को भगवान् के समक्ष प्रार्थना द्वारा किस प्रकार निवेदन करते हैं? इस विषय को लेकर जितना भी विचार किया जायगा, उतना ही अधिक आनन्द अनुभव होगा। आनन्ददायक वस्तु जितने अधिक समीप होगी, उससे उतना ही अधिक आनन्द मिलेगा। समुद्र की शीतल तरंगें ग्रीष्म के घोर ताप से तपे पुरुष को शान्तिदायक मालूम होती हैं तो अधिक सन्निकट होने पर और भी अधिक शान्ति पहुँचाती हैं। पुष्प का सौरभ अच्छा लगता है लेकिन फूल जब अधिक नजदीक होता है तो उसकी खुशबू और ज्यादा आनन्द देने वाली होती है। इन लौकिक उदाहरणों से यह बात भलीभांति समझी जा सकती है कि परमात्मा की प्रार्थना जब समीप से समीपतर हो जाती है तब उसमें और भी अधिक माधुर्य प्रतीत होने लगता है। इस दशा में प्रार्थना की सरसता बहुत कुछ बढ़ जाती है और उसमें अपूर्व आस्वाद आने लगता है। परमात्मा की प्रार्थना का सन्निकट होना अर्थात् जिह्वा से ही नहीं, वरन् अन्तर से अन्तरतर से—आत्मा

से प्रार्थना का उद्भव होना। परमात्मा की प्रार्थना जब आत्मा से उद्भूत होती है तब आत्मा परमात्मपद की अनुभूति के अलौकिक आनन्द में डूब जाता है। उस समय उसे वाह्य संसार विस्मृतसा हो जाता है। उस समय के आनन्द की कल्पना अनुभवगम्य है, वाणी उसे प्रकट करने में समर्थ नहीं है।

प्रार्थना अन्तरतर मे हुई है या नहीं, यह जानने की कसौटी यही है। अगर आपको प्रार्थना मे अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव हुआ है-अद्भुत शान्त रस के सरोवर में आप डूब गये हैं तो समझिए कि आपकी प्रार्थना समीप की है। अगर आपको यह स्थिति प्राप्त नहीं हुई तो मानना चाहिए कि प्रार्थना आत्मस्पर्शी नहीं है—ऊपरी है और उससे प्रार्थना का उद्देश्य पूर्ण रूप मे सफल नहीं हो सकता। प्रार्थना के मार्ग से आपको और आगे बढ़ना है-उन्नतर अवस्था प्राप्त करना है और अपनी अपूर्णता को हटाना है। जिस समय आपकी यह अपूर्णता दूर हो जायगी, उस समय आपको संसार के विषयभोग तृण के समान तुच्छ और रसहीन प्रतीत होने लगेंगे।

प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ऊपर से प्रार्थना बोलना उचित नहीं है? इसका उत्तर यह है कि चाहे आपकी प्रार्थना अन्तरतर से उत्पन्न हुई हो और आप उसके रस का आस्वादन करते हो, तब भी जिह्वा से प्रार्थना बोलना बन्द कर देने से व्यवहार उठ जायगा। अगर आपने आजीवन मौन साध लिया होता, वार्तालाप करना भी स्थगित कर दिया होता तो प्रार्थना बोलना बन्द कर देना भी कदाचित् ठीक कहा जा सकता था, लेकिन जब तक आपने ऐसा नहीं किया-सांसारिक कार्यों मे बोलना बन्द

नहीं किया, तब तक प्रार्थना बोलना बन्द कर देना कहाँ तक उचित है ? अगर आप रोटी-पानी का नाम लेना छोड़ चुके हों तो बात दूसरी है। अन्यथा दुनिया भर की पचायत करे और प्रार्थना बोलना छोड़ दो तो यह बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। उपर्युक्त आन्तरिक प्रार्थना का अर्थ यह कदापि नहीं कि आप वाचनिक प्रार्थना न करें। इसका आशय यह है कि जब आप वाचनिक प्रार्थना करें तो मन भी साथ रहे। ऐसा न हो कि मन तो इधर-उधर भटकता फिरे और अकेली जीभ प्रार्थना के शब्दों का उच्चारण करती रहे। इस प्रकार की प्रार्थना का स्वाद आत्मा को और मन को नहीं आएगा। बेचारी जीभ तो खाने-पीने का स्वाद चख सकती है, वह प्रार्थना के रस को नहीं चख सकती। प्रार्थना के असली रस का अनुभव करना है तो मन, वचन और काय—तीनों से प्रार्थना करो। वाणी से प्रार्थना का जो पावन और पीयूषमय प्रवाह है, इसमें मन निमग्न होकर पवित्र बन जाय तो प्रार्थना से कल्याण होगा। जो मन प्रार्थना के अर्थप्रवाह से दूर भागता फिरेगा, उसके पाप किस प्रकार धुलेंगे ?

कल्पना कीजिए, आपने किसी से पानी लाने को कहा। आपके शब्द के आकर्षण से वह पानी ले आया। पानी आपके सामने आ गया। मगर पानी सामने आने से ही क्या प्यास बुझ जायगी ? नहीं। शब्द में शक्ति है और उस शक्ति से पानी आ गया, लेकिन पानी के आ जाने से ही प्यास नहीं बुझेगी। इसी प्रकार भूख लगने पर आपने भोजन मँगवाया। भोजन आ गया, मगर भोजन आ जाने से ही भूख नहीं मिट सकती। पानी पीने से प्यास और भोजन करने से ही भूख मिटेगी। इस प्रकार

प्रयोजन सिद्ध करने के लिए दो व्यवहार हुए—एक वस्तु का आकर्षण करने के लिए बोलना और दूसरा आकर्षित वस्तु का उपयोग करना। सांसारिक कार्यों में आप दोनों व्यवहार करने में नहीं चूकते लेकिन परमात्मा की प्रार्थना करने में भूल होती है। आप प्रार्थना बोलते हैं और बोलने से प्रार्थना का आनन्द रूपी जल आपके पास आता भी है, मगर जबतक आप उसका पान नहीं करेंगे, तबतक आनन्द मिले कहाँ से ? प्रार्थना के परिणाम स्वरूप फिर शान्ति मिले कैसे ? अतएव वाणी द्वारा ऊपर से भी प्रार्थना करो और मन के द्वारा आन्तरिक प्रार्थना भी करो। दोनों का समन्वय करने से आप कृतार्थ हो जाएँगे। आपको कल्याण की खोज में भटकना नहीं पडेगा। कल्याण आप ही आपको खोज लेगा।

एक भक्त कहते हैं.—

शिकल्या बोल्याचा संगतील वाद। अनुभव भेद नाहीं कोणा ॥
पण्डित हे ज्ञानी करतील कथा। न मिलती अर्था निज सुखा ॥
तुका म्हणे जैसे लाचा साठीं ग्वाही। देतील हे वस्तु ठाव नाहीं ॥

भक्त कहते हैं—आज हमें संसार में सर्वत्र क्या दिखाई दे रहा है ? हम देखते हैं कि एक बात इसने और एक बात उसने सीख ली और बस, वाद विवाद करने लगे। एक ने कहा'—मैं जो कहता हूँ, बस, वही ठीक है। दूसरे ने कहा—'नहीं, यह कैसे हो सकता है ? सच तो वह है, जो मैं कहता हूँ।' दोनों ने अधूरी बात सीखी है। पूर्णता किसी को प्राप्त नहीं हुई। लेकिन वादविवाद में कमी क्यों होने लगी ! कहावत है—अधभरा घडा

झलकता है। अधूरा ज्ञान वादविवाद के अखाड़े निर्माण करता है। जैसे अखाड़े में शारीरिक संघर्ष होता है, उसी प्रकार अधूरे ज्ञान के अखाड़े में वाचनिक संघर्ष होता है। अनुभव के अभाव में ज्ञान अपूर्ण रहता है और ज्ञान की अपूर्णता सम्पूर्ण सत्य का हनन ही नहीं करती बल्कि जनता में कलह और विसवाद भी पैदा करती है।

किसी ने अंग्रेजी नाम 'वाटर' (Water) सीख लिया और किसी ने हिन्दी नाम पानी सीख लिया। दोनों में विवाद खड़ा हो गया। एक कहता है—जल को 'वाटर' कहते हैं और दूसरा कहता है तुम क्या समझो जी! जल को तो पानी कहते हैं। दोनों का ज्ञान सिर्फ शब्दस्पर्शी है—केवल शब्द तक सीमित है, भावस्पर्शी ज्ञान होने पर शब्दों का झगड़ा खत्म हो जाता है।

संसार के इतिहास को देखने से मालूम होता है कि धर्म के नाम पर भी अनेक लड़ाइयाँ हुई और बड़े-बड़े खून-खच्चर हुए हैं। धर्म के अभिनिवेश में कितने ही गले काटे गये हैं। युरोप में धर्म के ठेकेदारों ने कितने ही अनेक स्वतन्त्र विचारकों को विष दिया, फाँसी पर लटकाया या और तरह मार डाला। दक्षिण भारत में शैव राजाओं ने किसी समय जैनों की रोमहर्षण हत्या की। तारीफ तो यह है कि सभी धर्मों के अनुयायी—'दया धर्म का मूल है' इस सिद्धान्त के पक्के अनुयायी अपने आपको मानते हैं, लेकिन धर्म अर्थात् दया के खातिर घोर से घोर निर्दयता दिखलाने में संकोच नहीं करते। इस प्रकार लोगों ने धर्म के लिए अधर्म का आश्रय लिया है। इसका मुख्य कारण धर्म विषयक अज्ञान है। लोग

धर्म-धर्म चिल्लाते हैं, मगर धर्म के मर्म तक पहुँचते नहीं हैं। इसी लिए भक्त कहते हैं-लोग सीख कर वादविवाद करते हैं लेकिन अनुभव नहीं करते। पण्डित कहलाने वाले और अपने को ज्ञानी प्रसिद्ध करने वाले और श्रोताओं को आकृष्ट करने वाले शब्दों में कथा बाँचने वाले लोग भी उस कथा को-उसके आशयभूत धर्म को-अपने सुख के साथ नहीं जोड़ते हैं।

एक कथावाचक भट्टजी कथा बाँचते थे। एक दिन उनकी लड़की भी कथा सुनने चली गई। उस दिन कथा में बैंगन का प्रसंग चल पड़ा। कथावाचक ने कहा—बैंगन खाना बुरा है। उसमें बीज बहुत होते हैं और वह वायु करता है। कथा वाचक ने बहुत विस्तार से यह बात कही। लड़की बैठी हुई यह सब सुन रही थी। उसने सोचा—पिताजी को यह बात शायद आज ही मालूम हुई है। अब तक उन्हें बैंगन की बुराइयाँ मालूम नहीं रही होंगी। अब तक तो इनका यह हाल रहा कि बैंगन के शाक के बिना रोटी नहीं खाते थे। वह कहा करते थे—

नीली टोपी श्याम घटा, सब शाकों में शाक भटा।

मगर आज उसकी इतनी निन्दा कर रहे हैं। इससे जानती हूँ कि आज ही इन्हें बैंगन की बुराई मालूम हुई है। कहीं ऐसा न हो कि आज घर पर बैंगन का ही शाक बन जाय और पिताजी भर पेट भोजन भी न कर पाएँ।

यह सोच कर लड़की कथा सुनना छोड़ घर आई और माता से बोली-'माँ, आज काहे का शाक बनाया है?' माँ ने कहा-'बिटिया, बैंगन तो है ही। साथ में एक और बना लूँगी।'

माता की बात से लड़की को कुछ तसल्ली हुई। उसने पूछा-'अभी बेंगन बनाये तो नहीं हैं ?' माता के नाहीं करने पर लड़की ने कहा-'तो अब बेंगन मत बनाना। मैं अभी कथा सुनकर आई हूँ। पिताजी ने आज बेंगन की खूब निन्दा की है, उन्होंने सब कथा सुनने वालों को बेंगन नहीं खाने का उपदेश दिया है। सब ने उनकी बात की सराहना की है। अब पिताजी भी बेंगन नहीं खायेंगे। कोई दूसरी तरकारी बना लेना।'

लड़की की बात सुन कर माँ ने बेंगन का शाक नहीं बनाया। कथाभट्ट कथा समाप्त कर घर आये। भोजन करने बैठे। थाली में और तरकारियाँ परोसी गईं मगर, बेंगन नजर नहीं आये। बेंगन न देख कर भट्टजी ने पूछा-"क्यों ! आज बेंगन की तरकारी नहीं बनी ?"

ब्राह्मणी ने कहा-घर में बेंगन तो थे, मगर जान बूझ कर ही आज नहीं बनाए हैं।

भट्ट-ऐसा क्यों ?

ब्राह्मणी ने लड़की को बुला कर कहा-अब इन्हें बता, तूने बेंगन का शाक क्यों नहीं बनाने दिया ?

लड़की बोली-पिताजी, आज आपने कथा में बेंगन की बहुत निंदा की थी। आपने कहा था कि-बेंगन शारीरिक दृष्टि से भी हानिकारक है आध्यात्मिक दृष्टि से भी बुरा है और ठाकुरजी को बेंगन का भोग भी नहीं चढ़ता। इसी से मैंने सोचा कि आप इतनी निंदा कर रहे हैं तो आप स्वयं कैसे खायेंगे ?

भट्ट—मूर्ख लड़की ! तुझे इतना ज्ञान कहाँ कि—कथा के बैंगन अलग होते हैं और रसोई घर के अलग होते हैं। कथा में जो बात आई थी सो कहनी पड़ी। ऐसी न कहें तो आजीविका कैसे चले ? अगर कथा के अनुसार ही चलने लगें तो जीना कठिन हो जायगा।

बाप की बात सुनकर लड़की के दिल का ठीक तरह समाधान तो नहीं हुआ, मगर वह कुछ बोल भी न सकी। उसने मन ही मन सोचा—इससे तो हम जैसी मूर्खा ही भली कि आजीविका के लिए ढोंग तो नहीं करतीं। हाथी के दांत दिखाने के अलग और खाने के अलग होते हैं।

इस प्रकार कथा में तो भट्टजी पण्डित रहे और अर्थ में वह लड़की पण्डित रही। जो केवल कथा में ही पण्डित हैं—अर्थ में पण्डित नहीं हैं, वे क्या तो अपना कल्याण करेंगे और क्या दूसरों की भलाई करेंगे ! स्वयं आचरण करने वाला ही अपने वचनों की छाप दूसरों पर डाल सकता है। जो खुद आचरण नहीं करता, उसका दूसरे पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ सकता।

भक्त कहते हैं—इस प्रकार की कथा वाचने वाले मानो रिश्वत लेकर गवाह देने वाले हैं। वे चाहे मान प्रतिष्ठा के लोभ से या आजीविका के लोभ से गवाही दें, पर हैं वह रिश्वत लेकर गवाही देने के समान ही। ऐसे लोग सत्य-अर्थ को, परमार्थ को नहीं जानते। रिश्वत लेकर गवाही देने वालों का अन्त में किस प्रकार भंडा-फोड़ होता है, इसके लिए एक उदाहरण देता हूँ।

दो मित्र व्यापार के निमित्त विदेश गये। दोनों ने धनोपार्जन के लिए यथाशक्य उद्योग किया। पर उनमें से एक को अच्छा लाभ हुआ और दूसरे को लाभ नहीं हुआ। जिसे लाभ नहीं हुआ था, उसने सोचा—उद्योग करते-करते थक गया, फिर भी कुछ लाभ नहीं हुआ। अब देश लौट जाना ही श्रेयस्कर है। उसने अपना यह विचार अपने मित्र के सामने प्रकट किया। मित्र ने सोचा—मुझे यहाँ काफी आमद हुई है और व्यापार में इतना उलझा हूँ कि देश नहीं जा सकता। लेकिन कुछ रकम अपने मित्र के साथ क्यों न भेज दूँ जिससे स्त्री को सन्तोष हो जाय। लेकिन यह रुपया कहाँ बाँधे फिरेगा? यह सोच कर उसने एक लाल खरीदा और अपने मित्र को देकर कहा—भाई, जाते हो तो जाओ और यह लाल अपनी भाभी को दे देना। कह देना कि यह लाल कीमती है। इसे सम्भाल कर रक्खे। कुछ दिनों बाद व्यापार समेट कर मैं भी आ जाऊँगा। लाल पहुँचने से तुम्हारी भाभी को सन्तोष होगा।

मित्र का दिया लाल लेकर दूसरा मित्र स्वदेश की ओर रवाना हुआ। रास्ते में उसके मन में बेईमानी आ गई। मनुष्य दुर्बलताओं का पुतला है। कब कौन-सी दुर्बलता उसे विवश कर देती है, कहा नहीं जा सकता। उसे विचार आया—लाल कीमती है और मित्र ने अकेले में ही मुझे दिया है। देते-लेते किसी ने देखा नहीं है—कोई गवाह-साख नहीं है। धन बेईमानी किये बिना आता नहीं, यह मैंने प्रयत्न करके देख लिया है। ईमानदारी स्वयं इतनी बेईमान है कि ईमानदार को भूखों मरना पड़ता है ऐसी मुँहजली ईमानदारी को क्या लेकर चाटूँ? बेहतर यही

है कि हाथ में आये इस लाल को हजम कर लिया जाय। थोड़ा-सा झूठ बोलना पड़ेगा। कह दूँगा—मैंने लाल दे दिया है।

लोग सोचते हैं—पाप केवल जीव-हिंसा करने में ही है। झूठ-कपट तो लोगों की निगाह में मानो पाप ही नहीं है। झूठ-कपट में कौन-सा महा-आरम्भ-समारम्भ करना पड़ता है! लाल के लिए ललचाने वाले उस व्यक्ति ने भी यही सोचा होगा। धनोपार्जन करने में अधिक आरम्भ-समारम्भ करना पड़ेगा और थोड़ी-सी जीभ हिलाने में आरम्भ-समारम्भ के बिना ही धन मिल रहा है! फिर ऐसे सस्ते धर्म का पालन क्यों न किया जाय? कौन पाप में पड़ कर—आरम्भ करके धन कमाने का झमट करें!

ऐसा ही कुछ सोच कर वह अपने घर पहुँचा। उसने लाल अपने ही पास रख लिया, मित्र की स्त्री को नहीं दिया।

मित्र की पत्नी को उसके लौट आने का समाचार मिला। उसने सोचा—वह तो अपने मित्र का कुशल-समाचार कहने आये नहीं, मगर मुझे जाकर पूछ आने में ही क्या हानि है? वह पति के मित्र के घर पहुँची। पूछा—आप अकेले ही क्यों आ गये? अपने मित्र को साथ नहीं लाए?

उसने कहा—वह बड़ा ही लोभी है। उससे कमाई का लोभ छूटता ही नहीं है। खूब धन कमाया है, फिर भी नहीं आया।

स्त्री ने पूछा—खूब कमाया है तो कुछ भेजा नहीं?

वह—अजी, वह लोभी क्या भेजेगा! कुछ भी नहीं भेजा उसने।

मनुष्य जब एक पाप करता है तो उसे छिपाने के लिए दूसरे

[illegible] जिसका पैर फिसल जाता है, वह लुढ़कता ही जाता है।

स्त्री सन्तोष करके बैठ गई। उसने सोचा—कुछ नहीं दिया तो न सही, कुशल-पूर्वक हैं और कमाई कर रहे हैं तो आखिर ले कहाँ जायेंगे? अन्त में तो घर यही है।

कुछ समय व्यतीत होने पर वह भी अपना धन्धा समेट कर घर लौटा। स्त्री ने कहा—सकुशल तो रहे? आप मुझे तो एकदम ही भूल गये! अपने मित्र के साथ कुछ भी न भेजा?

पति ने कहा—भूल कैसे गया? भूल जाता तो तुम्हारे लिए लाल क्यों भेजता?

पत्नी—कौन-सा लाल?

पति—क्यों, मित्र के साथ भेजा था न? तुम्हें मिला नहीं वह?

पत्नी—नहीं, लाल तो मुझे नहीं दिया। वह तो आपके समाचार कहने के लिए भी नहीं आये। मैं खुद उनके घर गई। कुशल समाचार पूछे। उन्होंने यही कहा कि आपने उनके साथ कुछ भी नहीं भेजा।

पत्नी की बात सुनकर वह समझ गया कि मित्र के मन में बेईमानी आ गई। लाल उसी ने हजम कर लिया है। प्रातःकाल होते ही वह उसके घर गया। उसे आया देख पहले मित्र के चेहरे का रंग उड़ गया। लेकिन अपने को संभाल कर उसने पूछा—अच्छा आप आ गये?

'जी हाँ' कह कर वह बैठ गया। कुशल-वृत्तान्त के पश्चात् उसने पूछा—मैंने तुम्हें जो लाल दिया था, वह कहाँ है ? उसने कहा—वह तो आते ही मैंने तुम्हारी पत्नी को दे दिया।

दूसरे ने कहा—वह तो कहती है, मुझे दिया ही नहीं।

प्रथम मित्र—झूठी है। स्त्रियों का क्या भरोसा ! न जाने किसी को दे दिया होगा और मुझे चोर बनाती है !

इस प्रकार कह कर वह गरजने लगा—अपनी स्त्री को तो देखते नहीं और मुझे चोर, बेईमान बनाते हो ! ऐसा जानता तो मैं लाता ही क्यों ? खबरदार, जो मुझसे अब लाल के विषय में कभी कुछ पूछा।

झूठा आदमी चिल्लाता बहुत है। उसका रंग-ढंग देखकर लाल वाले मित्र ने सोचा—यह लाल भी हजम कर गया और ऊपर से मेरी पत्नी को दुराचारिणी प्रकट करना चाहता है और मुझे धमकी दे रहा है।

आखिर वह हाकिम के पास गया और सारा क़िस्सा सुनाया। हाकिम ने पूछा—तुमने किसके सामने लाल दिया था ? उसने कहा—मैंने केवल विश्वास पर ही दिया था। किसी को गवाह नहीं बनाया। उसकी इस स्पष्टोक्ति से हाकिम को उसके कथन पर विश्वास हो गया। हाकिम ने सान्त्वना देते हुए कहा—मैं समझ गया हूँ। तुम सच्चे हो। मैं तुम्हारा लाल दिलाने का प्रयत्न करूँगा। कदाचित् लाल न मिला तो तुम्हारी इज्जत अवश्य वापिस आयगी। तुम अपने घर जाओ।

हाकिम ने उस लाल रख लेने वाले को बुलाकर कहा—तुम्हारे विषय में अमुक व्यक्ति ने इस प्रकार की फरियाद की है। अपना भला चाहो तो लाल दे दो।

उसने उत्तर दिया—आप मुझे व्यर्थ ही धमका रहे हैं। मैंने आते ही उसकी स्त्री को लाल सौंप दिया है। लाल दे देने के गवाह भी मेरे पास मौजूद हैं।

हाकिम ने उसके गवाह बुलवाये। चार बनावटी गवाह थे। थोड़े से पैसों के लालच में आकर झूठी साक्षी देने को तैयार हो गये थे। हाकिम के पूछने पर चारों ने गवाही दी कि हमारे सामने लाल दिया गया है। हम ईमान, धर्म और परमेश्वर की कसम खाकर कहते हैं कि इसने हमारे सामने लाल दिया है। हाकिम ने चारों गवाहों को अलग-अलग करके कहा – लाल कितना बड़ा था, उसके आकार का एक एक पत्थर उठा लाओ। अब झूठे गवाह चक्कर में पड़े। उन्होंने कभी लाल देखा नहीं था। उसकी बराबरी का पत्थर लाएँ तो कैसे? फिर सोचा—लाल कीमती चीज है तो कुछ तो बड़ा होगा ही। चारों यही सोचकर अलग-अलग आकार के बड़े-बड़े पत्थर उठा लाए, जो एक दूसरे से काफी बड़े छोटे थे। हाकिम ने चारों पत्थर अपने पास रख लिए। फिर पूछा—इन चारों में से लाल किस पत्थर के बराबर था? अब की अक्ल गुम होने लगी। चारों बुरी तरह चकराये।

आखिरकार हाकिम ने चारों गवाहों के कोड़े लगाने की आज्ञा दी। थोड़े से पैसों के लिए झूठ बोलना आसान था, मगर कोड़े खाना मुश्किल हो गया। चारों ने गिड़गिड़ा कर कहा—हुजूर, कोड़े क्यों लगवाते हैं? हम लोगों ने तो क्या, हमारे बाप ने भी कभी लाल नहीं देखा। हम तो इसके मुलाहिजे और कुछ लोभ-लालच में फस कर गवाही देने आये हैं।

असत्य कितना बलहीन होता है! सत्य के सामने असत्य के पैर उखड़ते देर नहीं लगती। असत्य में धैर्य नहीं, साहस नहीं शक्ति नहीं।

झूठे गवाहों की कलई खुल गई। हाकिम ने पूछा—कहो सेठ इतना बड़ा लाल तुमने उसकी स्त्री को दिया था? सेठ लज्जित था। लोकनिन्दा और राजदण्ड के भय से तथा शर्म से वह धरती में गड़ा जा रहा था। वह बोलता क्या? उसके मुख से एक भी शब्द न निकला। हाकिम ने कहा—तुमने लाल भी चुराया और झूठे गवाह भी तैयार किये। तुम्हारे ऊपर दुहरे अपराध हैं। अब सच बताओ, लाल कहाँ है? नहीं तो गवाहों के बदले कोड़ों से तुम्हारी पूजा की जायगी।

मार के आगे भूत भागता है, यह लोकोक्ति है। सेठ ने फौरन लाल दे दिया।

लाल के गवाह झूठे थे और वह प्रकट होगये। मगर धर्म के विषय में झूठी गवाही देने वालों पर कौन प्रतिबन्ध लगाए? लोग बढ-बढ कर बातें करते हैं, सत्य शील, सन्तोष आदि का उपदेश देते हैं, लेकिन उनसे पूछो कि खुद कितने अश में इनका पालन करते हो? दूसरों को उपदेश देना, मगर आप खुद उसके विरुद्ध आचरण करना झूठी गवाही देने के समान नहीं तो क्या है?

जैसे लाल का आकार भिन्न-भिन्न बताया गया था, उसी प्रकार ईश्वर की शक्ल भी भिन्न-भिन्न प्रकार की बतलाई जाती है। एक कहता है-ईश्वर ऐसा है तो दूसरा कहता है-ऐसा नहीं, वैसा है। इस प्रकार कहलाने वालों से पूछो—तुम दोनों ईश्वर की जो दो शक्लें बतला रहे हो, उनमें से ईश्वर वास्तव में किस शक्ल का

है ? तो वे क्या उत्तर देंगे ? जैसे उन गवाहों ने लाल नहीं देखा था, उसी प्रकार ईश्वर की शक्ति बतलाने वालों ने कभी ईश्वर का अनुभव नहीं किया है। झूठे गवाहों ने जो बात बिना समझे बूझे सीख ली थी और सीखी बात तोते की तरह कह दी थी, इसी प्रकार यह लोग भी बिना अनुभव किये ही सीखी-सिखाई बातें तोते की तरह उच्चारण कर देते हैं। उन्हें वास्तविक अनुभव नहीं है।

प्रश्न होता है—ऐसी अवस्था में करना क्या चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि घबराने की आवश्यकता नहीं। अन्त में तो सत्य और शील ही विजयी होता है।

ईश्वर के विषय में अगर सुदृढ़ विश्वास हो गया तो वह सभी जगह मिलेगा। विश्वास न हुआ तो कहीं नहीं मिलेगा। ईश्वर के शरीर नहीं है, उसका कोई वर्ण नहीं है, वह केवल उज्ज्वल हृदय से किये गये अनुभव से ही जाना जा सकता है। ऊपर जो प्रार्थना की गई है, उसमें यही बतलाया गया है —

दीनदयाल देवा तणा देव के तरण तारण प्रभु तो भणा।
उज्ज्वल चित्त सुमरू नित नेत्र के श्रीमुनीसुव्रत साहबा ॥

उज्ज्वल चित्त से परमात्मा का स्मरण करोगे तो उसका चिदानन्दमय स्वरूप देख पाओगे। यही बात-अन्य कवि भी कहते हैं।

साराश यह है कि हृदय शुद्ध हुए बिना परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। अतएव साधक के लिए पहली भावना यही है कि वह अपने हृदय को शुद्ध करने का प्रयत्न करे। हृदयशुद्धि की बलवती इच्छा तभी उत्पन्न होती है, जब हृदय की अशुद्धि पहचान ली जाय। चिकित्सा से पहले रोग के ज्ञान की आवश्यकता रहती

है। अशुद्धता का भान शुद्धि की ओर प्रेरित कर सकता है। इसी कारण भक्त जन दूसरे के अवगुणों का ख्याल न करके अपने ही अवगुण देखते हैं और कहते हैं—

हुँ अपराधी अनादि नो जनम जनम गुना किया भरपूर के।
लूटिया प्राण छह कायना सेविया पाप अठारह क्रूर के॥

दूसरे के अवगुण देखने से काम नहीं चलेगा। अपने अपने अवगुण देखने से ही कल्याण का मार्ग मिल सकता है। दूसरों के अवगुण देखना स्वयं एक अवगुण है। दुनिया के अवगुणों को अपने चित्त में धारण करोगे तो चित्त अवगुणों का खजाना बन जायगा। इसके अतिरिक्त अवगुण आपके लिए ऐसे साधारण हो जाएँगे कि आप उन्हें शायद हेय भी समझना छोड़ दें। दुनिया के प्रत्येक मनुष्य में अगर कुछ अवगुण होंगे तो कुछ गुण भी होंगे। आप अपनी दृष्टि ऐसी उज्ज्वल बनाइए कि आपको दूसरे के गुण तो दिखाई दें, मगर अवगुणों की तरफ दृष्टि मत जाने दीजिए। हाँ, अवगुण देखने हैं तो अपने ही अवगुण देखो। अपने अवगुण देखने से उन्हें त्यागने की इच्छा होगी और आप सद्गुणी बन सकोगे।

अगर परमात्मा के दर्शन करने हैं तो सीधे मार्ग पर आकर यह विचार करो—मैं अपराधी हूँ। मेरे अवगुणों का पार नहीं। प्रभो! मुझसे यह अवगुण कब छूटेंगे?

इस प्रकार अपने दोष देखते रहने से हृदय निर्दोष बनेगा और परमात्मा का दर्शन होगा। कोई आदमी चित्र बनाना न जानता होगा तब भी यदि वह साफ काच पास में रख कर किसी वस्तु के सामने करेगा तो उस वस्तु का प्रतिबिंब उस काच में आ

जायगा। अगर काच ही मैला होगा तो फोटो नहीं आएगा। अतएव अगर और कुछ न बन पड़े तो भी हृदय को काच की तरह स्वच्छ रक्खो। इससे परमात्मदर्शन हो सकेगा।

ईश्वर में रूप नहीं है। वह उसी तरह का है, जैसी आपकी आत्मा है। अगर कोई पूछे कि—आत्मा कैसी है? तो उससे कहना चाहिए कि तुम्हारे भीतर बुद्धि है या नहीं? अगर है तो निकाल कर बताओ—बुद्धि कैसी है? बुद्धि नहीं दीखती, तथापि उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार चाहे परमात्मा चमड़े की आँखों से दिखाई न दे तथापि उसका अस्तित्व अनुभवसिद्ध है, उसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जो परमात्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, वह आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करता है और आत्मा को अस्वीकार करने वाला अपना ही निषेध करता है और फिर अपना निषेध करने वाला वह कौन है?

मित्रो! प्रत्येक कल्याणकामी पुरुष परमात्मा का अनन्त ज्योतिर्मय स्वरूप देखने के लिए उत्सुक है। मगर हृदय की मलीनता के कारण उसकी उत्सुकता पूरी नहीं होती। हृदय को निर्मल बनाना ही परमात्मा के साक्षात्कार का प्रधान साधन है। जो हृदय को शुद्ध करने में सदा सावधान रहते हैं, वे अनन्त कल्याण के भाजन बनते हैं।

१०

वैर का परिहार

श्री अभिनंद दुःखनिकंदन वंदन पूजन जोग जी।

यह भी अभिनन्दन भगवान् की प्रार्थना है। इस प्रार्थना पर विचार करते हुए यह देखना है कि आत्मा, परमात्मा से किस बात की प्रार्थना करता है और आत्मा का परमात्मा के साथ क्या सबध है? सबध के अभाव में किसी से कुछ मॉगने पर आशा पूरी नहीं होती। आप कह सकते हैं कि दाता और याचक का कुछ भी सबध न होने पर भी दाता, याचक की अभिलाषा पूरी कर देता है। दाता नहीं देखता कि याचक कौन है और कहाँ का है। उसकी उदारता को यह सब जानने की अपेक्षा ही नहीं रहती। दाता बिना ही किसी सबध के याचक को दे देता है ऐसी हालत में परमात्मा क्या बिना किसी सबध के हमारी आशा पूरी नहीं करेगा?

इसका उत्तर यह है कि दाता और याचक में सबध नहीं है, यह धारणा भ्रमपूर्ण है। याचक ने ही दाता को 'दाता' पद दिया है। याचक दाता से याचना न करते और दाता पद न देते तो उसे याचक कौन कहता? वास्तव में याचक ने ही दाता को दाता पद दिया है और इस प्रकार दाता—याचक का सम्बन्ध है।

अब हमें यह भी देखना है कि आत्मा और परमात्मा का क्या सबध है? परमात्मा के अन्यान्य गुणों के साथ अपना जो

सम्बन्ध है, इसकी बात छोड़ दीजिए, तो भी आत्मा दुःखी है और परमात्मा दुःख निकन्दन है—यहाँ आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध है। दुःखी और दुःख निकन्दन का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। आत्मा का मुख्य ध्येय दुःखों का नाश करना है और परमात्मा दुःख का नाशक है। परमात्मा हमारा दुःख न मिटावे तो उसका दुःखनिकन्दन स्वरूप ही कैसे कायम रहे? अतएव दुःखनिकन्दन प्रभु से हमारी यह प्रार्थना है कि—

श्रीअभिनन्दन दुःखनिकन्दन वन्दन पूजन जोग जी।
आशा पूरो चिन्ता चूरो आपो सुख आरोग जी॥

यह प्रार्थना किसी एक व्यक्ति की नहीं है। इसमें जो भाव व्यक्त किया गया है वह जगत् के प्रत्येक प्राणी का भाव है। संसार का कोई भी प्राणी आशा से अतीत नहीं है—सभी को आशा लगी हुई है, सभी को भाँति-भाँति की चिन्तायें सता रही हैं। सभी सुख के अभिलाषी हैं और सभी आरोग्य चाहते हैं। यह सब आकांक्षायें प्राणी मात्र में समान हैं। यह बात दूसरी है कि अज्ञान के वश होकर प्राणी अपने दुःख और दुःख के मूल को ठीक तरह न समझता हो या विपरीत समझता हो, लेकिन दुःख से छुटकारा सभी चाहते हैं।

दुःख से मुक्ति चाहने पर भी जब तक दुःख का वास्तविक स्वरूप और दुःख के असली कारणों को न समझ लिया जाय तब तक जीव की चाह पूरी नहीं हो सकती। दुःख संबंधी अज्ञान के कारण प्राणी सुख की अभिलाषा से ऐसा उपाय करता है कि सुख पाने के बदले उलटा दुःख का ही भागी बनता है। संसारी

जीवों को जो दुःख है उसका प्रधान कारण पर-संयोग है। जहां पर-पदार्थ का सयोग हुआ और उसमें अहंभाव या ममभाव धारण किया कि दु ख की उत्पत्ति होती है। बस-दु ख को मिटाने के लिये जीव फिर नवीन-पदार्थों का सयोग चाहता है और परिणाम यह होता है कि वह दु ख बढ़ता ही चला जाता है। इस प्रकार ज्यों ज्यों दवा की जाती है, त्यों-त्यों बीमारी बढती ही जाती है। जब उपाय ही उलटा है तो नतीजा उलटा क्यों नहीं होगा? कठिनाई तो यह है कि हम परमात्मा से जो प्रार्थना करते हैं उसका आशय तो है दु ख दूर करने का, मगर हमारा भ्रम ऐसा है कि हम दु.ख के कारणों को ही दु ख दूर करने का कारण समझ बैठते हैं। इसी भाव से हम प्रार्थना करते हैं। किसी को निर्धनता का दु ख है, तो किसी को संतान के अभाव का दु'ख है, किसी को अपने अपयश की चिन्ता है। इस दु ख को मिटाने के लिए धन चाहिये, सतान चाहिये। और यश चाहिये अज्ञान पुरुष की धारणा है कि इन वस्तुओं का सयोग होने से ही हमारे दु ख के अकुर सूख जायेंगे और हम सुखी हो जायेगे मगर वास्तविक बात ऐसी नहीं है। ससार के यह सब पर-पदार्थ हमारे दु ख का नाश नहीं कर सकते। इनमें दु.खदलिनी शक्ति नहीं है। यही नहीं बल्कि वास्तव में यही दु ख के कारण है। ज्ञानी पुरुष अपनी सम्यग् दृष्टि से इन का सत्य स्वरूप समझते हैं। उन्होंने जाना है कि बाह्य पदार्थों के साथ जितने अशो में आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित किया जायगा उतनी ही दु ख की वृद्धि होगी।

जब तुम्हारी दृष्टि निर्मल हो जायगी और तुम्हें सत्य वस्तुतत्व का प्रतिभास होने लगेगा तब तुम अपने ऊपर हसे बिना

न रहोगे कि वाह ! मुझे परमात्मा की प्रार्थना द्वारा दुःख का नाश करना था, मगर मैं चाहता था दुःख के कारण ! मैं रोग मिटाने के लिये रोग बढ़ाने वाली औषध का सेवन कर रहा था ! और जब रोग बढ़ता जाता था तो अपने अज्ञान के बदले औषध को कोसता था ! मेरी समझ कैसी सुन्दर थी !

ऐ मनुष्य ! तेरे अन्तःकरण में सचमुच ही दुःख दूर करने की अभिलाषा जागृत हुई है और तू सुख पाने के लिए उत्सुक है, तो पहले यह समझ ले—अच्छी तरह निश्चय कर ले कि मेरा दुःख क्या है ? और किस दुःख को मिटाने की तुझे इच्छा हुई है ? तू परमात्मा की प्रार्थना करके कौनसी आशा पूरी करना चाहता है ?

उपर्युक्त प्रार्थना सभी की है। मैं भी उसमें शामिल हूँ। जबतक शरीर के साथ मेरा सम्बन्ध बना है तबतक मेरी आधियों व्याधियों का अन्त नहीं है। अनेक आध्यात्मिक और मानसिक दुःख लगे हुए हैं। इन्हें मैं जानता हूँ। मगर तुम्हें भी रोग हैं या नहीं ? मैंने अपने दुःखों को दूर करने के लिए साधु-पन स्वीकार किया है और तुम अपने दुःख मिटाने के लिए मेरे पास आये हो और धर्म किया करते हो। इस प्रकार मेरा और तुम्हारा एक ही उद्देश्य दुःख मिटाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यथा शक्य चेष्टा की जा रही है।

यह सदैव स्मरण रखना होगा कि अपने दुःख दूर करने के लिए अभी तक हमने जो कुछ किया है, वह अत्यन्त अल्प है और बहुत कुछ करना अभी शेष ही पड़ा है। अतएव अपने क्षुद्र

प्रयत्न पर अहंकार न करना। अहंकार किया तो फिर दुःख नहीं मिटेंगे। जो कुछ करते हो उसे परमात्मा के पवित्रतम चरणों में समर्पण कर दो और उसी से दुःख दूर करने की विनम्र भाव से, उज्ज्वल अन्तःकरण से अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा एकत्र करके प्रार्थना करो। प्रार्थना करो कि—हे प्रभो! तूही मेरा दुःख मिटा। मैंने सारा संसार छान डाला, मगर दुःख मिटाने वाला कोई नजर नहीं आया। अब सद्भाग्य से तेरी शरण मिली है, इस लिये प्रार्थना करता हूँ कि तू ही मेरा दुःख मिटा। भगवन् तू ही दुःख-निकंदन है। तेरे साथ मेरा संबंध है। मैंने तुझे दुःखनिकंदन, भवभयभंजन दीनदयालु आदि विरुद दिये हैं। इसलिए मेरी आशा पूरी करो। मेरी चिन्ता का नाश करो।

परमात्मा के प्रति हमारी यह माँग है। मगर यह देख लो कि यह माँग सच्ची है या नहीं? माँग पेश करने के बाद ऐसा न हो कि वह आपको सुख देने लगे और तुम सुख न लेकर दुःख ही लेने लगो। इस लिए कहता हूँ—पहले अपने दुःख को समझ लो। निश्चय कर लो कि वास्तविक दुःख क्या है? यह समझे बिना सुख के बदले कहीं दुःख न लेने लगना।

पहले कहा जा चुका है कि संसार में प्रत्येक प्राणी के दुःख अलग अलग हैं। किसी को तन का दुःख है, किसी को धन संबंधी दुःख है, किसी को स्वजन संबंधी दुःख है और किसी को मानापमान संबंधी दुःख है। इस प्रकार सब का दुःख अलग-अलग है। स्त्रियों के दुःख पुरुषों के दुःख से भिन्न हैं। बल्कि कई चीजें ऐसी भी मिलेंगी जो पुरुषों को सुखरूप हैं और स्त्रियों को दुःखरूप प्रतीत होती हैं। किसी से स्त्रियों को सुख मिलता है और पुरुषों

को दुःख होता है। नवीन चूड़ी और साड़ी पहनकर स्त्रिया खुशी में फूली नहीं समातीं, लेकिन पुरुष को पहना दिया जाय तो उसे दुःख प्रतीत होगा। इस प्रकार सबके दुःख भिन्न-भिन्न हैं। मगर यह सब कल्पना की करामात है। कल्पना ने ही पदार्थों में दुःख का रंग भर दिया है। यह वास्तविक दुःख नहीं है। लोगों ने इन दुःखों के आगे वास्तविक दुःख को भुला दिया है और ऊपरी बातों में ही जबर्दस्ती दुःख मान लिया है। चूड़ी और चूनडी के अभाव में स्त्री क्यों दुःखी होती है ? इसका कारण यही है कि उसे वह प्यारी लगती है। पुरुष को वह प्रिय नहीं है अतएव उसके अभाव में उसे दुःख नहीं होता। इस प्रकार सभी ने अपनी अपनी कल्पना के अनुसार दुःख की सृष्टि करली है। यह सब दुःख कल्पना के ही पुत्र हैं।

दुःख दूर करने की प्रार्थना में मैं भी शामिल हुआ हूँ। मगर यह ऊपरी और कल्पना प्रसूत दुःख मिटाने के लिए नहीं। अतएव हमें उस दुःख का विचार करना चाहिए जो सबके लिए मान्य हो, जिससे सभी प्राणी छूटना चाहते हों, जिससे छूटने पर सब दुःखों का आत्यन्तिक नाश हो जाय और जिसके मिटे बिना ऊपरी दुखों के मिट जाने से भी कोई विशेष लाभ नहीं है।

चूड़ियों के लिए या नयी और सुन्दर चूनड़ी के लिए परमात्मा से प्रार्थना करना अज्ञान है। ऐसी प्रार्थना करने वाले या करने वाली ने परमात्मा की महत्ता नहीं समझी और न अपने दुःख को ही समझा है। परमात्मा से उस मूलभूत दुःख के विनाश की प्रार्थना करना चाहिए जो और किसी के मिटाये नहीं मिट सकता और जिसके मिटने पर संसार की असीम सम्पदा भी किसी काम की

नहीं रहती। जब तुम परमात्मा से संसार की कोई वस्तु माँगते हो तो समझो कि दुःख माँगते हो और दुःख मांगने के लिए परमात्मा की प्रार्थना करना क्या तुम्हें उचित मालूम होता है ?

राजा की पहचान केवल छत्र और चवर से नहीं होती। छत्र चंवर तो नाटक का एक पात्र भी लगा लेता है। क्या उसके प्रति राजोचित व्यवहार किया जाता है ? उसे आप राजा मान लेते है ? नहीं। अतएव राजा की सच्ची पहचान छत्र-चंवर नहीं है। प्रजा का वह बड़ा दुःख, जो उसकी सहायता के बिना नहीं मिट सकता, उसे मिटाने के लिए जो अपने प्राणों की बाजी लगा देता है वही सच्चा राजा है। यही राजा की सच्ची कसौटी है। ऐसे प्रजाप्रिय राजा के समक्ष किस दुःख को दूर करने की प्रार्थना करोगे ? क्या तुच्छ और निस्सार चीज मॉंगने के लिए उसके दरबार में जाओगे ? अगर ऐसा किया तो समझा जायगा कि तुमने उसका महत्व ही नहीं समझा।

राजा के विषय में तुम्हें मालूम है कि छोटी-छोटी बातों की माग उससे नहीं करना चाहिए। तब परमात्मा जैसे तीन लोक के संबध में यह बात क्यों भूल जाते हो ? क्या परमात्मा को तुमने इसी योग्य समझा है कि उससे दाल-भात मांगा जाय ? ऐसा समझने वालों ने परमात्मा की महत्ता घटाई है, बढ़ाई नहीं।

जो असली दुःख मन में व्यापा होता है उसे मिटाना तो दूर रहा, सर्वसाधारण उस दुःख को जान भी नहीं सकते। मन के उस दुःख को मिटाने के लिये ही भक्तजन परमात्मा की प्रार्थना करते हैं। अब देखना चाहिए कि मन में क्या दुःख है ? किसी

ने तुमसे कहा—मैं तेरा सिर काट लूँगा । तेरी आँख फोड़ दूँगा या तेरी जवानी नष्ट कर दूँगा या तेरे शरीर की सारी शक्ति खींच लूँगा । तो यह सुनकर तुम को कैसा दुःख होगा ? अब इसका आशय यह है कि जरा और मरण का दुःख अत्यन्त प्रबल है। इसी दुःख को मिटाने के लिए परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए कि—प्रभो ! मैं अनादि काल से जरा और मरण के चक्कर में पड़ा हूँ। अब मैं इनसे त्रस्त हो गया हूँ। यह दुःख मुझे सता रहे हैं। तेरे सिवाय और किसी से यह दुःख नहीं मिट सकते। इन्हीं दुःखों का विनाश करने के लिए अनेक महापुरुषों ने समार का सर्वश्रेष्ठ वैभव त्याग कर राजपाट छोड़कर उस संयम की शरण गही है, जिसके बिना यह दुःख नहीं मिट सकते।

जरा और मरण का दुःख तुम्हें है या नहीं ? और तुम बूढा होना या मरना चाहते हो कि नहीं ? अगर तुम्हें यह दुःख अप्रिय है तो परमात्मा से प्रार्थना करो कि—प्रभो ! मुझे इस दुःख से बचा।

परमात्मा ही इस दुःख से बचा सकता है क्योंकि उसने स्वयं इस पर विजय प्राप्त की है । जिसने जिस पर विजय प्राप्त करली है वही उससे दूसरों की रक्षा कर सकता है । इस विश्व में परमात्मा को छोड़कर दूसरी कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो इस दुःख से मनुष्य को बचा सकती हो।

आज से पर्युषण-पर्व आरंभ होता है। भारतवर्ष में अनेक त्यौहार पर्व प्रचलित हैं। किसी पर्व के दिन राखी बाँधी जाती है, किसी पर्व के उपलक्ष में होली की ज्वाला सुलगाई जाती है किसी पर्व पर दीपक जलाये जाते हैं, किसी पर भैंसों और बकरों का निर्दय वध करके मनुष्य अपनी शूरवीरता का परिचय देते हैं !

इस प्रकार के अनेक पर्व आते हैं जिनका वास्तविक उद्देश्य न समझ कर भारतवासी आमोद-प्रमोद करते हैं, मनमाना खाते-पीते हैं और अनेक प्रकार के कुत्सित व्यवहार करके पापोपार्जन भी करते हैं।

इन सब त्यौहारों की अपेक्षा जैनों का पर्युषण पर्व निराला है। अन्य त्यौहारों के अवसर पर अच्छा और अधिक भोजन न किया तो यह समझा जाता है कि हमने त्यौहार मनाया ही नहीं। मगर पर्युषण के अवसर पर अच्छा और अधिक भोजन किया जाय और राग-रंग किये जायँ तो यह समझा जाता है कि हमने पर्युषण नहीं मनाया। इस प्रकार स्पष्ट है कि पर्युषण पर्व में अन्य पर्वों की अपेक्षा विलक्षणता है। कोई इस पवित्र पर्व की मर्यादा का उल्लंघन करे यह बात दूसरी है अन्यथा प्रत्येक जैन धर्मानुगामी अपनी शक्ति के अनुसार यह महापर्व मनाता ही है और दूसरे भद्र प्राणियों पर भी इसका प्रभाव पड़ता है।

अनेक स्थानों पर पर्युषण के दिनों में व्यापार बन्द रक्खा जाता है और मकान बनाने आदि के आरंभजनक कार्य भी नहीं कराये जाते।

पर्युषण पर्व आठ दिन का होता है। इसका कारण यह है कि किसी भी कार्य को अगर सम्यक् प्रकार से सम्पन्न करना हो तो उसमें समय की आवश्यकता रहती ही है। जब कोई लौकिक त्यौहार आने को होता है तो कई दिन पहले से उसकी तैयारी होने लगती है। दीपावली से कई दिन पहले सब लोग मकानों और दुकानों का कूड़ा-कचरा निकाल कर बाहर फेंकने लगते हैं ताकि दीपावली के समय पूरी सफाई होकर स्वच्छता हो जाय।

व्यापारी लोग वर्ष भर के आँकड़े तैयार कर लेते हैं जिससे वर्ष भर के हानि-लाभ का पता चल जाय। यही बात पर्युषण पर्व के सम्बन्ध में है। पर्युषण पर्व के अन्तिम संवत्सरी के दिन जो कार्य करना है उसकी तैयारी के लिए एक सप्ताह का समय नियत किया गया है। संवत्सरी के दिन आत्मा को शान्त, कषायहीन, निर्विकार और स्वच्छ बनाया जाता है। इसके लिए विशेष अभ्यास की आवश्यकता है और इसी आवश्यकता की पूर्ति के अर्थ एक सप्ताह का समय दिया गया है। इस एक सप्ताह में समभाव का अभ्यास करके अथवा समभाव को विशेष रूप से जागृत करके आत्मा को शान्त दान्त बनाया जाता है। अन्त करण का कूड़ा-कचरा काम क्रोध माया मोह आदि निकाल फेंकने के लिए यह सप्ताह है जो मनुष्य सात दिन तक अभ्यास करने में कमजोर रहेगा वह उसके बाद अपनी कार्यसिद्धी में भी कमजोर रहेगा। जो सात दिन में पूरी तरह शिक्षा पा लेगा वह अपने कार्य को साध लेगा।

भाद्रपद मास में पृथ्वी संतापहीन हो जाती है। पृथ्वी की कठोरता गल जाती है और उसमें मृदुता एवं शीतलता आ जाती है। ऐसे शान्तिमय वातावरण में पर्युषण पर्व आता है और मनुष्यों को प्रकृति की ओर इशारा करके मानो कहता है-तुम भी अपने हृदय का संताप छोड़ो। कठोरता तजो। मृदुता और शीतलता धारण करो। भाद्रपद मास में नदियाँ बड़े वेग के साथ एक भी क्षण रुके बिना अपने पति-सरित्पति-समुद्र-की ओर भागती दिखाई देती है। उसी समय पर्युषण पर्व हमारे कानों में कहता है—एक समय का भी प्रमाद मत करो। (समयं गोयम ! मा पमायए) देखो,

नदी किस अनवरत गति से, तेजी के साथ सागर की ओर भाग रही है। उसी प्रकार तुम भी अपने स्वामी–परमात्मा की ओर अनवरत गति से चलो। क्षण भर भी मत रुको। नदी बीच में आने वाली चट्टान को जैसे लाघ कर आगे बढ़ जाती है उसी प्रकार तुम भी समस्त विघ्नबाधाओं को लाघ कर परमात्मा के पथ पर बढ़ते चलो।

भाद्रपद मास में जब समस्त पृथ्वीतल हराभरा और प्रसादपूर्ण बन जाता है तो मयूर अपनी भाषा में और मेढक अपनी भाषा में मानो परमात्मा की स्तुति करने लगते हैं। उस समय पर्युषण पर्व हमें चेतावनी देता है–ऐ मनुष्य! क्या तू इन तिर्यञ्चों से भी गया बीता है कि सार्थक और व्यक्त भाषा पाकर भी तू प्रभु की विरुदावली का बखान नहीं करता और उच्च स्वर से शास्त्रों के पवित्र पाठ का उच्चारण नहीं करता? साराश यह है कि पर्युषण के समय में समस्त प्रकृति एक नवीन रूप लेती है।

पर्युषण पर्व शत्रु को भी मित्र बनाने का आदर्श उपस्थित करता है। चाहे आपका शत्रु अपनी ओर से शत्रुता का त्याग करे या नहीं, मगर आपको अपनी ओर से शत्रुता का त्याग कर देना चाहिए और हृदय को स्वच्छ करके उसे गले लगाना चाहिए। उस दिन प्राणी मात्र की मित्रता का अनुसधान करना चाहिए।

आप कह सकते हैं–जिन लोगों के साथ हमारा वैर वश-परपरागत है, उनके साथ मित्रता किस प्रकार की जाय? मगर पीढियों से वैर होता है तो पीढ़ियों से प्रेम भी होता है और क्या पीढ़ियों का वैर मिटता नहीं? मिटता न होता तो ज्ञानी पुरुष

मिटाने का उपदेश क्यों देते ? अगर आप धर्म की सचमुच आराधना करेंगे और आपका अन्तःकरण शुचि और तीव्र कषाय की वासना से रहित हो जायगा तो प्राणों के ग्राहक पुरुष के प्रति भी आपको वैरभाव नहीं रहेगा। उस समय सारी रचना बदल जायगी। शत्रुता की परिभाषा दूसरी हो जायगी। हृदय प्रेम से पूरित हो जायगा। प्रेम से जो आनन्द होता है, वैर से नहीं हो सकता। सबको मित्र बनाना अपना धर्म है। किसी को वैरी बनाना या किसी के वैरी बनना धर्म नहीं है।

बहुत से लोग कहा करते हैं कि हम तो वैर छोड़ते हैं पर वह वैर नहीं छोड़ता। यह कथन भ्रमपूर्ण है। अगर आपके हृदय में प्रेम की प्रबल भावना लहराने लगेगी तो उसके वैर की आग बुझे बिना रहेगी ही नहीं। वैर से ही वैर बढ़ता है। आपके हृदय का वैर आपके शत्रु की वैराग्नि का ईंधन है। जब उसे ईंधन नहीं मिलेगा तो वह आग कब तक जलती रहेगी ? आज नहीं तो कल अवश्य बुझ जायगी। इसके अतिरिक्त आप दूसरे की चिन्ता क्यों करते हैं ? अगर आपको निश्चय होगया है कि वैरभाव त्याज्य है और उससे सताप उत्पन्न होता है तथा आत्मा कलुषित होती है तो आपको त्याग कर ही देना चाहिए, चाहे दूसरा त्याग करे या न करे। आप त्याग करेंगे तो आपका कल्याण होगा, वह त्याग करेगा तो उसका कल्याण होगा। यह कोई सौदा नहीं है कि वह दे तो मैं दूं। अगर किसी की आत्मा अत्यन्त कलुषित है तो सभव है वह शीघ्र वैर न छोड़े, तब तक आप भी अपना अकल्याण क्यों करते है ? आपको निर्वैर बन कर अपनी आत्मा को शान्त और पवित्र बनाना ही चाहिए।

वैर भूलकर किस प्रकार अपने अपराध की आलोचना करनी चाहिए, यह जानने के लिए एक उदाहरण लीजिए।

भारत के प्राचीन राजाओं में राजा भोज बहुत प्रसिद्ध हैं। बहुत कम भारतवासी ऐसे मिलेंगे जो भोज के नाम से अपरिचित हों। राजा भोज के समय में अनेक अच्छी बातें होती थीं। भोज स्वयं अच्छे कामों में भाग लेता था और किसी को दुःख नहीं देता था। भोजराज की मृत्यु होने पर एक विद्वान् ने कहा है—

अद्य धारा निराधारा, निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिता खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते॥

अर्थात्–आज भोजराज का स्वर्गवास होने पर धारा नगरी निराधारा हो गई, सरस्वती का सहारा न रहा और सब पण्डित खण्डित हो गये।

इस कथन से स्पष्ट है कि राजा भोज अपनी प्रजा का प्रेम से पालन करता था और विद्या का बड़ा ही अनुरागी था। वह विद्वानों का खूब आदर-सत्कार करता था। भोज स्वयं विद्वान था अतः विद्या और विद्वानों की कद्र करना उसके लिए स्वाभाविक बात थी। राजा भोज दयालु और गुणवान् था।

भोज के राज्य में एक गरीब ब्राह्मण रहता था। ब्राह्मण निर्धन होने पर भी स्वमान का धनी था। जो कुछ मिलता उसी पर वह अपना निर्वाह कर लेता था। संचय के उद्देश्य से वह कभी किसी से कुछ न माँगता और न अपना अपमान कराता। वह भिक्षा पर अपना निर्वाह करता था। 'ब्राह्मण को धन केवल

भिक्षा।' उसके घर में तीन प्राणी थे-वह, उसकी माता और पत्नी। पर्याप्त भिक्षा न मिलने पर कभी उन्हें भूखा रहना पड़ता था।

एक दिन की बात है कि ब्राह्मण बहुत घूमा परन्तु उसे भिक्षा न मिली। घूमते-घूमते वह थक गया और भूख उसे सता रही थी। अन्त में उसने विचार किया-सभव है स्त्री ने कुछ बचा रक्खा हो तो इस समय तो वह खिलाएगी ही। फिर देखा जायगा। इस प्रकार विचार कर घर लौट आया। उसकी माता और पत्नी उसकी प्रतीक्षा कर रही थीं और सोच रही थीं वह कुछ लावे तो बनाए, खाए और खिलाए। मगर ब्राह्मण को खाली हाथ आया देखा तो उन्हें बड़ी निराशा हुई। वह ब्राह्मण से कुछ भी न बोली। ब्राह्मण घर गया। उसने अपनी पत्नी से कहा-लाओ, कुछ हो तो खाने को दो।

पत्नी-कुछ लाये हो.ओ तो बना दूँ। घर मे तो कुछ भी नहीं है।

ब्राह्मण-रोज लाता हूँ। आज नहीं मिला तो स्त्री होकर एक दिन का भोजन भी नहीं दे सकती ?

ब्राह्मण बहुत भूखा था। उसे क्रोध आ गया। उधर ब्राह्मणी भी लाल होगई। ब्राह्मणी ने कहा-कभी एक दिन से ज्यादा का भोजन लाए होओ तो मुझ से कहो कि सँभाल कर क्यों न रक्खा ? लाकर देना नहीं और फिर ऊपर से माँगना तथा तकरार करना यह भी भला कोई बात है। अगर खिलाने की हिम्मत,नहीं थी तो विवाह किये बिना ही कौन काम अटकता था!

ब्राह्मण तपा हुआ आया था। उसने क्रोध से तमतमाते हुए कहा—शंखिनी! मेरे घर तेरी जैसी स्त्री आई तो अब खाने

को कैसे मिल सकता है ? कोई सुलक्षणा स्त्री आती तो मैं कमा लाता। मगर तू ऐसी अभागिनी मिली है कि मैं भटकते-भटकते हैरान हो गया पर चार दाने अन्न भी न मिल सका। तू अर्धांगिनी है। तुझे भी कुछ तो करना चाहिए था। मिहनत मजूरी करके भी कुछ रखना चाहिए था। स्त्री को यह तो सोचना चाहिए था कि कदाचित् कोई अतिथी आजाय तो कैसी बीतेगी।

ब्राह्मणी और गरम हो गई। वह कहने लगी—बस बहुत हो गया। अब जीभ बन्द करलो। धिक्कार है उन सासूजी को, जिन्होंने तुम्हें जन्म दिया है। मैं अभागिनी हूँ तो अभागिनी ही सही, तुम्हारी माता तो भाग्यशालिनी हैं। उनके भाग्य से ही कुछ मिला होता। दरअसल अभागिनी मैं नहीं तुम्हारी माता हैं, जिन्होंने तुम सरीखा सपत पैदा किया जिसके पीछे मैं भी कष्ट पा रही हूँ।

ब्राह्मण ने कहा—तेरे माँ बाप ने तुझे तो खूब पैदा किया है जो अपनी सासू के लिए ऐसे शब्द बोलती है! निर्लज्जा को लज्जा छू भी नहीं गई।

यह कह कर ब्राह्मण अपनी पत्नी को पीटने लगा। ब्राह्मणी चिल्लाई—हाय, बचाओ, दौड़ो, कोई। उसके सिर से खून बहने लगा। स्त्री की पुकार सुनकर वहाँ पुलिस आ गई। पुलिस ने पूछताछ की। ब्राह्मणी कहने लगी देखो—मुझे इतना मारा है कि सिर से खून बहने लगा है। लड़ाई का कारण यही है कि घर में कुछ है नहीं और खाने को माँगते हैं। इस राज्य मे ऐसे भी आदमी रहते हैं। घर में दाना नहीं और विवाह करके स्त्री को

पकड़ लाते हैं और फिर उसकी मिट्टी पलीत करते हैं। उन्हीं से पूछ लो, लड़ाई का और कोई कारण हो तो।

ब्राह्मण सोचने लगा—बुरा हुआ। मैंने वृथा ही क्रोध में आकर इसे मारा। इज्जत जाने का मौका आगया।

पुलिस ने कहा—इसमें स्त्री का कोई अपराध नहीं। यह पुरुष का ही दोष है। ब्राह्मण! तुमने स्त्री पर अत्याचार किया है। तुम गिरफ्तार किये जाते हो।

ब्राह्मण गिरफ्तार होकर कोतवाल के पास पहुँचाया गया। ब्राह्मण सोचने लगा—क्रोध में आकर ब्राह्मणी को मार तो दिया, मगर अब कहूँगा क्या? पुलिस के सामने अपनी कष्टकथा कहने से लाभ ही क्या है। सिर्फ लज्जित होने के और क्या होगा? चाहे जो हो राजा के सिवाय और किसी को कुछ भी उत्तर न दूँगा।

कोतवाल ने कहा—तुम अपना बयान लिखाओ। तुमने क्या किया है और किस अपराध में गिरफ्तार किये गये हो?

ब्राह्मण बोला—मैं महाराज भोज को छोड़ कर और किसी के सामने बयान न दूँगा। कोतवाल ने बहुत डॉट-फटकार बतलाई, मगर ब्राह्मण टस से मस नहीं हुआ। उसने बयान नहीं दिया। कोतवाल ने सोचा—ब्राह्मण बड़े जिद्दी होते हैं। इससे जिद न करके महाराज के सामने पेश कर देना ही ठीक होगा। उसने ब्राह्मण के कथनानुसार राजा के सामने ही ब्राह्मण को पेश करने का निश्चय किया।

पहले जमाने में आजकल की तरह मुकद्दमे की तारीखों पर तारीखें नहीं पड़ती थीं। मामला मौखिक सुनकर चटपट फैसला

दे दिया जाता था। आजकल का न्याय बड़ा महंगा और विचित्र है। उस समय का न्याय सस्ता और सीधा था।

दूसरे दिन राजा भोज अपनी राज-सभा में आये। सिंहासन पर आसीन हुए। क्रम से सब अपराधी उनके सामने पेश किये गये। संयोगवश उस दिन पहला नंबर उस ब्राह्मण का ही था। राजा भोज ने ब्राह्मण के विषय में पूछा—यह कौन है? इसने क्या अपराध किया है? सरकारी शख्स ने कहा—यह ब्राह्मण है। इसने अपनी स्त्री को इतनी निर्दयता से पीटा है कि उसके सिर में खून आ गया। अगर स्त्री को दरबार में पेश किया जाता तो न जाने क्या-क्या कहती। परन्तु स्त्री को दरबार में लाने की आज्ञा नहीं है। इसलिए उसे पेश नहीं किया गया वह कहती थी—यह ब्राह्मण कुछ लाकर तो देता नहीं है और खाने को मांगता है! खाना न मिलने पर इसने स्त्री को बुरी तरह पीटा है।

राजा—ब्राह्मण! क्या यह बात ठीक है?

ब्राह्मण—महाराज! और सब ठीक है, एक बात गलत है। यह मुझे ब्राह्मण बता रहे हैं। पर मैं ब्राह्मण नहीं चाण्डाल हूँ।

कोतवाल—हुजूर! यह आपके सामने भी झूठ बोलता है। यह ब्राह्मण है और अपने को चाण्डाल प्रकट करता है।

ब्राह्मण—महाराज! यह लोग ऊपर की बातें देख कर मुझे ब्राह्मण कहते हैं। भीतर की बात का इन्हें पता नहीं। मैं असली भीतरी बात कह रहा हूँ।

सत्यं नास्ति तपो नास्ति नास्तीन्द्रियविनिग्रहः।
सर्वभूतदया नास्ति एतच्चाण्डाल लक्षणम्॥

सत्यं ब्रह्म तपो ब्रह्म, ब्रह्म इंद्रियविनिग्रह ।
सर्वभूतदया ब्रह्म, होतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥

महाराज ! सत्य का अभाव, तप का अभाव, इन्द्रियनिग्रह का अभाव और भूतदया का अभाव चाडाल का लक्षण है। जिस में सत्य हो, तप हो, इन्द्रियनिग्रह हो, प्राणियों की दया हो, वही ब्राह्मण कहलाता है।

जो ब्राह्मण होगा वह आपके समक्ष अभियुक्त बनकर नहीं आएगा। मुझ में चाडाल के लक्षण मौजूद हैं, अतएव मैंने अपने आपको चाडाल प्रकट किया है।

मित्रो ! आप दूसरों पर ही यह लक्षण घटाने का प्रयत्न मत करो। शास्त्र में श्रावक को भी ब्राह्मण कहा है। आप श्रावक होने का दावा करते हैं तो यह लक्षण अपने ही ऊपर घटाने का प्रयत्न करना।

ब्राह्मण ने कहा—जिसमे ब्राह्मण के यह लक्षण मौजूद हैं, वह ऊपर से चाडाल होने पर भी वास्तव में ब्राह्मण है। जिसमें चाडाल के लक्षण पाये जाते है, वह ऊपर से ब्राह्मण होने पर भी भीतर से चाडाल ही है।

किसी समय ब्राह्मणों की बहुत प्रतिष्ठा थी और उसका कारण उनका सदाचार था। आज यह स्थिति नहीं रही। आजकल के कई ब्राह्मण तो एक ही कन्या की दो जगह सगाई कर देते हैं और दोनों जगहों से रुपये पेंठ लेते हैं। एक जगह कन्या देना ठहरा कर उसे दूसरी जगह देना ठहरा लेना अन्याय की हद है। यह घोर अनीति है। सच्चा ब्राह्मण ऐसा घोर दुष्कर्म कदापि नहीं कर

सकता। कन्या बेचना महापाप है और जब ब्राह्मण ही यह महापाप करने लगेंगे तो दूसरे क्या नहीं करेंगे ?

मेरे पास एक दायमा (?) ब्राह्मण सज्जन एक प्रार्थना-पत्र लेकर आये थे। उसमें यह था कि हमारी जाति में लड़की के बदले रुपया न लेने का रिवाज था, लेकिन अब बहुत से लोग इस रिवाज को भंग करके रुपये लेने लगे हैं। इत्यादि। किन्तु ऐसे मामले में मैं क्या करता था ? मेरा अधिकार सिर्फ कहने का है, इसलिए कहता हूँ कि कन्या के बदले रुपया लेना महापाप है और इस तरह का रुपया लेने वाले का कभी भला होते नहीं देखा जाता।

एक आदमी के पाँच लड़कियाँ और एक लड़का था। उसने पाँचों लड़कियों के भरपूर रुपये लिये, फिर भी लड़का कुवारा रह गया, और उसके वंश का नाश हो गया। लड़कियों के रुपये लेने पर भी यह परिणाम निकला ! ऐसे ऐसे परिणाम देखते हुए भी लोग लालसा नहीं छोड़ते और यहाँ तक जघन्य कार्य करने लगते हैं कि एक कन्या की दो जगह सगाई कर देते हैं। आर्यजाति का, जो संसार में अद्वितीय उन्नत आदर्श वाली और धर्मपरायण समझी जाती है, यह नैतिक पतन देखकर किसे मानसिक संताप न होगा।

मेरा उद्देश्य ब्राह्मणों पर आक्षेप करना नहीं है। हमें भी ब्राह्मण ज्यादा प्रिय हैं। हमारे गणधर इन्द्रभूति गौतम ब्राह्मण ही थे, लेकिन सत्य, दया आदि ब्राह्मणोचित गुण न होने पर भी केवल ब्राह्मणी की कूख से जन्म लेने के कारण ही ब्राह्मण कहलाने वालों और अनार्योचित आचरण करने वालों को क्या कहा जाय। जिस देश में छह करोड़ ब्राह्मण रहते हैं और एक बहुत बड़ी

सख्या में साधु रहते हैं, उस देश का पलड़ा आज इतना नीचा क्यों झुका हुआ है? इस प्रश्न का समाधान करने चलोगे तो ऐसे ही कारण प्रतीत होंगे। ऐसे ही कारणों से भारत की नौका डूब रही है। लोगों ने अपने उज्ज्वल चरित्र को भुला दिया है और धर्म एव नीति से च्युत होते जा रहे हैं। मित्रो! अपने प्राचीन पूर्वजों के निष्कलक यश की रक्षा करो। उत्तराधिकार में मिले हुए गौरव को बढ़ाकर सपूत कहलाओ, जिससे भविष्य की सतान भी तुम्हारे ऊपर गर्व कर सके। तुम्हारे पूर्वजों ने तुम्हें जो प्रतिष्ठा इस विश्व में दिलाई है, क्या वह तुम अपनी सन्तति को नहीं दिला सकोगे? अगर न दिला सके तो सपूत नहीं कहला सकोगे। सपूत बनने के लिए पाप से डरो, नीति को मत छोड़ो, धर्म को जीवन में एक रस कर लो। ऐसा न किया तो कुदरत सजा देगी ही।

श्रीकृष्ण ने यादवों से जुआ, परस्त्री लोलुपता और मदिरापान छोड़ देने को कहा था। जैनकथा के अनुसार कृष्णजी ने भगवान् अरिष्टनेमि की वाणी सुनकर कहा था और भागवत आदि के अनुसार भावी देख कर कहा था। कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि उन्होंने यादवों को चेतावनी दी थी। उन्होंने कहा था-मैं स्वय यदुवश में जन्मा हूँ। मैंने तुम लोगों की रक्षा की है, लेकिन मेरे द्वारा ही सदा तुम्हारी रक्षा और पालन-पोषण होगा, यह मत समझो। इस भ्रम में रहोगे तो बुरे दिन देखने पड़ेंगे। अगर तुम तीन बातें छोड़ दोगे तो मैं तुम लोगों का रक्षक और कल्याणकर्त्ता हूँ। अगर तीन बातें न छोड़ोगे तो आपस में ही मूसलों से सिर फोड़कर मर जाओगे। वह तीन बातें यह है-मदिरापान, द्यूत और परस्त्री सेवन।

यों यह तीन बातें साधारण ही थीं, फिर भी यादवों ने कृष्ण की बात नहीं मानी। उन्होंने मदिरापान किया, जिससे वंश का नाश हो गया।

आप लोगों में कोई दारू तो नहीं पीता ? आज कल कई ओसवाल कहलाने वाले भी दारू पीने लगे हैं। मगर स्मरण रक्खो, दारू पीने वालों की कृष्ण भी रक्षा न कर सके, तो औरों की क्या चलाई है ! अगर कुसंगति में पड़ कर कोई पीने लगा हो तो उसे अब त्याग देना चाहिए।

कृष्णजी ने दूसरी बात जुआ छोड़ देने की कही है। जुआ का व्यसन मनुष्य को कितनी बड़ी-बड़ी मुसीबतों में डाल देता है, यह कौन नहीं जानता ? युधिष्ठिर जैसे शूरवीर और प्रतापी महापुरुष की जो दुर्दशा जुआ ने की, उसे सभी जानते हैं। फिर तुम किस खेत की मूली हो ? जुआ खेल कर अपनी प्रतिष्ठा गँवाना, अपनी सम्पदा से हाथ धो बैठना और फिर अनेक पापों में प्रवृत्त होना, किसी भी दशा में वाँछनीय नहीं हो सकता। आजकल जुए के अनेक सभ्य (!) रूप प्रचलित हो गये हैं। उन सब से बचना विचारशील पुरुषों का कर्त्तव्य है।

कृष्ण ने तीसरी बात परस्त्री-त्याग की कही थी इस विषय में अधिक क्या कहा जाय ? कुलीन पुरुषों के लिए परस्त्रीगमन एक महान् कलंक रूप है। कुलीनता के नाते भी इस पाप से बचना आवश्यक है। इससे लोक और परलोक दोनों सुधरते हैं।

कृष्णजी क्या जैन और क्या वैष्णव—सभी के महापुरुष हैं। वे पुरुषोत्तम और भावी तीर्थंकर हैं। सच्ची और हितकर

बात तो एक अदना आदमी की भी मानी जाती है, फिर वे तो महापुरुष थे। उनकी बात मानने में हित ही है।

जिससे यह तीन बातें सिद्ध हों, उसका भवभ्रमण मिट गया समझो। इनके त्याग से सभी दृष्टियों से जीवन पवित्र बनता है। आप लोगों को भी इन तीन बातों का त्याग कर देना चाहिए। मगर यादवों की तरह मत करना। यादवों ने कृष्ण के सामने तो स्वीकार कर लिया था कि हम इन तीनों का त्याग कर देंगे, मगर दरअसल त्यागी नहीं। इसी प्रकार आप भी कदाचित् सामने कह दें और फिर त्याग न करें। मुझे आपने अपना गुरु माना है, परन्तु इन तीन बातों के न त्यागने पर कृष्ण भी यादवों की रक्षा न कर सके, तो मैं क्या कर सकता हूँ? सारांश यह कि अपने धर्म पर निश्चल हुए बिना कल्याण नहीं हो सकता।

जिसके हृदय में गुणों के प्रति राग होगा, जो अपनी आत्मा को निर्दोष बनाना चाहेगा और जिसने पवित्र जीवन बिताने का संकल्प किया होगा, वह भूल से, उत्तेजना से या लालच से किये हुए अपराध को स्वीकार करने में आगा-पीछा नहीं करेगा। सरल हृदय व्यक्ति को अपना दोष इसी प्रकार चुभता रहता है जैसे शरीर में काँटा, और जैसे काँटा निकले बिना मनुष्य को चैन नहीं पड़ता, उसी प्रकार अपना दोष त्यागे बिना पवित्र हृदय पुरुष को शान्ति नहीं मिलती। विवेकशाली पुरुष भलि-भांति जानता है कि आन्तरिक विकार का शल्य अधिक और दीर्घकाल तक कष्टदायी होता है।

वास्तव में अपराध स्वीकार कर लेना बड़ी बात है। उस ब्राह्मण ने अपना अपराध स्वीकार करके कहा—'मैं ब्राह्मण नहीं

चाडाल हूँ।' आप भी अपने अपराध छिपाने की चेष्टा मत करो, वरन् परमात्मा के आगे प्रगट कर दो।

ब्राह्मण की बात सुन कर राजा दंग रह गया। उसने सोचा—यह ब्राह्मण कितना स्पष्ट वक्ता और आत्मबली है! मगर राजा को इस मामले की जड देखनी थी। अत राजा ने कहा—'तुम चाहे ब्राह्मण होओ, चाहे चाडाल होओ। जो अपराध करेगा, उसे दण्ड मिलेगा ही। अब यह बतलाओ कि तुमने अपनी स्त्री को क्यों मारा?'

ब्राह्मण पढ़ा-लिखा था। उसने राजा से कहा—'राजन्! मेरी बात सुन लीजिए और फिर जिसका अपराध हो, उसे दंड दीजिए।'

राजा—हाँ, सुनाओ, क्या कहना चाहते हो?

ब्राह्मण—

अम्बा तुष्यति न मया न तया, साऽपि नाम्बया न मया।
अहमपि न तया न तया, वद राजन्! कस्य दोषोऽयम्॥

महाराज! आप दोष का निर्णय करो—कि वास्तव मे किसका है? और जिसका अपराध सिद्ध हो, उसे दण्ड दो। हम घर में तीन प्राणी हैं—मैं, मेरी माता और मेरी पत्नि। पुत्र कैसा भी हो, मगर माता का धर्म उससे प्रेम करना और उसकी रक्षा करना है। कहावत है—'पूत कपूत हो जाता है, मगर माता कुमाता नहीं होती।' मगर मेरी माता, मेरी रक्षा तो दूर रही, मीठे शब्द भी नहीं बोलती। कभी मुझे बेटा कह कर सबोधन भी नहीं करती, वरन् स्नेह के बदले गालियाँ देती है। किसी-किसी घर

माँ-बेटा में स्नेह नहीं होता, तो सास-बहू में ही प्रेम होता है, मगर मेरे घर यह भी नहीं है। माँ, मेरी पत्नि को गालियाँ तो देती है, पर कभी मधुर वचन नहीं कहती। यह सुनकर आप सोचेंगे कि यह माता का अपराध है, मगर बात यहीं खत्म नहीं होती। अनेक स्त्रियाँ ऐसी होती हैं कि सास की जली कटी बातें सह लेती हैं— शान्ति के साथ सुन लेती हैं लेकिन मेरी स्त्री, माता की आधी बात भी नहीं सुन सकती। वह एक बदले चार सुनाती है। अपनी बातों से उसे शान्त तो करती नहीं, उल्टी जला देती है। कई जगह सास-बहू में प्रेम नहीं होता। मगर पति पत्नी में प्रेम होता है। लेकिन मेरे घर यह भी नहीं है। मुझमें और मेरी पत्नी में कितना प्रेम है, यह बात तो इसी मामले से जाना जा सकता है। अनेक माताए कैकेयी के समान होती हैं, मगर उनके पुत्र रामचन्द्र सरीखे होते हैं। मगर मैं ऐसा अभागा हूँ कि अपनी माता को जननी तक नहीं कहता। सदा अवज्ञा ही करता रहता हूँ। अप-शब्दों की कभी कभी बौछार कर देता हूँ। राजन्! आप ही निर्णय कीजिये यह सब किसका अपराध है? जिसका अपराध हो, उसे दण्ड दीजिए।

राजा भोज बड़ा बुद्धिमान् था। उसने कहा—'मैं सब समझ गया।' और राजा ने भंडारी को आज्ञा दी—'इस ब्राह्मण को एक हजार मुहर दे दो।' राजा की आज्ञा सुन कर भंडारी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सोचने लगा—बात क्या हुई? ब्राह्मण ने अपराध किया है—अपनी स्त्री का खून बहाया है और महाराज उसे यह इनाम दे रहे हैं। अपराध की सजा एक हजार मुहर इनाम।

भंडारी की मुख मुद्रा पर विस्मय का जो भाव उदित हुआ, उसे पहचान कर राजा ने कहा—तुम्हें क्या शंका है ? क्यों आश्चर्य हो रहा है ? स्पष्ट कहो न !

भंडारी बोला—स्त्री को पीटने के बदले इस ब्राह्मण को एक हजार मुहर मिलने की बात नगर में फैल जायगी तो बेचारी स्त्रियों पर घोर संकट आ पड़ेगा और राज्य का खजाना खाली होने का अवसर उपस्थित हो जायगा। सभी लोग अपनी अपनी स्त्री को पीट कर इनाम लेने के लिए आ खड़े होंगे।

राजा ने कहा—भंडारी बात तुम्हारी समझ में नहीं आई। जो आदमी खाता-पीता सुखी है, वह अपनी स्त्री को मारेगा तो उसे दंड देने में जरा भी रियायत नहीं की जायगी, चाहे वह मेरा पुत्र ही क्यों न हो ! ऐसे अत्याचारी का पक्ष मैं कदापि नहीं लूँगा। मैं स्त्री को मारने के बदले इसे मुहर नहीं दिला रहा हूँ, किन्तु इसे दूसरा दुःख है। उस दुःख को दूर करने के लिए ही मुहर दिलाता हूँ। दंड और कानून, अन्याय और अत्याचार रोकने के लिए है, बढ़ाने के लिए नहीं। अगर इस ब्राह्मण को कैद कर लिया जाय तो इसकी इज्जत जायगी, यह निर्लज्ज बन जायगा और अपराध का जो मूल कारण है वह दूर नहीं होगा। अभी माँ, बेटा और स्त्री लड़ते-झगड़ते भी एक साथ रहते हैं। इसे कारागार में डाल देने से सब तितर-बितर हो जायगे। अभी तक किसी ने किसी को त्यागा नहीं है, मगर कैद की हालत में एक दूसरे को छोड़ कर भाग जायेंगे। इसके अतिरिक्त इसे सजा देने का अर्थ इसकी वृद्धा माता और गरीब पत्नी को सजा देना होगा। ऐसा करने से अनेक प्रकार की बुराइयाँ फैल जायेंगी।

'भण्डारी ! तुम इस ब्राह्मण की बुद्धि पर विचार करो। इसने कहीं बयान नहीं दिया और यहाँ आया है। यह जानता था कि कानून के शब्दों को ही सभी कुछ समझकर उन्हीं से चिपटे रहने वाले लोग मेरा दुःख नहीं मिटा सकते। वे न्याय की आत्मा को नहीं देख सकते। फिर उनके सामने दुखड़ा रोकर क्यों अपनी इज्जत गवाऊं ? असल में इसके अपराध का कारण दरिद्रता है। मैंने मुहरें देकर उस दरिद्रता को ही दण्डित किया है। मेरी समझ में राजा का यही धर्म है। राजा को अपराध के मूल कारणों पर विचार करना चाहिए और जिन कारणों से लोग अपराध में प्रवृत्त होते हैं, उनका निवारण करना चाहिए। रोग की ऊपरी औषध करना ही पर्याप्त नहीं है, मगर रोग के कारणों को दूर करना ही महत्वपूर्ण बात है।'

आज कल दरिद्रता का दुःख बेहद बढ़ गया है। बी०ए० और एम०ए० पास करने वालों को इस दुःख के मारे फाँसी खा कर मरना पड़ता है। उन्हें नौकरी नहीं मिलती और दूषित शिक्षा-पद्धति के कारण वह मिहनत-मजूरी करना मरने से भी अधिक कष्टकर समझते हैं। भारत का राज्य अंग्रेजों के अधीन है। वह सात समुद्र पार बैठ कर शासन करते हैं। प्रजा के प्रति उन्हें अनुराग नहीं आत्मीयता नहीं, सहानुभूति नहीं। प्रजा को कंगाल बनाने वाली नयी-नयी योजनायें और कानून गढे जाते हैं और बुरी तरह देश को चूसा जा रहा है। किसी समय जो देश सब भाँति से समृद्ध था, धन-धान्य से परिपूर्ण था, आज उसकी इतनी गयी गुजरी हालत हो गई है कि थोडे से पैसों के लिए माता अपने पुत्र को बेच देने के लिए उद्यत है। दरिद्रता के इस घोर

अभिशाप ने भारत वासियों का जीवन कितना हीन, दीन, जघन्य और कलुषित बना दिया है! यह देख कर किसे मनस्ताप न होगा! कहाँ है आज राजा भोज सरीखे प्रजावत्सल नृपति, जिन्हें प्रजा के कष्टों का सदा ध्यान रहता था और जो प्रजा की भलाई में ही अपने राज-पद की सार्थकता मानते थे! प्राचीन काल के भारतीय राजा, 'प्रजा के संरक्षक थे। सम्पूर्ण राज्य एक बडा परिवार था और राजा उसका मुखिया था। इसी कारण भारतीय प्रजा राजा को अपने पिता के तुल्य मानती थी। राजा और प्रजा में कितना मधुर सम्बन्ध था उस समय! आज यह सब भूतकाल का सपना बन गया है। प्रथम तो आजकल ससार से राजतन्त्र ही उठता जा रहा है और प्रजा अपने अधिकार मे शासनसूत्र ग्रहण करती जा रही है, जहाँ कहीं राजतन्त्र शेष है, वहाँ राजा और प्रजा में भयँकर सघर्ष ही दिखाई देता है। इसका प्रधान कारण यही है कि राजा अपने उत्तरदायित्व से गिरगये। उन्होंने अपने को प्रजा का सेवक न समझ कर ईश्वर द्वारा नियुक्त स्वच्छद भोग का पुतला समझा। प्रजा को चूसना और विलास करना ही अपना ध्येय बना लिया। फल यह हुआ कि राजा और प्रजा के हित परस्पर विरोधी बन गये। जहाँ हित मे पारस्परिक विरोध होता है और दूसरे के हित का घात कर अपना हित साधन करने की प्रवृत्ति होती है, वहाँ सघर्ष अवश्यम्भावी है। यही राजा प्रजा के सघर्ष का कारण है। अर्वाचीन इतिहास स्पष्ट बतलाता है कि विजय प्रजा-पक्ष के भाग्य मे है। आखिर प्रजा की ही विजय होगी। इस सत्य को समझ कर राजा लोग समय रहते सावचेत हो जाएँ, तो इसमें उन्हीं की भलाई है।

राजा भोज प्रजा-रंजन करने के कारण सच्चा राजा था। प्रजा के दुःख-दर्द को समझना और उसे दूर करना ही उसका मुख्य कर्त्तव्य था। यही उसका राजधर्म था। प्रजा उसे पुत्र के समान प्रिय थी, इसलिए वह पिता के समान प्रजा का आदरणीय था। उसने ब्राह्मण के कष्टों पर सहृदयता से विचार किया और उन्हें मिटा दिया।

भंडारी का भ्रम भंग हो गया। वह मन ही मन भोज की प्रशंसा करने लगा। उसने एक हजार मुहरें लाकर ब्राह्मण के सामने रख दीं।

राजा ने ब्राह्मण से कहा—जिसका अपराध था, उसे दंड दिया गया है। लेकिन इस कांड की पुनरावृत्ति हुई तो भारी दंड दिया जायगा।

ब्राह्मण ने कहा—महाराज! आपके उचित निर्णय की प्रशंसा करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। अब अपराध हो तो मेरे तन के टुकड़े-टुकड़े करवा दीजिएगा।

मुहरों की थैली लेकर ब्राह्मण अपने घर चला। घर में सास-बहू के बीच कहल मचा हुआ था। सास कहती थी—'तूने उससे ऐसा क्यों कहा? उसकी बात सुन क्यों नहीं ली?' बहू कहती थी—'उन्होंने मुझ से ऐसा कहा क्यों? बस, इन्हीं मूल सूत्रों पर भाष्य और टीकायें रची जा रही थीं।

उसी समय थैली लिए ब्राह्मण आता दिखाई दिया। उसे देख दोनों शान्त हो गईं। थैली देखकर उन्हें कुछ तसल्ली हुई। आज तक इतना नाज भी कभी घर में नहीं आया था। अतएव

भीतर की-मुहरें न दिखाई देने पर भी उनकी प्रसन्नता का पार नहीं था। ब्राह्मण जब निकट आ गया और थैली में गोल-गोल चीजें मालूम हुई तो कहना ही क्या था! उन्होंने सोचा—अगर इतने पैसे हों तब भी बहुत हैं।

दोनों की लड़ाई बन्द हो गई। उनकी विचारधारा बदल गई। सास बोली—'बेटे को वजन लग रहा होगा, मैं थैली ले लूं।' बहू ने कहा—'तुम बूढी हो, तुमसे क्या बनेगा! लाओ मैं ही लिये लेती हूँ।' सास ने उत्तर दिया—'तुझे चोट लगी है न! तुझसे कैसे बनेगा!' बहू मुस्किरा कर बोली—'इस मार में क्या रक्खा है! पति की मार और घी की नाल बराबर होती है।'

आखिर दोनों थैली लेने दौड़ीं। सास कहती थी—बहू को चोट लगी है, इसे बोझ मत देना। बहू कहती थी—सास बूढी हैं, इन्हें तकलीफ मत देना। ब्राह्मण ने कहा—तुम दोनों ही कष्ट मत करो। यह बोझ मेरे ही सिर रहने दो अपना अपराध का भार मुझे ही उठाने दो।

थैली लिये ब्राह्मण घर पहुँचा। थैली खोली तो उसमें पीली-पीली मुहरें देखकर सास-बहू दोनों चकित रह गईं। प्रसन्नता का पारावार न रहा। भूखे घर में अनाज के इतने दाने आते तो क्या कम थे! फिर यह तो मुहरें ठहरीं।

मा कहने लगी—बेटा! मेरी जैसी कठोर हृदया माता नहीं और तुझ-सा सपूत बेटा नहीं। मैं सदा सापिनी ही रही। कभी तुझे शान्ति न पहुँचाई। माता का कर्त्तव्य बेटे पर करुणा रखना है, मगर मैंने कभी सीधी बात भी न की। तू धन्य है बेटा, जो

मुझे छोड़ कर कहीं चला न गया, नहीं तो ऐसी कर्कशा माता का पालन करने के लिए कौन रहता है ! अब तू मुझे क्षमा कर देना।

बहू ने कहा—यह सब मेरा ही कसूर था ! मैं घर में आई तभी से सब को कष्ट में पड़ना पड़ा। मैंने पति और सास की सदैव अवज्ञा ही की थी ! मेरी जैसी स्त्री जिस घर में हो, वहां पाप न बढ़े तो क्या हो ! सीता इतने-इतने कष्ट सहन करके भी पति के साथ रही। पर मुझ दुष्टा ने आप दोनों को कभी प्रिय वचन भी न कहा ! इतने पर भी आप दोनों ने मुझे त्यागा नहीं, यह बड़ी कृपा की। अब आप मेरे सब अपराध भूल जाँय।

ब्राह्मण बोला—मां और प्रिये ! तुम मुझे क्षमा करना। मेरा कर्त्तव्य तुम्हारा पालन करना था। सपूत बेटा वृद्धावस्था में माता की सेवा करता है और सच्चा पति अपनी पत्नी की सदैव रक्षा करता है। मैंने दोनों में से एक भी कर्त्तव्य नहीं पाला। मैं तुम्हें भरपेट भोजन भी तो न दे सका ! जो पुरुष अपनी जननी और पत्नी का पेट भी नहीं भर सकता, वह धिक्कार का पात्र है। मैंने भोजन नहीं दिया, इतना ही नहीं, वरन् भोजन मांगा और उसके लिए झगड़ा भी किया। माता की सेवा करना दरकिनार, उससे कभी मीठे शब्द तक न कहे। मेरे इस व्यवहार के लिए तुम दोनों ही मुझे क्षमा करना।

इस प्रकार तीनों ने अपनी अपनी आलोचना की। ब्राह्मण ने कहा—अब भूतकाल की बात भूल जाओ। हम लोग दरिद्रता से पीड़ित थे, इसीलिए घड़ी भर पहले क्या थे और अब दरिद्रता दूर होते ही क्या हो गये ! गुण गाओ राजा भोज का, जिसने अपना यह दुःख जान लिया और मिटा दिया।

इस प्रकार ब्राह्मण का यह छोटा-सा कुटुम्ब शीघ्र ही सुधर गया। तीनों बड़े प्रेम से रहने लगे। दरिद्रता के साथ ही साथ कलह भी दूर हो गया।

ब्राह्मण अपना दुःख राजा के पास ले गया था। इसी प्रकार हम लोग क्या अपना दुःख भगवान् के पास ले गये हैं? मैंने प्रार्थना में कहा था—

श्री अभिनन्दन दुःखनिकंदन, वन्दन पूजन जोग जी।
आशा पूरो चिन्ता चूरो, आपो सुख आरोगजी॥

परमेश्वर के दरबार में हम भी यह फरियाद लेकर उपस्थित होते हैं। लेकिन जिस प्रकार ब्राह्मण ने निष्कलिम हृदय से अपना अपराध स्वीकार किया था, उसी प्रकार हम लोगों को भी अपना अपराध स्वीकार करना चाहिए। अपने अपराध को दबाने की चेष्टा करने से ईश्वर भी कुछ नहीं कर सकेगा। अतएव कृत पापों के लिए पश्चाताप करो। परमात्मा के प्रति विनम्र भाव से क्षमा प्रार्थी बनो। आगे अपराध न करने का दृढ़ सङ्कल्प करो। ऐसा करने से कल्याण होगा।

११

तपः-महाशक्ति

जय जय जिन ! त्रिभुवन धनी ।

यह भगवान् शीतलनाथ की प्रार्थना है । भक्त, भगवान् के चरणों में क्या भेंट अर्पित कर सकता है ? उसके पास और क्या है ? उसे वाणी की जो शक्ति मिली है, उसी का उपयोग करके वह तल्लीनता के स्वर में बोलता है —

जय जय जिन ! त्रिभुवन धनी ।

हे तीन लोक के स्वामी ! तेरा जय जयकार हो । हे प्रभो ! समस्त जगत आधि-व्याधि की वेदना से पीड़ित है । मनुष्य लोक में भी पीड़ा है, देवलोक में भी पीडा है, और नरक में तो निरन्तर हाहाकार मचा ही रहता है । तीनों लोकों के जीवों का कल्याण चाहने के लिये मैं त्रिभुवन धनी की जय चाहता हूँ । हे प्रभो ! तेरी प्रार्थना करके नरक का जीव भी एकावतारी होकर मोक्ष जा सकता है यहाँ तक कि तीर्थंकर भी हो सकता है । जब नरक का नारकी जीव भी इतनी उन्नति कर सकता है तो हम मनुष्यों को हिम्मत हारने का कोई कारण नहीं है । मगर हम मनुष्य एक बड़ी भूल करते हैं । वह यह कि दुःख के समय हम

चिल्लाहट मचाते हैं और सुख के समय तुझे भूल जाते हैं। यह भूल हमारी उन्नति में बाधक है। जबतक यह भूल मिट न जाय, तबतक उन्नति किस प्रकार हो सकती है।

एक तरह से मनुष्य व्यर्थ ही दुःख-दुःख चिल्लाया करता है। व्यर्थ ही दुःख की चिन्ता करता है। वास्तव में अभी तो मनुष्य को कुछ भी दुःख नहीं है। नरक के जीवों की तरफ देखने पर—उनके दुःख से अपने दुःख की तुलना करने पर—मालूम होगा कि हम मनुष्य कितने सुखी हैं। अतएव मनुष्य को दुःख से घबराना नहीं चाहिये, वरन् यह सोचना चाहिये कि परमात्मा की प्रार्थना करके नारकी जीव भी सुखी हो सकते हैं तो हम सुखी बनने का प्रयास क्यों न करें? हम नारकी जीवों से गये बीते क्यों रहें?

अगर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करोगे तो मालूम होगा कि जगत् की प्रचलित व्यवस्था में दुःख का ही प्रधान स्थान है। दुःख संसार का व्यवस्थापक है। भूख का दुःख न होता तो खेती कौन करता? लज्जा जाने का दुःख न होता तो वस्त्र कौन पहनता और कौन बनाता? शीत, ताप और वर्षा का दुःख न होता, तो मकान बनाने की क्या आवश्यकता पड़ती? गर्मी से पैर न जलने या कांटा लगने से कष्ट न होता, तो जूता कौन पहनता? इस प्रकार देखोगे तो प्रतीत होगा कि दुःख रूपी विशाल मशीन में ही संसार की सारी व्यवस्था ढली है। कहावत है—आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। राजा का आविष्कार भी आवश्यकता ने ही किया है। दुःखों से बचने के लिये राजा बनाया गया है।

दुःख न होता तो संसार की मशीन ही अस्तव्यस्त हो जाती। इतना ही नहीं, दुःख मनुष्य को महान्, बलवान और तेजस्वी बनाता है। संसार के इतिहास में जिन विशिष्ट शक्तिसम्पन्न पुरुषों के नामों का उल्लेख आता है, उनके जीवन चरित पर एक सरसरी निगाह डालिये। आपको स्पष्ट प्रतीत होगा कि उनकी जो महत्ता है, उसका सारा रहस्य दुःख सहन करने की उनकी क्षमता में है। उन्होंने दुःखों से जूझकर ही महत्ता प्राप्त की है। सुख के संसार में विलास के कीड़े उत्पन्न होते हैं और दुःख की दुनिया में दिव्यशक्तिसम्पन्न पुरुषों का जन्म होता है। वनवास के घोर दुःख सह कर ही रामचन्द्र ने मर्यादा पुरुषोत्तम का पद प्राप्त किया, विविध प्रकार की दुस्सह वेदनायें झेल कर ही त्रिशला-नन्दन, भगवान् महावीर कहलाये। हँसते-हँसते प्राण देकर ईसा, ईसाइयों के आराध्य बने। संसार क्षेत्र में भी यही बात देखी जाती है। जंगल-जंगल में भटक कर ही राणा प्रताप इतिहास में अमर हो सके, और अंगरेजों की लातें, घूंसे तथा कारागार के कष्ट सहने के पश्चात् मोहनदास गांधी 'महात्मा' पद के अधिकारी हुए हैं। इन्हें तथा अन्य असाधारण पुरुषों को दुःख ने जो महत्ता प्रदान की, वह कोई नहीं दे सका। दुःख के साथ संघर्ष करते-करते आत्मा में एक प्रकार की तेजस्विता का प्रादुर्भाव होता है। अन्तःकरण में दृढ़ता आती है। हृदय में बल आता है। और तबीयत में मस्ती आती है। दुःखों को सहन करने में विजय का मधुर स्वाद आता है, जिसका अनुभव सबको नहीं होता। अतएव दुःख हमारे शत्रु नहीं, मित्र हैं। शत्रु वह मानसिक वृत्ति है जो आत्मा को दुःखों के सामने कायर बनाती है और दुःखों

से दूर भागने के लिए प्रेरित करती है। सत्वशाली पुरुष दुःखों से बचने की प्रार्थना नहीं करता, वरन् दुःखों पर विजय प्राप्त करने योग्य बल की प्रार्थना करता है।

मित्रो ! दुःख को आगे करके रोओ मत। हाय दुःख हाय दुःख, मत चिल्लाओ। संसार में अगर दुःख है तो उन पर विजय प्राप्त करने की क्षमता भी तुम्हारे भीतर मौजूद है। उसके मिटाने के उपाय भी हैं। अतएव रोना किस लिए ? रोना तो स्वयं ही एक प्रकार का दुःख है। इस दुःख की सहायता से ही क्या दुःखों को जीतना चाहते हो ? दुःखों को जीतने का सच्चा उपाय परमात्मा की प्रार्थना करना है।

शास्त्र में एक महाशक्ति का नाम आया है। जान पड़ता है, लोग उस महाशक्ति से अपरिचित हैं। मैं संक्षेप में उस शक्ति का परिचय कराना चाहता हूँ। खेद का विषय है कि लोग अपने सच्चे शिक्षक को भूल गये हैं। सच्ची शिक्षा को भी भूल गये हैं और कृत्रिम विद्या के चक्कर में पड़े हैं। सच्ची शिक्षा को भूल जाने के कारण संसार ने उस महाशक्ति और उसको धारण करने वाले महापुरुषों को भी विस्मरण कर दिया है। मैं यह बतलाने का प्रयत्न करूंगा कि वे महापुरुष कैसे हो गये हैं और उनमें कैसी महाशक्ति थी।

पोलासपुर नामक नगर में विजयसेन राजा और श्रीदेवी नामक उसकी रानी थी। श्रीदेवी के उदर से एक महापुरुष का जन्म हुआ, जिनका नाम अतिमुक्त था और जो एवन्ता नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

पोलासपुरी नगरी को राजा विजयसेन है नाम ।
श्रीदेवी अग ऊपन्या सरे एवन्ता कुमार रे ॥
एवन्ता मुनिवर नाव तिराई बहता नीर में ॥
बेले-बेले करे पारणा गणधर पदवी पाया ।
महावीर की आज्ञा लेने गौतम गोचरी आया रे । एवन्ता०॥
खेल रहा था खेल कुँवरजी देख्या गौतम आता ॥
घर घर माँहि फिरे हींडता पूछे इसड़ी बाता हो ॥एवन्ता० ॥

इस कविता में बतलाया गया है कि एवन्ता मुनि ने पानी मे नाव तिराई । मगर विचार कीजिए कि उन्होंने किसकी नाव तिराई ? अपनी खुद की या आपकी ? अगर उन्होंने ही अपनी खुद की नाव तिराई होती, तो हम उन्हें क्यों गाते हैं ? दूसरे की नाव तिरी तो हमें उसे गाने की क्या आवश्यकता है ? हमारे गाने का कारण तो यह है कि उन्होंने हम लोगों की नौका भी तिराई है । अस्तु ।

श्रीदेवी महारानी की कूख मे एवन्ता का जन्म हुआ । पाँच धायों की निरन्तर सेवा-शुश्रुषा मे पल कर वह कुछ बड़े हुए । टीकाकारों का कथन है कि उस समय उनकी उम्र छह वर्ष की थी । लेकिन शास्त्र में आठ वर्ष से कम उम्र के बालक को मुनि दीक्षा देने का निषेध है । शास्त्र में उनकी उम्र के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, अतएव इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता । हाँ, इतना तो स्पष्ट मालूम होता है कि उस समय वह खेलते थे । विद्याध्ययन करने के लिए गुरुकुल आदि में नहीं गये थे ।

एवन्ताकुमार नहा-धोकर और स्वच्छ वस्त्र पहन कर खेलने के निमित्त उस स्थान पर गये, जो बालकों के खेलने के लिये ही बना था और जहाँ सन्स्कारी बालक खेला करते थे।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन काल में बालक को कैसी शिक्षा दी जाती थी और आज कैसी शिक्षा दी जा रही है? पहले बालक आठ वर्ष की उम्र तक गुरुकुल आदि में पढ़ने नहीं भेजा जाता था। इस उम्र तक बालक खेल कूद में ही पारिवारिक और कुलधर्म सम्बन्धी शिक्षा पाते थे। उनके कोमल मस्तिष्क पर किसी प्रकार का बोझ नहीं लादा जाता था। बालकों की इन्द्रियों की शक्ति का स्वयं विकास हो ऐसा प्रयत्न किया जाता था। स्वयं स्फुरण के द्वारा जब बालक की इन्द्रियां ग्रहणशील हो जाती थीं, और मस्तिष्क क्रियाशील बन जाता था, तब उसे विशेष शिक्षा दी जाती थी। आज की प्रचलित पद्धति ऐसी नहीं है। आज आठ वर्ष के बालक भी पोथियों के बोझ से दबा दिये जाते हैं। उनके दिमाग में ऊपर से इतना ज्ञान भरने की चेष्टा की जाती है कि न पूछिये बात! इस समय का साधारण दर्जे का शिक्षक मानो यही मानता है कि बालक में अपना निजी कुछ नहीं है और शिक्षक को अपना ही ज्ञान बालक के दिमाग में घुसेड़ना है। यह एक भयंकर भ्रम है। बाहर से ज्ञान ठूसना शिक्षा नहीं है। सच्ची शिक्षा है—बालक की दबी हुई शक्तियों को प्रकाश में ले आना, सोई हुई शक्तियों को जगा देना, बालक के मस्तिष्क को विकसित कर देना, जिससे वह स्वयं विचार की क्षमता प्राप्त कर सके। मगर इस तथ्य को कम शिक्षक ही समझते हैं। इस पर भी एक बड़ी कठिनाई यह है कि सरकार-

संशोधन की ओर आजकल बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। आज की शिक्षा का लक्ष्य विद्वान बना देना भर है, चारित्रशीलता से उसे कोई सरोकार नहीं। ज्ञान में ही जीवन की कृतार्थता समझी जाती है! मगर जीवन के वास्तविक उत्कर्ष के लिये उच्च और उज्ज्वल चरित्र की आवश्यकता है। चारित्र के अभाव में जीवन की संस्कृति अधूरी ही नहीं, शून्य रूप है। यही कारण है कि इस शिक्षा के फल-स्वरूप शिक्षित लोग धर्म से दूर जा पड़ते हैं।

सन्तान के प्रति माता-पिता का क्या कर्त्तव्य है, और उन पर कितना महान् उत्तरदायित्व है, यह बात माता-पिता को भली-भांति समझ लेनी चाहिये। सन्तान का सुख संसार में बड़ा सुख माना जाता है, तथापि सन्तान को अपने मनोरंजन और सुख का साधन मात्र बनाकर उसकी स्थिति खिलौना जैसी बना देना उचित नहीं है। जो माता-पिता बालक के प्रति अपने उचित कर्त्तव्य का पालन नहीं करते, वे अपने उत्तरदायित्व से च्युत होते हैं। माता-पिता बालक को गुड़ियों की तरह सिंगार कर और अच्छा भोजन देकर छुट्टी नहीं पा सकते। जिसे उन्होंने जीवन दिया है, उसके जीवन का निर्माण भी उन्हें करना है और जीवन निर्माण का अर्थ है संस्कार-सम्पन्न बनाना और बालक की विविध शक्तियों का विकास करना। शक्तियों का विकास हो जाने पर सन्मार्ग में लगें, सत्कार्य में उनका प्रयोग हो और दुरुपयोग न हो, यह सावधानी रखना भी माता-पिता का कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य की पूर्ति के लिये धार्मिक शिक्षा देने की अनिवार्य आवश्यकता है।

आजकल के माता-पिता, बालक को सरकारी स्कूल में दाखिल करके ही छुट्टी पा लेते हैं और समझने लगते हैं कि हमारा बालक शिक्षित हो गया। वे यह नहीं देखते कि कुल धर्म, पितृधर्म और आत्मधर्म की ओर उसका कितना झुकाव हुआ है।

बालकों को खेल कितना प्रिय होता है, यह सभी जानते हैं। खेल में मस्त होकर वह खाना-पीना भी भूल जाता है। एवन्त-कुमार भी बालकों के साथ खेल रहे थे।

भारतीय खेलों द्वारा तत्त्व की बहुत कुछ शिक्षा दी जा सकती है। आजकल तो क्रिकेट आदि अंगरेजी खेल इस देश में चल पड़े हैं, मगर पहले गेंद का खेल यहाँ मुख्य रूप से खेला जाता था। अनेक महापुरुषों के जीवन वृतान्त से ज्ञात होता है कि उन्होंने गेंद का खेल खेला था। गेंद के खेल को किसी समय इतना महत्व प्राप्त था कि उस पर कन्दुकशास्त्र बनाया गया था। अब भी बहुत कम लोग ऐसे होंगे, जिन्होंने अपने बाल्यकाल में गेंद का खेल न खेला हो। मगर उसमें जो शिक्षायें मिलती हैं, उनकी ओर शायद ही किसी ने ध्यान दिया हो।

गेंद खेलने वाले एक दूसरे के पास गेंद फेंकते रहते हैं, तभी तक खेल चलता है। अगर एक आदमी गेंद पर कब्जा करके बैठ जाए और दूसरे के पास न फेंके तो खेल बन्द हो जायगा और उसे धप्पे खाने पड़ेंगे।

गेंद की भाँति यह माया भी आपके पास किसी खिलाड़ी से ही आई है अतएव इसे पकड़ कर बैठे रहना उचित नहीं है। इसे दूसरों को देना चाहिए। हाँ, इसका दुरुपयोग न हो—यह

खयाल भले ही रखो, मगर पकड़ कर मत बैठे रहो। पकड़ बैठने से लोगों के धप्पे खाने पड़ते हैं और ऐसे ही कारणों से बोल्शेविज्म फैलता है।

इस प्रकार इस खेल से यह सीखा जा सकता है कि संसार की माया (धन-दौलत) गेंद के समान है। अगर खिलाड़ी की भाँति इसे देते रहे तब तो ठीक है—खेल चलता रहेगा, अगर इसे पकड़कर बैठ गये तो खेल भी बन्द हो जायगा और धप्पे भी खाने पड़ेंगे। यही कारण है कि ज्ञानियों ने दान को प्रधान स्थान दिया है। दोगे तो आप पाओगे, न दोगे तो देना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अपने आप ही विचार कर देखो कि किस रीति से देना उचित है? धप खाकर देना ठीक है या प्रसन्नता पूर्वक स्वेच्छा से देना ठीक है?

इधर एवन्ताकुमार खेल रहे थे, उधर पोलासपुर के बाग में भगवान् महावीर पधारे। भगवान् के साथ अनेक संत महात्मा थे, परन्तु उन सब में गौतम-इन्द्रभूमि बड़े थे। गौतम स्वामी बेले बेले पारणा करते थे। भगवान् की आज्ञा लेकर वह भिक्षा के हेतु नगर में पधारे।

गौतम स्वामी बेला के पारणे पर भी स्वयं भिक्षा के लिए गये, तो क्या दूसरे साधु उनके लिए भिक्षा नहीं ला सकते थे? उन्हें स्वयं क्यों जाना पड़ा? इस शंका का समाधान यह है कि शास्त्र स्वावलम्बन की शिक्षा देता है और परावलंबन का निषेध करता है। शास्त्र में कहा है—

"सय लाभेन"

जो अपने लाये हुए पर सन्तोष करता है, दूसरे को देने की आशा करता है किन्तु दूसरे से लेने की आशा नहीं करता, वह सुखशय्या पर सोने वाला है। इससे विपरीत, जो दूसरे के लाये हुए की आशा करता है—दूसरे को देने की आशा नहीं करता, वह दुःख शय्या पर सोने वाला है।

आज सारा भारतवर्ष परावलम्बी हो रहा है, अतएव दुःख-शय्या पर सोने वाला है। दूसरे देश वस्त्र दें, तो भारतीय अपना तन ढक सकते हैं, अन्यथा उन्हें नग्न रहना पड़े! दूसरे देशवासी उनकी रक्षा करें तो उनकी रक्षा हो, अन्यथा उनकी खैर नहीं। यह क्या बकरी बनना नहीं? कितने परिताप का विषय है कि सदैव स्वतन्त्रता के स्वर्गीय साम्राज्य में विचरण करने वाले लोग आज परमुखापेक्षी-परावलम्बी और दीन बन गये हैं! कितनी दयनीय स्थिति है! इस गुलामी की भी कोई सीमा है?

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि उन गुलामों में किसान की स्थिति फिर भी ठीक है, लेकिन अन्य लोग तो एकदम ही अकर्मण्य हो रहे हैं। आप स्वयं विचार कर देखिये कि आप अपना पैदा किया हुआ अन्न खाते हैं या दूसरे का पैदा किया हुआ? 'अन्नं वै प्राणाः' इस कथन के अनुसार अन्न को प्राण धारण का हेतु मानकर आप खाते तो हैं, मगर पैदा भी करते हैं या नहीं? शायद कहोगे, हम पुण्य लेकर आये हैं, इस लिए हमें परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है? लेकिन गौतम स्वामी क्या लेकर नहीं आये थे, जो स्वयं भिक्षा के लिए गये? पुण्यवान का अर्थ आलसी नहीं है और न आलस्य में पड़े

रहना पुण्य कहलाता है। आलस्य मे डूबे रहना तो पुण्य का नाश करना है।

गौतम स्वामी नीची नजर किये हुए गज-गति से भिक्षा के लिए पधारे। जिनके सामने स्वार्थसिद्ध विमान के अहमिन्द्र देव भी तुच्छ हैं, ऐसे सुन्दर गौतम स्वामी भिक्षा के लिए उसी ओर से निकले, जहाँ एवन्ताकुमार बालकों के साथ खेल रहे थे। वे खेल के स्थल के समीप होकर निकले। गौतम स्वामी पर एवन्ताकुमार की दृष्टि पड़ी। एवन्ताकुमार उन्हें देख कर सोचने लगा— उनका रूप कितना सुन्दर है! इनमें कैसी ज्योति देदीप्यमान हो रही है! मुख पर कितनी उज्ज्वलता है! मुख इतना सौम्य है कि मानो अमृत टपकता है। ऐसे तेजस्वी पुरुष को किस चीज चीज की कमी है? गौतम स्वामी के नाम में तीन अक्षर हैं- 'गौ-त-म-' इनके विषय में कहा है—

' कामधेनु गौ। '

जिन गौतम स्वामी के नाम मे. यह तीनों बसते है, उन्हें क्या कमी हो सकती है?

इस प्रकार सोच विचार के पश्चात् एकान्तकुमार ने गौतम स्वामी से ही उनके घर घर फिरने का कारण पूछना उचित समझा।

खल छोडना बालको को बड़ा अप्रिय मालूम होता है, फिर भी एकान्तकुमार गौतम स्वामी की ओर अधिक आकृष्ट हुआ कि उसने खेलना छोड़ दिया। इस खेल छोड़ने में गौतम स्वामी की महिमा कारण है या एवन्ताकुमार की महिमा कारण है, यह कौन जाने? एवन्ताकुमार ने खलना छोड दिया।

गौतम स्वामी की अद्भुत तेजस्विता देख कर साधारण आदमी को कुछ पूछने में भी झिझक होती, मगर एवन्ताकुमार क्षत्रिय पुत्र था वह अपने मन में उठी हुई जिज्ञासा को निवारण करने के लिए किसी से भयभीत होने वाला नहीं था।

आज कई भाई मेरे परोक्ष में तो शंका करते हैं पर उस शंका को मेरे सामने लाने में भय खाते हैं। आपका और मेरा इतना परिचय है, फिर भी पूछने में आपको डर लगता है। उधर एवन्ताकुमार बालक ही था और गौतम स्वामी से उसका कुछ परिचय भी नहीं था, फिर भी वह गौतम स्वामी से प्रश्न करते डरा नहीं। आपको क्यों डर लगता है? इस प्रकार निष्कारण डरने का नाम ही तो बनियापन है! जिसके मन में जो भी सन्देह हो, निःसंकोच होकर मुझसे पूछे! मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर दूंगा। उसकी शंका का समाधान करूँगा। मगर सामने शंका-समाधान न करके पीछे-पीछे शंकायें करना कायरता है।

गौतम स्वामी में कैसा आकर्षण था कि उन्होंने एवन्ताकुमार को अपनी ओर उसी तरह खींच लिया, जिस तरह चुम्बक लोहे को खींच लेता है। बच्चे के लिये खेल उतना ही आकर्षक है, जितना कृपण के लिये मूल्यवान् खजाना भी शायद न हो मगर गौतम स्वामी के आकर्षण से एवन्ताकुमार खींच आये। वे अपने साथियों को खेलता छोड़कर गौतम स्वामी के पास आये और उनसे कहने लगे—भगवन्! आप कौन हैं? और किस प्रयोजन से इधर-उधर फिर रहे हैं?

एवन्ताकुमार का यह भावपूर्ण आर्द्र प्रश्न सुनकर गौतम स्वामी ने न मालूम किस दृष्टि से उसे देखा होगा!

एवन्ताकुमार के प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी कहने लगे- हम श्रमण निर्ग्रंथ हैं। आप सचित्त, क्रीत, औद्देशिक और सदोष आहार नहीं लेते, और हमें भिक्षा की आवश्यकता है, इस लिये हम भिक्षा की तलाश में घर घर जाते हैं।

एवन्ताकुमार बोले—जिनका तेज इतना उग्र है, जिनके तेज के आगे देवों का भी तेज फीका पड़ जाता है, उन्हें भिक्षा मॉगनी पड़ती है और वह भी घर-घर मे ! चलो भगवन् ! मेरे घर चलो। मैं तुम्हें भिक्षा दूगा।

इतना कह कर और उत्तर की प्रतीक्षा न करके एवन्ताकुमार ने गौतम स्वामी की उंगली पकड़ ली।

गौतम स्वामी को एवन्ताकुमार से अपनी उंगली छुड़ा लेनी चाहिये थी या नहीं ? उंगली न छुड़ाने पर कदाचित् श्रावक निन्दा करने लगते कि यह भी साधु की कोई रीति है ? मगर वहॉ कौन किसके लिये एतराज करता ? एवन्ताकुमार ने गौतम स्वामी की उंगली क्या पकड़ी, मानो कल्पवृक्ष में फल लग गया था। एवन्ताकुमार की वीरता, धीरता और होनहारता देखकर गौतम स्वामी भी उनसे उंगली न छुड़ा सके। कहावत है —

होनहार बिरवान के होत चीकने पात।

उस होनहार बालक से गौतम स्वामी अपना हाथ न छुड़ा सके। गौतम स्वामी की उंगली पकड़े एवन्ताकुमार उन्हें भिक्षा देने के लिये कह कर अपने घर ले गये। गौतम स्वामी बालक की भावुकता पर मुग्ध हो गये और उसकी अवज्ञा न कर सके। वे बालक के साथ खिंचे चले गये।

उधर श्रीदेवी एवन्ताकुमार की प्रतीक्षा में थी। सोच रही थी-वह कहाँ चला गया और अब तक भोजन करने भी नहीं आया। इसी समय गौतम स्वामी की अंगुली पकड़े एवन्ताकुमार आता दिखाई दिया। श्रीदेवी को अतिशय प्रसन्नता हुई। वह कहने लगी—

अहो बालूड़ा महा पुण्यवंत भली जहाज घर आनी।
हर्ष भाव हाथा से करने वेरायो अन्न पानी ॥ रे एवन्ता ॥

एवन्ताकुमार की माँ कहने लगी—लाल! मैं तेरी राह देख रही थी कि तू आवे और भोजन करे। लेकिन तू पुण्य की निधि है, जो खेल छोड़कर इस जहाज को ले आया। नहीं तो यह जहाज कहा नसीब होता है।

गौतम स्वामी को देख कर श्रीदेवी को कितना हर्ष हुआ होगा, यह बताना बृहस्पति के लिए भी शायद सम्भव नहीं है। जब बृहस्पति की जिह्वा भी यह नहीं बता सकती, तो मैं क्या कह सकता हूँ?

श्रीदेवी ने एवन्ताकुमार से कहा—बेटा! यह जहाज यहा कब आता? कौन जानता था कि यह भव-सागर का जहाज आज इधर आ जायगा? तेरी ही बदौलत आज इस लोकोत्तर जहाज का आगमन हुआ है।

माता की यह बातें सुनकर एवन्ताकुमार को इतनी अधिक प्रसन्नता हो रही थी, मानो किसी सेनापति ने किसी दुर्भेद्य दुर्ग को जीत लिया हो। माता की प्रसन्नता देख कर उसे अपने कार्य

का गौरव मालूम हुआ। बालक को उस समय अत्यन्त प्रसन्नता होती है, जब माँ उसके किसी कार्य से प्रसन्न होती है।

एवन्ताकुमार ने गौतम स्वामी के तीन बार प्रदक्षिणा देकर उनसे प्रार्थना की—भगवन्! यह आहार-पानी निर्दोष है, इसे ग्रहण कीजिए। वैसे तो वह राजा का घर था, परन्तु गौतम स्वामी को जितने आहार-पानी की आवश्यकता थी, उतना उन्होंने ले लिया। आहार-पानी ग्रहण करने के पश्चात् जब गौतम स्वामी लौटने लगे, तो एवन्ताकुमार ने उनसे पूछा—'प्रभो! आप कहां रहते हैं?'

गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—'हे बालक मैं भगवान् महावीर स्वामी का शिष्य हूँ और उन्हीं के पास रहता हूं। भगवान् इस समय नगर के बाहर बगीचे में ठहरे हैं।'

गौतम स्वामी ने यह नहीं कहा कि मैं बाग में ठहरा हूँ। उन्होंने अपने को भगवान् के पास रहने वाला प्रकट किया। इस प्रकार के प्रत्येक कार्य में अपने गुरु को ही प्रधानता देते थे। गुरु को कभी भूलते नहीं थे। वास्तव में अपने गुरु को भूल जाने वाला शिष्य अभागा है।

गौतम स्वामी का उत्तर सुनकर एवन्ताकुमार उनसे कहने लगे—मैं जिन्हें देखकर आश्चर्य करता हूं, वह भी शिष्य हैं! उनके भी गुरु हैं! शिष्य ऐसे हैं तो गुरु न जाने कैसे होंगे? भगवन्! मैं आपके साथ चल कर भगवान महावीर के दर्शन करना चाहता हूँ।'

एवन्ताकुमार की भावना में और उसके उत्साह में इतना

बल था कि न तो गौतम स्वामी ही उसे मना कर सके, न उसकी माता श्रीदेवी को ही ऐसा करने का साहस हुआ। बल्कि श्रीदेवी को यह विचार कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि बालक को गौतम स्वामी इतने प्रिय लगे।

लारे लारे चाल्यो बालक भेट्यो भाग सुभाग ।
भगवता री वाणी सुनने मन आयो वैराग ॥ रे एवन्ता० ॥

एवन्ताकुमार गौतम स्वामी के साथ-साथ भगवान् महावीर के पास आये। भगवान् को देखकर एवन्ताकुमार के हर्ष का पार न रहा। जैसे बहुत दिनों के प्यासे चातक को वर्षा की बूंद मिलने से आनन्द होता है, बहुत बिछुड़ी माता को पाकर बालक के हर्ष की सीमा नहीं रहती, चिरकाल परदेश में रह कर घर आने वाला घर पर नजर पड़ते ही प्रसन्न होता है, उसी प्रकार भगवान् को देखकर एवन्ताकुमार को असीम आनन्द हुआ।

भगवान् ने उपदेश की अमृत-धारा बरसाई जिसे सुनकर एवन्ताकुमार की आत्मज्योति जगी। उसने भगवान् से प्रार्थना की-'प्रभो ! मैं माता पिता से आज्ञा लेकर आपके निकट दीक्षा लूंगा' भगवान् ने संक्षिप्त उत्तर दिया-'तुम्हें जिस तरह सुख हो, वैसा करो।'

एवन्ताकुमार लौट कर अपनी माता के पास आया। माता को प्रणाम किया। माता ने कहा-'बहुत देर लगाई बेटा ! आज तुम्हें भोजन करने की भी सुध न रही ! कब से मैं तुम्हारी राह देख रही हूँ।'

एवन्ताकुमार—माँ ! आज मैंने वह अमृत पिया कि बस, कह नहीं सकता। उसका वर्णन करना असम्भव है। मैं गौतम स्वामी के साथ भगवान् महावीर के पास गया था। वहाँ जाकर भगवान् की वाणी सुनी। अत्यन्त आनन्द हुआ। अब तुम मुझे आज्ञा दे दो तो म भगवान के निकट दीक्षा ले लूं।

तू काई जाणे साधपणा में बाल अवस्था थारी।
उत्तर दीधो ऐसो कुवरजी मात कहे बलिहारी ॥ रे एवंता० ॥

दीक्षा की बात सुनकर औरों की माता तो मोह-ममता के आवेग में रोई होगी, पर एवन्ता की माता को हँसी आ गई। वह कहने लगी—'लाल दीक्षा कोई खेल थोड़े ही है! तू क्या जाने खेल-कूद नहीं छूटा है, दूध के दाँत भी नहीं गिरे हैं। फिर भी तू संयम लेने की बात कह कर मुझे आश्चर्य मे डालता है।'

माता की इस बात के उत्तर में एवन्ताकुमार ने जो कुछ कहा उसके विषय में सिद्धान्त में कहा है—

" जाणामो अम्मा "

हे माता ! मैं जिसे जानता हूँ उसे नहीं जानता और जिसे नहीं जानता उसे जानता हूँ।

यो एवन्ताकुमार का यह उत्तर आश्चर्य मे डालने वाला है, लेकिन यही तो स्याद्वाद है। विसगत प्रतीत होने वाले कथन को संगत बनाना स्याद्वाद का प्रयोजन है एवन्ताकुमार के इस उत्तर मे सभी तत्त्व आ गया है।

एवन्ताकुमार की माता ने यह टेढ़ा-मेढ़ा-सा उत्तर सुन

कर पूछा—'ऐसी क्या बात है जिसे जानता हुआ भी नहीं जानता और नहीं जानता हुआ भी जानता है ?

कुमार ने कहा—'माता ! लोगों की आँखों पर पर्दा पड़ा हुआ है। मेरी आखों पर भी पड़ा हुआ था, मगर आज भगवान् की कृपा से वह उठ गया। अब मुझे प्रकाश दिखाई दे रहा है। माँ ! यह कौन नहीं जानता कि ससार में जितने भी जीव जन्मे हैं, वह सब मरेंगे ? यह बात सभी जानता हू कि जो जन्मा है, वह मरेगा। जिसका उदय हुआ है वह अस्त भी होगा। जो फूला है वह कुम्हलाएगा ही। मैं यह जानता हू, मगर यह नहीं जानता कि यह सब किस घडी और किस पल मे होगा ! इसी को कहते हैं—जानते हुए भी न जानते।'

इस कथन में बड़ा रहस्य भरा हुआ है। उपनिषद् में कहा

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्।

सोने के ढक्कन से जिस सत्य का मुँह ढँका हुआ है, एवन्ताकुमार उस सत्य का मुँह खोल रहा है ! आप यह तो जानते हैं कि मरना है, मगर यह नहीं जानते कि कब मरना है ? फिर मरण को क्यों भूले हुए हैं ? अगर भूले नहीं हो तो टाल क्यों कर रहे हो ? मगर याद रख कर आत्मा का कल्याण क्यों नहीं करते ? ससार के लोग यह झूठ ही कहते हैं कि हमें मरने का ज्ञान है। जिसे मृत्यु का स्मरण हो, वह बुरे काम क्यों करेगा ? वह अन्याय, अत्याचार और पाप कैसे कर सकता है ? लोग यह सब करते हैं, इससे जान पड़ता है कि वे मरना नहीं जानते ! महाराज चतुर्सिंहजी ने एक पद कहा है'—

था मनखाँ मोटी वात मरणा जाणणो ।
मरणो मरणो मारा केवे, मरे सभी नर-नारी रे ।
मरवा पेली जो मर जावे तो बलिहारी रे ॥ मरणो०॥
जीवा सू सगलो जग राजी मरणो कोइय न चावे रे ।
राजा रंक सभी ने सरखो तो पण आवे रे॥ मरणो ॥
दूजा भूप डरप ने म्लेच्छां कीदी तावेदारी रे ।
वीर प्रताप जाण ने मरणो टेक न हारी रे ॥ मरणो० ॥
मरवा ने वनवीर विसरियो धाप याद कर लीनो रे ।
चूखाया रे साटे जातो जातो कीनो रे ॥ मरणो० ॥
गुरु गोविन्द रो ब्राह्मण भूल्यो बालक दोय चिणाया रे ।
भामाशाह धन्या ने धन दे पाछा लाया रे ॥ मरणो० ॥
मरवा ने जो जाणें वीसू पाप कर्म नहीं होवे रे ।
सुख दुःख री परवा नहीं राखे प्रभु ने सेवे रे ॥ मरणो० ॥
मरने ज्याव राम ने देणा या जीरे मन लागी रे ।
चतुर चरण वणी रा सेवे वो वड़भागी रे ॥ मरणो० ॥

सच है, जो मरना जानते होंगे, वह बुरे काम कदापि नहीं करेंगे। इस जगह बुरे काम का मतलब दारू पीना, मांस खाना, पर स्त्री गमन करना, जुआ खेलना, चोरी करना और विश्वासघात करना समझना चाहिये। मृत्यु को जानने वाला कम से कम इन पापों से अवश्य बचेगा।

कई लोगों में कुल परम्परा से दारू मांस का अटकाव होता है। इनके यहाँ इन घृणित चीजों का व्यवहार करने वाला

जाति से बाहर कर दिया जाता है। अगर जाति के बड़े-बड़े समझे जाने वाले लोग ही इनका सेवन करने लगें, तो बेचारे छोटे क्या कर सकते हैं? उन छोटों की जबान बन्द करदी जाती है। क्या ऐसे बड़े-बड़े मरना जानते हैं? मरना जानते होते तो यह पाप क्यों करते? शराब पीना तो मुसलमानों में भी हराम माना जाता है। कुरान की आज्ञा का पालन करने वाले मुसलमान उस जमीन को भी खोद फैंकते हैं, जहां शराब का छींटा गिर पड़ा हो। लेकिन उनमें भी जो लोग मरना भूले हैं, वे शराब पीते हैं।

शराब को बहुतेरे लोग 'लाल शर्बत' कह कर पी जाते हैं। मगर नाम बदल देने से वस्तु नहीं बदल जाती। कहा है.—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।

अर्थात्-जिससे बुद्धि का नाश हो, जिसका सेवन करने से नशा हो वह सब मादक वस्तुयें हैं। वह सब मद्य के ही रूपान्तर हैं। अतएव अगर मरना जानते हो तो शराब पीना छोड दो।

आज कल मास भक्षण का और उसमें भी अंडा खाने का प्रचार बढता चला जाता है। यहां तक कि हिन्दू समाज के नेता समझे जाने वाले कतिपय लोग हिन्दुओं को मांसभक्षण करने का खुला उपदेश देने में संकोच नहीं करते। बहुत से लोग अंडे को मास के अन्तर्गत ही नहीं समझते। मैंने कहीं पढा था कि गांधीजी ने जब विलायत जाने का निश्चय किया, तब उनकी माता ने उन्हें बहुत रोका। गांधीजी की माता के संस्कार उत्तम थे। वह साधुमार्गी जैन मुनियों के सम्पर्क में थीं। उन्होंने गांधीजी से कहा—'विलायत जाने वाले वहां भ्रष्ट हो जाते हैं, इसलिए मैं तुझे नहीं

जाने दूंगी।' जब गाँधीजी ने बहुत कुछ कहा सुना तो उनकी माता एक शर्त पर उन्हें जाने देने के लिए सहमत हुई। माता ने कहा—अगर तुम मेरे गुरु के पास चल कर मदिरा, मांस और परस्त्री का त्याग करदो तो मैं जाने दे सकती हूँ, अन्यथा नहीं।

विलायत में परस्त्री सेवन ऐसी साधारण बात है कि मानों पाप में उसकी गिनती ही नहीं है। सुनते हैं, अमेरिका में ६५ प्रतिशत तलाक होते हैं और विवाहों की अपेक्षा तलाकों की संख्या बढ़ने की तैयारी है। फ्रांस में इतना व्यभिचार है कि घर वाला पुरुष अपने घर में किसी दूसरे पुरुष को आया जानता है तो वह बाहर से ही लौट जाता है। वह घर में प्रवेश नहीं कर सकता! मित्रो! भारतवर्ष इस दिशा में अब भी अत्यन्त सौभाग्यशाली है। भारतीयों में इस दृष्टि से काफी मनुष्यता मौजूद है। यहां पशुता का यह नग्न ताण्डव नहीं है। भारतीय लोग इस प्रकार के दुराचार को घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

आखिरकार गांधीजी अपनी माता के गुरु के निकट प्रतिज्ञा बद्ध होकर विलायत गये। वहाँ जब वह बीमार हो गये, तो डॉक्टरों ने दारू पीने की सलाह दी। गांधीजी ने कहा—मैं दारू पीने का त्याग कर चुका हूँ।

डाक्टरों ने कहा—अच्छा, अंडा खाने में तो कुछ हर्ज नहीं है? उन्होंने युक्तियों से साबित करने की चेष्टा की कि अंडा, मांस में सम्मिलित नहीं है। मगर गांधीजी कोई सामान्य पुरुष नहीं थे। उन्होंने कहा—अंडा, मांस में शामिल हो अथवा न हो, मगर मेरी माता उसे मांस में ही गिनती हैं और मैंने अपनी माता की समझ के अनुसार ही प्रतिज्ञा ग्रहण की है। ऐसी हालत

में मैं आपकी बात न मानकर अपनी माता की बात मानना उचित समझता हूँ। मैं किसी भी दशा में अंडा नहीं खा सकता।

गाँधीजी अपनी बात पर डटे रहे। बीमारी की हालत में, डाक्टरों का आग्रह अस्वीकार करके भी उन्होंने अंडा नहीं खाया। गाँधीजी ने बीमारी में कष्ट पाना मंजूर किया, पर धर्म से डिगना स्वीकार नहीं किया। कष्ट पाये बिना धर्म का पालन होता भी तो नहीं है! गाँधीजी ने प्रतिज्ञा न की होती और प्रतिज्ञा पर अचल न रहे होते तो कौन कह सकता है कि आज वह "महात्मा गाँधी" कहलाने के अधिकारी होते या नहीं? मनुष्य का उच्च चारित्र का अभाव है वह भी कोई मनुष्य है?

अंडा और मछली का तेल (कॉड-लीवर ऑयल) जैसे घृणित पदार्थों ने धर्म के संस्कार नष्ट कर दिये हैं।

इन सब पापमय वस्तुओं का सेवन लोग किस लिए करते हैं? दीर्घ जीवन के लिए! बहुत समय तक मृत्यु से बचे रहने के लिए इन वस्तुओं का व्यवहार किया जाता है, मगर दुनिया कितनी अंधी है कि आँखों दिखाई देने वाले फल को भी वह नहीं देखती। ज्यों-ज्यों इनका प्रचार बढ़ता जाता है, त्यों त्यों रोग बढ़ते जा रहे हैं, नयी नयी आश्चर्यजनक बीमारियाँ डाकिनों की तरह पैदा हो रही हैं, उम्र का औसत घटता जा रहा है, शरीर की निर्बलता बढ़ती जाती है, इन्द्रियों की शक्ति दिनों दिन क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है, देखते-देखते चटपट मौत आ घेरती है, फिर भी अंधी दुनिया को होश नहीं आया! क्या प्राचीन काल में ऐसा था? नहीं। तो फिर 'पूर्व' की ओर उदय की दिशा में—प्रकाश के सम्मुख न जाकर लोग 'पश्चिम' की तरफ अस्त की ओर मृत्यु

के मुह की सीध में क्यों जा रहे हैं ? जीवन की लालसा से प्रेरित होकर मौत का आलिंगन करने को क्यों उद्यत हो रहे हैं ? मित्रो ! आंखें खोलो, फिर आप ही सब कुछ समझ जाओगे।

परस्त्री तो सब के लिए माता के समान होनी चाहिए। भूधर कवि कहते हैं —

पर-तो लखि जे धरती निरखें,
धनि हैं धनि हैं धनि हैं नर ते।

जहां पाल बंधी नहीं होती, वहां पानी नहीं रुकता और जहां पानी नहीं रुकता, वहां अच्छी खेती नहीं हो सकती। मैंने ज्ञानियों के वचन आपको सुनाकर उपदेश की वर्षा की है, पर पाल के अभाव में यह उपदेश भी कल्याणकारी नहीं हो सकेगा। अतएव पाल बंध जानी चाहिए, जिससे उपदेश का पानी ठहर सके और आपका कल्याण हो। आजकल जैसी-वैसी, कमाने-खाने के योग्य व्यवहारिक शिक्षा तो दी जाती है मगर धर्म की वर्षा तभी ठहर सकती है, जब धार्मिक शिक्षा दी जाय। हमारे उपदेश का पानी रोकने की पाल धर्म की शिक्षा है। अतएव बालकों को उस धर्म की शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए, जिसमें अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का समावेश हो। विनीत पुत्र तो सभी माँ बाप चाहते हैं, परन्तु शिक्षा ऐसी देते हैं, जिसमें धर्म को स्थान नहीं होता। ऐसी अवस्था में बालक विनीत हो कैसे ? मां-बाप नहीं समझते कि मा-बाप किस प्रकार बनना चाहिए ? वे अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व से अनभिज्ञ हैं। इस स्थिति में सन्तान खराब होती है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

नागिन और बिलाव के विषय में प्रसिद्ध है कि वह अपने बच्चों को खा जाते हैं। जिसके माँ-बाप नागिन और बिलाव के समान हैं, वह बालक सुख कैसे पा सकते हैं ? इसी प्रकार जो माता-पिता अपने बालक को धर्म की शिक्षा ही न देंगे, तो उन का बालक विनीत किस प्रकार बन सकेगा ?

एवन्ताकुमार को अल्प-आयु में भी धर्म की शिक्षा मिली थी। इसी से वह कह रहा है कि—'माता ! मै यह तो जानता हूँ कि मरना आएगा, लेकिन यह नहीं जानता कि कब आएगा। इसी प्रकार मैं यह तो जानता हूँ कि स्वर्ग-नरक आदि कर्म से ही मिलते हैं, किन्तु यह नहीं जानता कि किस क्षण के कर्म से स्वर्ग और किस क्षण के कर्म से नरक मिलता है ? हे माँ ! तू मुझे छोटा कहती है लेकिन क्या छोटे नहीं मरते ? अगर छोटी आयु में भी मृत्यु आ जाती है, तो संसार में रहना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ?"

माता ने समझ लिया कि बालक को तत्त्वज्ञान हो गया है, इसलिए अब यह गृहस्थी में नहीं रहेगा। जिसकी आत्मा में ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है, जो जगत् के वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है, उसे संसार असार प्रतीत होने लगता है। संसार की समस्त सम्पदा और विनोद एवं विलास की विविध सामग्री, उसका चित्त अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकती। संसारी लोगों द्वारा कल्पित वस्तुओं का मूल्य और महत्व उसके लिये उपहास का पात्र है। वह बहुमूल्य हीरे को पाषाण के रूप मे देखता है। भोग को रोग मानता है। उसके लिए पदार्थ अपने असली रूप में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। ऐसे विरक्त पुरुषों को

वासनाओं के बन्धन में बन्धे हुए साधारण मनुष्यों की बुद्धि पर तरस आता है। उनका हृदय बोल उठता है —

दारा परिभवकारा बन्धुजनो बन्धन विष विषया ।
कोऽयं जनस्य मोहा, ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ॥

अर्थात्—पत्नी पराभव का कारण है, बाधवजन बन्धन है, विषयभोग विष हैं। फिर इस ससारी जीव का मोह न जाने कैसा है कि यह शत्रुओं को मित्र समझ रहा है।

तत्त्वज्ञानी पुरुष विषयभोग से इसी प्रकार दूर भागते हैं, जैसे साधारण मनुष्य काले नाग को देखकर। काले नाग को अपने निकट आते देखकर कौन स्थिर रह सकता है ? इस प्रकार विवेकपूर्ण वैराग्य की स्थिति में किसी को समझा-बुझाकर ससार में नहीं फसाया जा सकता। एवन्ताकुमार की माता इस तथ्य को समझती थी। उसे विश्वास हो गया कि बालक अब गृह ससार में नहीं रह सकता। एवन्ताकुमार की माता ने कहा— 'तुम्हारी यही इच्छा है तो कोई हर्ज नहीं, मगर एक बात कहती हूँ। तुम चाहे एक दिन ही राज्य करना, मगर एक बार राज्य ग्रहण कर लो। फिर जैसी इच्छा हो, करना।'

माता के इस अनुरोध को अस्वीकार करना एवन्ताकुमार ने उचित नहीं समझा। वह मौन रहे और 'मौन स्वीकृति लक्षणम्' मानकर उनके माता-पिता ने राज्याभिषेक की तैयारी आरभ करदी।

दूसरे दिन एवन्ताकुमार राजसिंहासन पर विराजमान हुए और राजा बन गये। राजा बन जाने के बाद उनके माता-पिता

ने कहा—'पुत्र, देखो, राजपाट में यह आनन्द है। इस आनन्द को छोड़कर घर-घर भीख माँगना क्या अच्छा है।'

एवन्ताकुमार की आत्मा में अद्भुत प्रकाश जगमगा उठा था। उसकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल और विचार शक्ति अत्यन्त तीक्ष्ण हो गई थी। उसने माता-पिता से कहा—'आपने मुझे यह पद प्रदान किया है, मगर क्या मुनिपद इससे छोटा है? नहीं, तो उसे छुड़ाने के लिए इस पद का प्रलोभन किस लिए दे रहे हैं? हाथ जोड़ेगा तो राजा ही मुनि के समक्ष हाथ जोड़ेगा। मुनि किसी राजाधिराज को भी नहीं जोड़ता। चक्रवर्ती भी मुनियों के चरणों में मस्तक रगड़ता है।'

एवन्ताकुमार की असाधारण प्रतिभा और अपूर्व भावना देख माता पिता दंग रह गये। उन्होंने दीक्षा देने के लिए उसे भगवान् महावीर को सौंप दिया।

इस प्रकार की असाधारण विभूतियां संसार में कदाचित् ही जन्म लेती हैं। इन्हें अपवाद-पुरुष कहा जा सकता है। जन्मान्तर के अतिशय उग्र संस्कारों के बिना कोमल वय में इस प्रकार के व्यक्तित्व का परिपाक नहीं होता।

भागवत में भी इसी प्रकार का एक आख्यान है। राजा उत्तानपाद की दो रानियां थीं। बड़ी रानी धर्मपरायणा और तत्त्व को जानने वाली थी। छोटी रानी संसार के सुखों में मस्त रहती थी। बड़ी रानी सरल स्वभाव की भोली सी थी, इस लिए राजा ने उसे अनमानती कर दी। इस का एक पुत्र था जिसका नाम ध्रुव था। राजा ने बड़ी रानी को एक अलग मकान दे दिया था

और नियत परिमाण में उसे भोजन आदि आवश्यक वस्तुएँ देने की आज्ञा दे दी थी। छोटी रानी उनके प्रति द्वेष रखती और अपने दास-दासियों द्वारा इस बात की निगरानी रखती कि बड़ी रानी को कोई चीज नियत मात्रा में अधिक तो नहीं दे दी जाती।

बड़ी रानी इस व्यवहार को बड़ी ही शान्ति के साथ सहन करती थी। वह अपनी मौजूदा परिस्थिति में सन्तुष्ट थी। अगर कोई कभी उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए राजा के अन्याय व्यवहार की चर्चा करता, तो रानी कहती—'मेरे पति का मुझ पर बड़ा अनुग्रह है, जो उन्होंने धर्ममय जीवन बिताने और मोह मिटाने के लिए यह समय दिया। वह अपने अपमान का विचार करके दुःख का अनुभव नहीं करती थी। वह मस्त रहती।

मनाने वाला हो तो मन क्या नहीं मान लेता ? वह सभी कुछ समझ लेता है, समझाने वाला चाहिए। विवेक से कार्य करने वालों के लिए मन अबोध शिशु के समान है।

एक दिन राजा उत्तानपाद छोटी रानी के महल में बैठा था और उसके लड़के को गोद में लिये था। खेलते-खेलते ध्रुव अचानक वहां जा पहुँचा। उसने पिता की एक तरफ की गोद खाली देखी और वह उसमें बैठ गया। सौत के लड़के को अपने लड़के की बराबरी पर बैठा देख रानी की ईर्षा की अग्नि भड़क उठी। उसने ध्रुव को राजा की गोद से हटा दिया और कहा—'इस गोद मे बैठना था तो मेरे पेट से जन्म लेना था।'

निंदित कर्म जे आदरै, तब बरजत ससार।
तुम बरजत सुकृत करत, यह न नीति व्यवहार॥

रानी के इस निर्दय व्यवहार से बालक ध्रुव को बहुत दुःख हुआ। वह रोता-रोता अपनी माँ के पास पहुँचा। उसने सब वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—'माँ, तुम्हारे पेट से जन्म लेने के कारण क्या मैं पिता की गोद में बैठने योग्य न रहा ?' पुत्र की यह बात सुनकर सहनशीला और धैर्यधारिणी रानी को भी कितना दुःख हुआ होगा ? मगर उसने अपना दुःख प्रकट नहीं किया। उसने बालक से कहा—'बेटा ! मुझसे पूछे बिना तू पिताजी की गोदी में बैठने गया ही क्यों ? अपन ईश्वर की गोद में बैठे हैं, फिर किसी और की गोद में बैठने की आवश्यकता ही क्या है ? तप करके उस ईश्वर के प्रति अर्पित कर देने से वह पद मिलता है-वह सर्वश्रेष्ठ गोदी प्राप्त होती है उसके आगे राज्य आदि सभी कुछ तुच्छ है।

आज वह उदात्त शिक्षा कहाँ ? जिस माता की भावना इतनी उन्नत होगी, उसका बालक भी ध्रुव सरीखा हो सकता है। मगर कहाँ हैं ऐसी देवियाँ जो अपने बालक को मनुष्य के रूप में देवदिव्य विचार वाला, दिव्य शक्तिशाली—बना सकें ? महिलावर्ग की स्थिति अत्यन्त विचारणीय है। जब तक महिलाओं का सुधार नहीं होगा, तब तक किसी भी प्रकार का सुधार ठीक तरह नहीं हो सकता। आखिर तो मनुष्य के जीवन का निर्माण बहुत कुछ माता के हाथ में ही है। माता ही बालक की आद्य और प्रधान शिक्षिका है। माता बालक के शरीर की ही जननी नहीं, वरन बालक के संस्कारों की और व्यक्तित्व की भी जननी है, अतएव बालकों के सुधार के लिए पहले माताओं के सुधार की आवश्यकता है।

आजकल न तो माताएँ ही बालकोंको योग्य धार्मिक शिक्षा

दे सकती हैं और न सरकारी स्कूलों में ही ऐसी शिक्षा मिलती है। सच्ची शिक्षा वह है जिसे प्राप्त कर व्यक्ति धर्मनिष्ठ बने और राजा से लेकर रंक तक, मनुष्य से लेकर क्षुद्र कीट-पतंग तक-प्राणी मात्र की सेवा करने की लगन उत्पन्न हो जाय।

राजा उत्तानपाद की रानी धर्म न जानती होती तो पति और सौत के निष्ठुर व्यवहार से दुखित होकर रोने लगती अथवा ईर्षा की आग से तप्त कर उनसे बदला लेने पर उतारू हो जाती। मगर उसने ऐसा नहीं किया। उसने सोचा—'रोने से क्या लाभ है ? बदला लेने की कोशिश करने से मैं भी उन्हीं की कोटि में चली जाऊँगी। मगर मैं अपना तेज क्यों घटाऊँ ?

माता की बात सुनकर ध्रुव ने कहा-'तू मेरी माता क्या है, मुझे शक्ति देने वाली देवी है। अब मैं तप करके परमात्मा की गोद में ही बैठूंगा। अतएव मुझे आज्ञा दो, मैं तप करने जाऊँ। यह कह कर बालक ध्रुव तप करने चला गया। उसकी माता इससे घबराई नहीं।

ध्रुव जा रहा था कि मार्ग में नारद मिले। नारद कहने लगे-'अभी तू छोटा बालक है। तुझे क्या पता-वैराग्य किस चिड़िया का नाम है ? फिर तप करने के लिए वन में क्यों जा रहा है ? बच्चे ! तेरी कोमल उम्र है। तुझसे तप न होगा। घर लौट जा।

ध्रुव ने उत्तर दिया-आपसे मुझे बड़ी आशा थी, मगर आप मुझे निराश कर रहे हैं। आप उलटी गंगा बहा रहे हैं ! आप आज से पहले मेरे पास नहीं आये थे, आज क्यों आये हैं ?

यह तप की ही शक्ति है कि नारदजी जैसे ऋषि भी आकर्षित हो सके हैं।

निंदित कर्म जे करें, तब बरजत संसार।
तुम बरजत सुकृत काज, यह न नीति व्यवहार॥

हे ऋषि! कोई अच्छे काम न करता हो तो उसे अच्छे की ओर प्रेरित करना आपका काम है। मगर आप तो अच्छे काम से रोक रहे हैं।

नारदजी बोले—नहीं, मेरी ऐसी इच्छा नहीं है। मैं किसी को सत्कार्य से रोकना नहीं चाहता।

ध्रुव—मैं तप करने जा रहा हूँ तब तो आप रोक रहे हैं, अगर मैं राज्य करता होता तो न रोकते। आपके लिए क्या यही उचित है? मैं क्षत्रीयपुत्र हूँ, वीर हूँ। मेरी माता ने मुझे तप करने की शिक्षा दी है। मैं तप करने की प्रतिज्ञा करके घर से निकला हूँ। आप मुझ सिंह बालक को सियार बालक न बना इए।

जब देख्यो बालक सुदृढ़, अरु अखंड विश्वास।
नारद परम प्रसन्न ह्वै, साधु साधु कहि तास॥

नारद कहने लगे—तेरी परीक्षा हुई और मेरा अभिमान गया। आज मुझे मालूम हुआ कि जितनी सच्ची परमात्म-प्रीति एक बालक में हो सकती है, मुझमें उतनी भी नहीं है।

भागवत की यह कथा है। एक कथा मदालसा की भी है, जिसने आठ-आठ वर्ष की उम्र में ही अपने बालकों को सन्यास लेने भेज दिया था।

एवन्ता मुनि ने भी बाल्यकाल में दीक्षा ले ली । उन्होंने पानी में नाव भी तैराई, जिससे मुनियों के मन में सन्देह हुआ कि यह क्या साधुपन पाल सकेगा ? ज्यों ही मुनियों ने उनसे कहा कि साधु को पानी में नाव तैराना नहीं कल्पता, त्यों ही उन्होंने धीरे से अपना पात्र पानी से निकाल लिया ।

मुनियों ने भगवान् से पूछा—प्रभो ! एवन्ता मुनि कितने भव और धारण करेगा ?

भगवत भासै सब साधा से भक्ति करो सदीव ।
निन्दा हिलना मत करो इनकी, ये चरम शरीरी वीर रे ॥ एवंता० ॥

भगवान् ने मुनियों से कहा—'इनकी निन्दा-अवहेलना मत करो । यह चरमशरीरी जीव है । इसी भव में मुक्ति प्राप्त करेंगे।'

अन्त में एवन्ता मुनि ने सकल कर्मों का क्षय किया । वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये ।

मित्रो ! तप में अपूर्व, अद्भुत और आश्चर्यजनक शक्ति है । तपस्या की अग्नि में आत्मा के समस्त विकार भस्म हो जाते हैं और आत्मा सुवर्ण की तरह प्रकाशमान हो उठता है । एवन्ता-कुमार जैसे महापुरुष भले ही अपवाद रूप ही हों, और वर्त्तमान काल में उनके अनुकरण की शक्यता न हो, तो भी उनका आदर्श अपने समक्ष रक्खोगे और तप की महिमा समझोगे तो कल्याण होगा ।

— —

१२

संवत्सरी पर्व

श्रेयांस जिनन्द सुमर रे।

यह भगवान् श्रेयांसनाथ की प्रार्थना है। आज संवत्सरी का महान् पर्व दिवस है। यह पर्युषण पर्व का अन्तिम दिन है। आज चतुर्विध श्रीसंघ में असाधारण उत्साह है। इस पवित्र अवसर पर अपने जीवन को और अपने उत्साह को परमात्मा की प्रार्थना से ओतप्रोत बना लेना चाहिए। जीवन में ऐसे धन्य क्षण बहुत ही कम, कभी-कभी मिलते हैं। सौभाग्य से जब ऐसे क्षण मिलें तो उन्हें खाली न जाने देना ही चतुराई है। सुअवसर से लाभ उठा लेना प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष का कर्त्तव्य है।

उत्साह के बिना कोई भी काम नहीं होगा। कार्य साधारण हो और उसके दूसरे साधन प्रचुर मात्रा में मौजूद हों, तब भी उत्साह के अभाव में वह यथावत् सम्पन्न नहीं होता। इसके विपरीत उत्साही पुरुष पर्याप्त साधनों के अभाव में भी अपने तीव्र उत्साह से प्रेरित होकर कठिन से कठिन कार्य भी साध लेता

है। अतएव उत्साह का होना आवश्यक है, और जब उत्साह है तो उसे सफल भी कर लेना चाहिए। ऐसा सुअवसर बार बार नहीं मिलता। इस प्रार्थना में कहा गया है —

सुमर रे सुमर रे सुमर रे श्रेयास जिनद सुमर रे।

हे आत्मा! तू परमात्मा को सुमर। तू और परमात्मा दो नहीं हैं-एक हैं। फिर भी तू अनादि काल से अनेक योनियों में भटकता हुआ, जन्म-मरण के कष्ट भोग रहा है और ससार की तुच्छ अतितुच्छ वासनाओं मे आनन्द मान रहा है। इस प्रकार तूने अनन्त काल बिता दिया है। अब तू चेत जा। अब ऐसा जीवन मत गवा। परमात्मा का स्मरण कर और तू तथा परमात्मा एक रूप हो जा।

इस महान् और कल्याणमय साध्य की सिद्धि के लिए आज का दिन महत्वपूर्ण अवसर है। मैं आपको यह बतलाना चाहता हूँ कि पर्युषण पर्व क्या है? सिद्धान्त में इस महापर्व को पर्युषणाकल्प कहा है। इस पर्व की महिमा बतलाने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है फिर भी इस सम्बन्ध में कुछ कहूँगा।

जैन सघ में इस महापर्व का सस्कार इतना व्यापक है कि एक बच्चे पर भी इसका प्रभाव है। अन्य पर्वों पर तो बच्चों को खाने-पीने की भावना रहती है और वह ऐसी ही वस्तुएँ मागते हैं, लेकिन इस धार्मिक पर्व पर उनकी माग न खाने की होती है। वे भी उपवास करने की ही इच्छा करते हैं। मनुष्य के प्राण अन्नमय हैं। अतएव अन्न का त्याग करना सरल नहीं है। तीस-चालीस वर्ष के जवान और समझदार आदमी भी उपवास के नाम से

हर जाते हैं और बहुत से लोग कभी एकादशी आदि का उपवास करते भी हैं तो एकादशी, द्वादशी की दादी बन जाती है। लेकिन जैनों के इस उपवास में खाना-पीना कुछ भी नहीं है। अगर कोई चाहे तो अधिक से अधिक अचित्त जल पी लेता है। अन्न का या किसी अन्य खाद्य पदार्थ का एक भी कण मुँह में डालने से उपवास भंग हो जाता है। जैनों का उपवास इतना कठिन होने पर भी आज के दिन छोटी-छोटी लड़कियाँ भी उत्साह के साथ उपवास करने को तैयार हो जाती है। इस पर्व की यह स्वाभाविक विशेषता है।

पर्युषण से मतलब उस काल से है, जब साधु किसी विशेष मर्यादा के साथ एक ही स्थान पर रहते हैं। साधु चार मास के सिवाय शेष आठ मास में विचरने तथा वस्त्र पात्र लेने में स्वतंत्र हैं, लेकिन पर्युषण अर्थात् चातुर्मास के बन्धन में रहते हैं। साधु मर्यादा के साथ एक ही स्थान पर चार मास पर्यन्त रहते हैं। पर्युषण काल जघन्य चार मास का और उत्कृष्ट छह मास का होता है। आषाढी पूर्णिमा को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करने के पश्चात् भगवान् महावीर ने जिस प्रकार पर्युषण पर्व की आराधना की, उसी तरह गौतम स्वामी, सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी आदि ने भी की है। उनकी परम्परा में होने वाले अन्यान्य आचार्य भी उसी प्रकार आराधना करते आये हैं।

आचार्यों की इस परम्परा में पूर्वजों के कठिन संयम रूप तलवार की धार पर चलने वाले पूज्य श्री हुक्मीचन्द जी महाराज हुए हैं। उन्होंने अन्यान्य तप तो किये ही, लेकिन इक्कीस वर्ष

पर्यन्त वेले वेले पारणा भी किया । इतने लम्बे समय तक वह एकान्तर उपवास करते रहे । वह महापुरुष बारहों मास एक पिछौड़ी रखते थे । उस एक पिछौड़ी को भी बारह महीने तक चलाने का उनका नियम था । इस प्रकार संघ के नायक बन कर उन्होंने मौज नहीं की । किन्तु अधिक से अधिक त्याग किया, संयम का आदर्श अन्य मुनियों के समक्ष उपस्थित किया और अपनी आत्मा पवित्र बनाई । वे तली हुई वस्तु नहीं खाते थे और तेरह द्रव्यों के सिवाय अन्य सब द्रव्यों का भी उन्होंने त्याग कर दिया था । इससे पता लगता है कि उनका जीवन कितना संयममय बन गया था, उनकी वृत्ति कितनी रूक्ष हो गई थी और त्याग तथा तप किस सीमा तक उनके जीवन में एक रस हो गये थे ।

जो पुरुष पूर्ण रूप से आत्माभिमुख हो जाता है, उसकी आत्मा ही उसका विश्व बन जाती है । उसे अपनी आत्मा में जो रमणीयता प्रतीत होती है, वह अन्यत्र कहीं नहीं । आत्मा मे अध्यवसायों के उत्थान और पतन की जो परम्परा निरन्तर जारी रहती है, उसे तटस्थ भाव से निरीक्षण करने वाले आत्मद्रष्टा को बाहरी दुनिया की ओर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं मिलता । इसका अर्थ यह नहीं कि ऐसा अन्तर्द्रष्टा पुरुष चौबीसों घण्टे आंखें मूद कर स्थिर हो बैठा रहता है । वह शारीरिक धर्म का निर्वाह करता है, अपने उपदेश आदि सार्वजनिक कार्यों में भी प्रवृत्त होता है, फिर भी उसकी सूक्ष्म दृष्टि भीतर की ओर होती है । बाहरी कार्यों को करते हुए भी इसकी आत्मिक तन्मयता अखण्डित रहती है । ऐसी उच्च स्थिति को चाहे वीतराग दशा

कहो, चाहे अनासक्ति योग की उच्च भूमिका कहो अथवा स्थितप्रज्ञ अवस्था कहो, यह योगी जनों को प्राप्त होती है।

पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज इसी स्थिति की ओर झुके रहते थे। वह सम्प्रदाय के आचार्य थे, संघ के नियामक थे, तथापि निस्पृह भाव उनमें सदैव विद्यमान रहता था। उन्हें संघ या चेला बढ़ाने की कतई हवस नहीं थी। आत्म कल्याण की भावना ही उनमें मुख्य थी। फिर भी चतुर्विध संघ उसी महात्मा के साथ होता है जो तप-संयम की अधिक आराधना करता है। पूज्य हुक्मीचन्दजी महाराज उत्कृष्ट संयम पालन और उत्कृष्ट विहार करने के लिए निकले थे, इसलिए संघ उस महापुरुष को कैसे भूल सकता था? यही कारण है कि आज उन का वंशवृक्ष इतना विशाल हो गया है।

पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज के पश्चात् पूज्य श्रीशिवलालजी महाराज हुए। इन्होंने तेंतीस वर्ष तक एकान्तर तप किया। उनके बाद पूज्य श्रीउदयसागरजी महाराज का उदय हुआ। उन की आकृति में इतना माधुर्य था कि उन्हें जो देखता, वही आकर्षित हो जाता था। उन जैसा तेजस्वी और उनकी शानी का पुरुष शायद ही कहीं दृष्टिगोचर हो। उन्होंने अपने उत्कृष्ट आचार और उपदेश द्वारा राजा-महाराजाओं पर तथा गोशमुहम्मद नवाब आदि पर भी अपना प्रभाव डाला था। तदनन्तर पूज्य श्रीचौथमलजी महाराज आचार्य पद पर आसीन हुए। उन्होंने सम्प्रदाय में ज्ञान, ध्यान और आचार-विचार में बहुत उन्नति की। पूज्य श्रीचौथमलजी महाराज के बाद पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज आचार्य हुए। शब्दों द्वारा उनका क्या

परिचय दिया जाय? उनके तेज; प्रताप तथा उनकी गम्भीरता और मधुर वाणी का जिसने अनुभव किया है, वह आयु भर उन्हें नहीं भूल सकता। आज वे हमारे समक्ष नहीं हैं, तथापि उनके प्रति अगर हमारी श्रद्धा है तो वे समीप ही हैं। इन सब महापुरुषों का स्मरण करने से आत्मा में शक्ति और धर्म में रुचि उत्पन्न होती है।

जिस प्रकार सुधर्मा स्वामी से लेकर पूज्य हुक्मीचन्दजी महाराज के समय तक आषाढी पक्खी से ५० दिन पर सवत्सरी होती आई है, उसी प्रकार आजकल भी होती है। आज का दिन यही पवित्र दिन है।

सवत्सरी पर्व आत्मा को निर्मल बनाने का अपूर्व अवसर है। छोटी-छोटी बातों में इस सुअवसर को भूलना नहीं चाहिए। इस दिन समस्त प्राणियों के प्रति निर्वैर होकर-वैर भाव को अन्तःकरण से अलग करके आत्मा को शुद्ध करना चाहिए। ऊपर से 'खमत खामणा' करके भी भीतर से वैर को न भूलना सच्चा 'खमत-खामणा' नहीं है। सच्चा 'खमत-खामणा' किस प्रकार होती है, इसके लिए ग्रन्थ में एक आदर्श बतलाया गया है। वह इस प्रकार है—

चन्द्रप्रद्योतन उज्जैन का राजा था। उसकी विषय वासना बहुत बढी हुई थी। चन्द्रप्रद्योतन समर्थ पुरुष था, मगर उसमें यह एक बड़ा दुर्गुण था। यह दुर्गुण भी इतना बढ़ा हुआ था कि उसने राजा उदायन की दासी को लाने का विचार किया। अन्त में भान भूल कर वह उस दासी को चुरा लाया। दासी सुन्दरी थी और उसके सौन्दर्य से चन्द्रप्रद्योतन की आँखें चौंधिया गईं। उसे

सन्मार्ग दिखाई न दिया। उसने अपने कुलधर्म का भी विचार न किया। मोह में फँस कर मनुष्य कितना मूढ और पतित हो जाता है!

उदायन को जब यह वृत्तान्त विदित हुआ, तो उसने सोचा—अगर चन्द्रप्रद्योतन को दासी की आवश्यकता थी ही तो वह मुझसे माँगता। मगर इस प्रकार चुरा कर ले जाना घोर अनीति है और दासी के प्रति अत्याचार भी है। उसने मुझसे कमजोर समझ कर ऐसा किया होगा। मगर इस अनीति को मुझे रोकना चाहिए और यह भी बता देना चाहिए कि अनीति सबल होती है या नीति प्रबल होती है?

यह विचार कर उदायन ने चन्द्रप्रद्योतन के पास अपना दूत भेज कर कहलाया—'मेरी चुराई हुई दासी को वापस भेजो और इस दुराचार के लिए क्षमायाचना करो।'

दूत गया। चन्द्रप्रद्योतन ने दर्प के साथ उत्तर दिया—'अच्छे रत्न बलवान् के पास हुआ करते हैं और होने ही चाहिए। दासी भी जगत् का एक रत्न है। वह मेरे पास ही शोभा देगा। यही विचार कर मैं उसे ले आया हूँ। जिसमें शक्ति होगी वही इस रत्न का अधिकारी है। अगर उदायन में शक्ति हो तो ले जायें।

उदायन श्रावक थे और सोलह देशों के राजा भी थे। उन्हें युद्ध करना अभीष्ट नहीं था, मगर उन्होंने सोचा—अनीति का प्रतिकार न करना राजा के लिए कलंक का टीका है। युद्ध के भय से जो राजा अन्याय, अत्याचार होने देगा, वह पृथ्वी को नरक बना डालेगा और अपने धर्म को कलंकित करेगा। अपराधी को

दण्ड न देना कायरता है। राजधर्म की रक्षा के लिए न्यायनीति की प्रतिष्ठा कायम रखने के हेतु युद्ध करना ही चाहिए।

इस प्रकार विचार कर उदायन राजा ने अपार सेना लेकर उज्जैन पर चढ़ाई कर दी। उदायन सिंध का राजा था। वहां से उसे उज्जैन पहुँचना था। रास्ता काफी लम्बा था। कथानक में कहा है कि सैनिकों का पानी पीने के लिए प्रभावती रानी ने तीन पुष्कर बनवाये, जिनसे सेना को बड़ी सहूलियत हुई।

उदायन और चन्द्रप्रद्योतन में लड़ाई हुई। अनीति अन्तत निर्बल ही साबित होती है। चन्द्रप्रद्योतन हार गया। उदायन ने उसे पकड़ लिया। उसने अपने बाण से चन्द्रप्रद्योतन के मस्तक पर अंकित कर दिया—'मम दासीपति' अर्थात् यह मेरा दास है।'

इतना करके और उज्जैन पर अपना झंडा फहरा कर उदायन राजा, कैदी चन्द्रप्रद्योतन को साथ लिये वापिस लौटा। वह उज्जैन से चला कि चातुर्मास के दिन आ गये। उसने दशार्णपुर—वर्त्तमान मन्दसौर में अपना पड़ाव डाल दिया। उसी जगह संवत्सरी पर्व आ गया. उदायन ने आदेश जारी किया—'सब प्रकार की हलचल बन्द करें—वैर भूल कर इस पर्व की आराधना करो।' राजा का आदेश पाकर सेना के सब लोगों ने अपनी-अपनी भावना और शक्ति के अनुसार पर्व की आराधना की। यद्यपि चन्द्रप्रद्योतन इस समय कैदी की हालत में था, फिर भी आखिर वह राजा था। अतएव उदायन उसे अपने ही साथ भोजन कराता था।

उदायन संवत्सरी के दिन पौषध करता था। चन्द्रप्रद्योतन

पौषध नहीं करता था और जबरदस्ती पौषध कराना उचित भी नहीं था। अतएव उदायन ने उससे कहा—'मैं कल पौषध व्रत धारण करके धर्मध्यान में ही अपना समय व्यतीत करूँगा। भोजन मैं करूँगा नहीं। आपके लिए मैं व्यवस्था किये देता हूँ। आप जो चाहें, खाएँ-पीयें रसोइया आपका ही है। आप किसी प्रकार का संकोच न कीजिएगा।'

चन्द्रप्रद्योतन के प्रति उदायन ने जो स्नेहपूर्ण सद्व्यवहार किया था वह ऐसा ही था, जैसा एक वीर को दूसरे वीर के साथ करना चाहिए। इस व्यवहार से चन्द्रप्रद्योतन पानी-पानी हो गया। विजेता के प्रति पराजित में जो विद्वेष पाया जाता है, वह उसमें नहीं रहा। उदायन के शीतल व्यवहार ने उसके अन्तःकरण की द्वेषाग्नि शान्त कर दी। चन्द्रप्रद्योतन को यह भी मालूम हो गया था कि उदायन संवत्सरी के दिन परिपूर्ण उदार भावना में आते हैं। अगर इस अवसर पर मेरी बेड़ी कट गई तो कट गई, अन्यथा नहीं कटने की। कल मेरे लिए अद्वितीय अवसर है। संवत्सरी का दिन ही मेरी मुक्ति का द्वार है।

यद्यपि चन्द्रप्रद्योतन को संवत्सरी की आराधना नहीं करनी थी, फिर भी अपना मतलब गाठने के लिए उसने उदायन से कहा—'मैं भी आपकी भाँति क्षत्रिय हूँ। आप जो धर्म मानते हैं, वह मैं भी मानता हूँ। ऐसी स्थिति में, जब आप पौषध करेंगे, तो मैं भी क्यों नहीं करूँगा ?'

उदायन ने कहा—'आप पौषध करें यह अच्छी बात है, परन्तु देखादेखी करने पर अगर भूख लग आई तो कठिनाई होगी। आप विचार देखिए।

चन्द्रप्रद्योतन को अपना प्रयोजन सिद्ध करना था। उसने कहा—'मैं क्षत्रिय हूँ। एक दिन भूखा रहना कौन बड़ी बात है? एक दिन के उपवास से मरा थोड़े ही जाता है। मैं महीना भर भूखा रहने पर भी नहीं मर सकता। आप चिन्ता न करें। मैं पौषध ही करना चाहता हूँ।'

उदायन ने कहा—जैसी आपकी इच्छा।

पौषधशाला में घास के दो 'संथारे' बिछाये गये।

घास के संथारे में बड़ा गुण है। गीता में भी इसकी प्रशंसा की गई है। आजकल भी लोग पौषध करते हैं मगर घास का संथारा कौन रखता है? ऐसी दशा में हम साधुओं को भी घास का संथारा कैसे मिल सकता है? महाव्रतों की क्रिया ठीक-ठीक तभी पलती है, जब अणुव्रती हों। अणुव्रती न हों तो महाव्रतों का पालन करना कठिन होता है। घास के संथारे का उपयोग करने में अनेक लाभ बतलाये गये हैं। शास्त्र में कहा है—

"दब्भसंथारं संथरइ।"

अर्थात्-दर्भ-डाभ का संथारा बिछाता है।

गीता में भी कहा है—

"चेलाजिन कुशोत्तरं।"

प्राचीन समय में कुश का ही आसन बिछाया जाता था। वास्तव में घास छोटी चीज भी नहीं है। आम, केला और अनार आदि बड़ी समझी जाने वाली चीजों पर दुनिया नहीं जीती, दुनिया जीवित है तृण पर। उदाहरणार्थ—एक देव ने किसी

पुरुष से कहा—मैं तुझ पर सन्तुष्ट हूँ। तू चाहे तो जौ, गेहूं आदि के पौधे माग ले और चाहे आम, अनार आदि वृक्ष माग ले। वह पुरुष दयालु था। उसने देव से कहा—'आम, अनार आदि से किसी अमीर का थाल भले ही सज जाय, लेकिन सर्वसाधारण का काम तो जौ, गेहूँ आदि से ही चल सकता है। आम, अनार आदि के अभाव में कोई मर नहीं जाता, लेकिन गेहूं जौ आदि न मिलने पर तो मर जाना होगा। अतएव मुझे आम, अनार आदि के बड़े बड़े वृक्षों की आवश्यकता नहीं, मेरे लिए तो गेहूँ आदि के छोटे छोटे पौधे ही भले हैं।' यह छोटे पौधे वैसे तो तृण ही हैं, लेकिन सब का जीवन इन्हीं पर अवलम्बित है। इस कारण उस पुरुष ने तृण ही माँगना उचित समझा।

घास पर पौषध करने से निरभिमानता आती है, विलासवृत्ति में न्यूनता होती है और मनुष्य अपने आपको एक भिन्न प्रकार की पवित्र स्थिति में अनुभव करने लगता है।

दोनों राजाओं ने पोषध किया। चन्द्रप्रद्योतन पौषध की विधि नहीं जानता था, किन्तु वह उदायन का अनुकरण करता रहा। उदायन ने प्रतिक्रमण किया और समस्त जीवों से क्षमायाचना करके और अपनी ओर से क्षमादान करके चन्द्रप्रद्योतन से कहा—'बन्धु! मोहनीय कर्म अतिशय विचित्र है। ऐसा न होता तो मेरी दासी के प्रति आपके मन में दुर्भावना क्यों उत्पन्न होती? कहाँ आप उज्जैन के राजा और कहाँ एक साधारण दासी! मुझे अपने राजधर्म का पालन करने के लिए युद्ध करना पड़ा। आप मेरी जगह होते तो आपको भी यही करना पड़ता। मगर संसार की लीला विचित्र है। मेरे हृदय में आपके प्रति किसी प्रकार की

दुर्भावना नहीं है। "बीती ताहि बिसारि कै, आगे की सुधि लेहु।" जो हुआ सो हुआ। सब प्रकार का वैरभाव भूल कर मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।

अपराध था चन्द्रप्रद्योतन का, और क्षमायाचना करता है उदायन! पराजित और बन्दी राजा के प्रति विजेता शूरवीर की यह क्षमा-प्रार्थना क्या कम महत्व रखती है? क्या यह साधारण घटना है? हृदय की यह निर्मलता, यह निरभिमानता और यह विशुद्धता धर्म का ही प्रताप है। चन्द्रप्रद्योतन का प्रताप, सैन्य और शस्त्र जिस पुरुष के एक रोम में भी भय का सचार न कर सके, वही पुरुष आज अपने बन्दी के प्रति यह नम्रता प्रदर्शित करता है। इस प्रकार के ज्वलंत उदाहरणों के होते कौन कह सकता है-"क्षमा कायर का शस्त्र है!" उदायन का यह उदार चरित "क्षमा वीरस्य भूषणम्" की स्पष्ट घोषणा करता है। सचमुच जो धर्म को जानता होगा, वही पहले नमेगा।

उदायन को इस प्रकार क्षमायाचना करते देख चन्द्रप्रद्योतन चकित रह गया। मगर तत्काल ही उसे अपने प्रयोजन का ध्यान आ गया। उसने सोचा—बस, यही अवसर है। चूकना ठीक नहीं।

यह सोचकर चन्द्रप्रद्योतन ने कहा—'महाराज! आप क्षमायाचना कर रहे हैं, यह आपका बड़प्पन है। मगर राज्य छिन जाने के कारण मेरा तो कलेजा जल रहा है। मैं भीतर से कैसे क्षमा करूँ? अन्तःकरण साथ न हुआ, तो अकेली जीभ से की गई क्षमा का मूल्य ही क्या है? इस प्रकार का ढोंग मैं नहीं करना चाहता। आप क्षमा चाहते हैं और मुझे क्षमा दे रहे हैं तो आप

अपनी दासी ले लीजिए और मेरा राज्य मुझे लौटा दीजिए। अपराध किससे नहीं हो जाता ? मैं अपनी मूढ़ता के लिए लज्जित हूँ।

आपकी राय में उज्जैन का राज्य लौटा देना उदायन के लिए उचित होगा ? आपसे तो लड़की के पैसे भी नहीं छूटते ! आप कन्या विक्रय करने में नहीं हिचकते और उदायन से राज्य छोड़ने के लिए कहते हो ? क्या यही न्याय-संगत है ? याद रक्खो, धर्म को हारने से और पाप करने से कोई धनवान नहीं होता।

उदायन वीर पुरुष था। उसने सोचा—'धर्मद्वार पर यह याचना करता है और अपना अपराध भी स्वीकार करता है। ऐसी दशा में अनुदारता दिखलाना उचित नहीं है। यह पहले मान गया होता तो इतनी बात ही न बढ़ती और न रक्तपात होता। पहले न मानने का दण्ड इसे मिल गया है। यह कुलीन राजा है। यद्यपि इसका नैतिक पतन हुआ है, फिर भी आज यह मेरा सहधर्मी बना है। मैं अहंकार से ही लड़ा था और अब इसका अहंकार गल गया है। अब झगड़े की जड़ ही क्या रही ?

उदायन ने प्रकट में कहा—'अच्छी बात है। अब मैं और तुम पहले के समान हैं। मैं अभी पौषध में हूँ, अधिक कुछ नहीं कह सकता। हाँ, यह समझ लो कि अब मेरे और तुम्हारे बीच कोई वैर-विरोध नहीं है। मेरा वैर सिर्फ अधर्म से था और तुमने उसका त्याग कर दिया है। अब कोई विरोध नहीं रहा।

उदायन ने चन्द्रप्रद्योतन के प्रति उदारता प्रदर्शित की, जिससे वह सुधर गया। जिस दिन उदायन ने उदारता दिखाई थी, वही दिन आज भी है। जब राज्य की लड़ाई भी मिट गई

तो तुच्छ बातों की लड़ाई कब तक मचाये रहोगे ? आप भी वैर भूल जाओ। परस्पर में प्रेम का निर्मल झरना बहाओ, जिससे तुम्हारा और दूसरों का संताप मिट जाए, शान्ति प्राप्त हो और अपूर्व आनन्द का प्रसार हो। लेन देन मे, बोल चाल में, किसी से कोई झगड़ा हुआ हो, मनमुटाव हुआ हो, कलह हुआ हो तो उसे भुला दो। किसी प्रकार की कलुषता अन्तःकरण में मत रहने दो। चित्त के विकारों की होली कर दो, आत्मिक प्रकाश की दीपमालिका जगाओ, प्राणी मात्र की रक्षा के बन्धन में बँध जाओ तो इस महा-महिमामय पर्व मे सभी पर्वों का समावेश हो जायगा।

अन्त में दोनों राजा मित्र हो गये। उदायन ने सोचा—'इसका राज्य लिया है तो तरकीब से लौटाना ठीक होगा, जिस से आगे का व्यवहार भी अच्छा रहे।' यह सोचकर वह चन्द्र-प्रद्योतन को अपनी राजधानी में ले गया। वहाँ पहुँच कर उदायन ने अपनी कन्या उसे ब्याह दी और दहेज में उज्जैन का जीता हुआ राज्य दे दिया।

उदायन और चन्द्रप्रद्योतन क्षत्रिय थे और आप भी क्षत्रिय है। आप व्यापार करने के कारण वणिक बन रहे हैं, लेकिन अपने क्षत्रियत्व को याद करो। अपने पूर्वजों के वीरतापूर्ण कारनामों पर दृष्टि दौड़ाओ, जिनकी गौरव-गाथा से राजस्थानी साहित्य और भारतीय साहित्य भरा पड़ा है। बडे-बडे राजा-महाराजा आपके पूर्वजों की असाधारण वीरता देखकर दाँतों तले उँगली दबाते थे। उन्होंने देश के दुश्मनों के दाँत खट्टे किये थे। एक दिन ऐसा था जब तुम्हारे पूर्वजों की शूरता और वीरता से धरती

काँप उठती थी। उनकी भृकुटी चढ़ी देखकर बड़े-बड़े सेनापतियों की छाती में धड़कन पैदा हो जाती थी। अपने पूर्वजों की वीरता का अनुकरण करके संवत्सरी पर्व मनाओगे तो धर्म का तेज खिल उठेगा। धर्म की प्रभावना होगी और महिमा बढ़ेगी। उस समय तुम्हारी क्षमा-प्रार्थना का मूल्य बढ़ जायगा।

आपको एक कामधेनु मुफ्त मिल रही है। वह गाय बड़ी कल्याणकारिणी है। जिस प्रकार गाय के चार स्तन होते हैं, उसी प्रकार उसके भी दान, शील, तप और भाव रूप चार स्तन हैं। इन चारों स्तनों से दूध निकलता है। लोकप्रसिद्ध कामधेनु आज दिखाई नहीं देती, लेकिन मैं जिस कामधेनु का जिक्र कर रहा हूँ वह कामधेनु की सगी बहिन—मगर उससे भी बढ़ी-चढ़ी है। यह भावना रूपी गाय है। भावना रूप गाय आपके पास आई कि आप निहाल हो जायेंगे। आपको उससे जीवदया का अमृत मिलेगा। आप प्राणी मात्र पर दया करना सीख जायेंगे। उसे पाकर आप धन की रक्षा करने में ही जीवन की सार्थकता न समझेंगे, किन्तु जीवों की रक्षा को प्रधानता देंगे। उस गाय की पूंछ पकड़ कर आप वैतरणी तिर जाओगे। यही नहीं, वह आपको ऐसे स्थान मे पहुँचा देगी जहाँ किसी प्रकार की आधि नहीं, व्याधि नहीं, उपाधि नहीं। जहाँ मंगल ही मंगल है, जो महामंगल का धाम है, जहाँ अमंगल की पैठ नहीं।

जिस तरह दूसरे के बच्चे को जाते देखकर लोग अपने बच्चे को जोर से पकड़ते हैं, उसी तरह दूसरे का धन जाते देखकर अपने धन से चिपटते हैं। लेकिन इस प्रकार चिपटने पर भी धन जो जाने को है, वह तो जाता ही है—रुकता नहीं है। जब

धन जाने वाला ही है तो उसमें मुक्त ही क्यों नहीं कर लेते ?

गोलामांथी धन खोयो धूल्थी कपाल धोयो,

जान पायो तारो रे पामर प्राणी चेते तो चेत हूँ कहने रे ।

हजी हाथमां छे बाजी करी ले प्रभु ने राजी,

तारी पूंजी होवे साजी रे ॥ पामर० ॥

गमेली ने हाथ माली पत्री तोर जासु न्हे चालो ।

करे माथा कूट खाली रे ॥ पामर० ॥

धूल से कपाल धोने से रूप नहीं निखरता, वरन मलीन हो जाता है । इसी प्रकार दस दिन तक गले में कंठी रखने से काला दाग ही होगा, शायद गोरा नहीं। ऐसा होते हुए भी लोग शरीर पर सोना घिसने में ऐसा आनन्द मानते हैं, मानो स्वर्ग मिल गया हो।

जैनधर्मी कृपण नहीं होते । चौबीस तीर्थंकर दीक्षा लेने से पहले दान दिया करते थे । आज भी जो लोग भ्रमवश दान देने में पाप मानते हैं, उनका धन भी जाने से नहीं रुकता । अगर रहता है तो केवल दयाधर्म ही रहता है । अतएव मित्रो ! केवल धन के उपार्जन और रक्षण में मत लगे रहो—मनुष्य जीवन जड़ पदार्थों की उपासना के लिए नहीं है । दया-दान की ओर ध्यान दो । दीक्षा लेने से पहले तीर्थंकर और बातों में तो ममता उतार दिया करते हैं लेकिन दान से तो वे भी ममत्व नहीं उतारते । तीर्थंकर एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुहरें प्रतिदिन एक वर्ष तक दान दिया करते हैं और फिर दीक्षा लेते हैं । दान करने से दिवाला नहीं निकलता, दिवाला निकलने के कारण तो और ही होते हैं ।

परहितचिन्ता मैत्री, परदुःखविनाशिणी तथा करुणा ।
परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥

अर्थात्—पर के हित का चिन्तन करना मैत्री भावना है, दूसरों के दुःख को दूर करना करुणाभावना है, दूसरों को सुखी देखकर सन्तुष्ट होना प्रमोदभावना है और दूसरों के दोषों की उपेक्षा करना मध्यस्थभावना है।

कौन जीव किस भावना का पात्र है, यह अमितगति आचार्य ने बतलाया है।

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदम्, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ! ॥

हे प्रभो ! मेरी आत्मा का स्वभाव ऐसा बन जाय कि वह प्राणी मात्र पर मित्रता धारण करे, सद्गुणी पुरुषों को देखकर प्रमोद हो, दुःखी जीवों पर करुणाभाव हो और प्रतिकूल आचरण करने वालों पर मध्यस्थता रहे। प्रभो ! यह भावनाएँ मुझ में सदैव रहें—अन्तःकरण इनसे निरन्तर व्याप्त बना रहे।

मित्रो ! इन चार भावनाओं में धर्मशास्त्र का सार गर्भित हो जाता है। चार पैर वाली या चार स्तन वाली इस भावना रूपी कामधेनु का सेवन करोगे तो परम कल्याण के भागी बनोगे। आज विशेष रूप से मैत्री भावना के सेवन का दिवस है। आज आप यह पाठ पढ़ेंगे—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ ण केणइ ॥

इस पवित्र पाठ का उच्चारण केवल, जिह्वा से न हो, अन्तरतर से यह ध्वनि निकले और इसका अर्थ आपके जीवन मे ओतप्रोत हो जाय, आपको यह ध्यान रखना है। सब जीवों से मैत्री करने पर हिन्दू, मुसलमान, पशु, पक्षी या और कौन जीव उसमें शामिल नहीं होते? एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त समस्त जीवों का इनमें समावेश हो जाता है। क्या आप सब जीवों के साथ मैत्री रखना चाहते हैं? अगर यह मैत्री न निभा सके, तो यह पाठ केवल शाब्दिक ही रह जायगा।

बहुत से लोग सोचते है कि सब के प्रति मैत्रीभाव धारण करने से भूखों मरना पड़ेगा, क्योंकि फिर किसी की गाँठ काटने का अवसर नहीं रहेगा। गाय को मित्र बना लिया तो उसके बछड़े को अलग करके उसका दूध नहीं निकाल सकता। इसी प्रकार घोड़ा मित्र हो गया तो उस पर सवारी किस प्रकार कर सकेंगे? नौकरों से सेवा लेना भी कठिन हो जायगा। इस प्रकार की विचारधारा भ्रान्तिपूर्ण है। क्या गाँठ काटे बिना भरपेट भोजन नहीं मिल सकता? न्यायनीति से आजीविका चलाने वाले क्या भूखों मरते हैं? क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि इस ससार में न्याय और धर्म का त्याग करके ही जीवन कायम रक्खा जा सकता है? आनन्द जैसे श्रावकों का चरित देखोगे, तो मालूम होगा कि यह भय सर्वथा निराधार है। इसी तरह घोड़ा या बैल पर उसकी शक्ति से अधिक बोझ लादे बिना आपका काम क्यों नहीं चल सकता? बेचारे बछड़े को अपनी माता का थोडा-सा दूध पी लेने दोगे तो क्या तुम्हारे बाल-बच्चे बिना दूध ही रह जाएँगे? मित्रो! यह सब निर्बलता,

और अनुदारता के विचार हैं। जिस समय आपकी वृत्ति में पूरी तरह नैतिकता आ जायगी, तब एक क्षण के लिए भी दूसरे के प्रति अत्याचार करके अपने स्वार्थसाधन का विचार न उठेगा।

अगर सब जीवों को मित्र बनाने से काम नहीं चलेगा तो क्या सब को शत्रु मानने से संसार का काम ठीक चलेगा? अगर आपका यह विचार हो कि सब को शत्रु बनाने से ही ठीक काम चल सकता है तो आप भी सब के शत्रु माने जायँगे और इस दशा से संसार में एक क्षण का जीवन भी कठिन हो जायगा। सब को मित्र बनाने से क्या फल होता है और शत्रु बनाने का परिणाम क्या निकलता है, इसके लिए एक उदाहरण लीजिए।

किसी दातार ने चार ब्राह्मणों को एक गाय दी। चारों ब्राह्मण भाई-भाई थे, मगर अलग-अलग हो गये थे। उनके चूल्हे अलग-अलग जलते थे और दरवाजे भी अलग-अलग हो गये थे। दान में मिली हुई गाय पहले बड़े भाई के यहाँ लाई गई। उसने सोचा—'गाय को आज मैं खिलाऊँगा तो कल उसका दूध होगा। वह दूध मेरे किस काम का? कल वह दूसरे के यहाँ चली जायगी और वही कल दूध दुहेगा। ऐसा सोचकर उसने दूध तो दुह लिया मगर खाने को नहीं दिया। दूसरे दिन दूसरा भाई गाय अपने घर ले गया। उसके मन में भी यही विचार आया—कल यह दूसरे के घर चली जायगी, फिर आज खिलाने से मुझे क्या लाभ है? कल का दूध तो मुझे मिलना नहीं। अतएव इसके स्तनों का दूध ले लूँ। कल वह आप खिलाएगा। ऐसा सोचकर उसने भी दूध दुह लिया और खाने को नहीं दिया। शेष दो भाइयों के घर भी यही हुआ। भूख के मारे गाय की हड्डियाँ निकल आईं। चार ही

रोज में गाय का कायाकल्प हो गया। उसकी दुर्दशा देखकर लोग कहने लगे—यह ब्राह्मण है या कसाई ! इन्हें गाय की रक्षा करते हुए दूध लेना था, मगर यह तो उसका खून पीने पर उतारू हो गये हैं।

इसी प्रकार किसी दूसरे दाता ने किन्हीं अन्य चार भाइयों को गाय दी। उन्होंने सोचा—'दाता ने उदारतापूर्वक, कृपा करके हमें गाय दी है तो हम उसे माता के समान मानकर उसकी रक्षा करेंगे। उसे किसी प्रकार का कष्ट न देंगे।' इस प्रकार विचार कर उन्होंने गाय को खिलाया-पिलाया। उन्हें दूध भी मिला और गाय की रक्षा भी हुई।

एक समाचार पत्र में लिखा था—स्पेन देश में गाय का दूध निकालते समय एक साहब मधुर बाजा बजाता था और उसकी पत्नी दूध दुहती थी। जब उनसे ऐसा करने का कारण पूछा गया तो उत्तर मिला—गाय प्रेम से दूध देती है। इसी कारण हम इसे बाजा सुनाते और मेवा खिलाते हैं गाय इससे प्रेम में मग्न हो जाती है, तब प्रसन्नता पूर्वक दूध देती है। भारतवर्ष में भी अनेक लोग गाय दुहने से पहले उसे स्नेह से पुचकारते हैं। और उस पर प्यार का हाथ फेरते हैं।

गाय को खाना न देने वाले ब्राह्मण दूध से वंचित रहे और लोकनिन्दा के भागी हुए। मगर जिन्होंने गाय की सेवा की, उन्होंने दूध भी पाया और प्रशंसा भी पाई।

आप दूसरों को शत्रु मानोगे तो आपको मित्र कौन मानेगा? और उस दशा में आप भी सुखी किस प्रकार हो सकते हैं ?

आप परहित करेंगे, करुणा करेंगे, पर के प्रति मैत्रीभाव धारण करेंगे तो आपको भी आनन्द होगा और दूसरों को भी आनन्द होगा।

हम साधुओं के लिए सभी जीव मित्र हैं। गृहस्थ तो कदाचित् स्वार्थ के कारण भी किसी से मित्रता करते होंगे, कदाचित् अस्थि और चर्म के अर्थात् शरीर के मित्र होते होंगे, किन्तु साधु आत्मा के मित्र हैं। अतएव साधु के लिए किसी से किसी तरह का भेद-भाव नहीं होता। उनके लिए सभी जीव समान रूप से मित्र हैं।

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म-मैल को अन्तरो, बूझे विरला कोय॥

हम साधु लोग गाय, कीड़ी, मनुष्य और परमात्मा को कर्म उपाधि रहित असली स्वरूप में देखते हैं। व्यवहार में कर्म-मल का अन्तर है लेकिन निश्चय में तो सभी जीव समान स्वरूप के धारक हैं। जो ऐसा मानेगा वह किसी जीव का अपमान नहीं करेगा, किसी के प्रति शत्रुता धारण नहीं करेगा। आपका मित्र आपको दो बुरी बातें कह दे, तो भी आप उसका भला ही चाहेंगे, बुरा नहीं चाहेंगे। हो सकता है कि ऐसा करने वाले को आप मित्र न मानें, लेकिन हम तो अपने थप्पड़ मारने पर भी मैत्रीभाव ही रक्खेंगे। हमें किसी से भी द्वेष नहीं हो सकता। व्यवहार तो रखना ही होता है, लेकिन निश्चय में—यथार्थ में सभी से प्रेम है। सन्त, सती, श्रावक और श्राविका आदि सभी पर मेरा समभाव है। आप भी अपनी मित्रता की जाँच करो।

और यह भी सोचो कि आपके ऊपर किस-किस का उपकार है? अपने ऋण को किस दृष्टि से देखना चाहिए, यह बात एक उदाहरण से समझाता हूँ।

मानसरोवर के किनारे पर एक हंस बैठा हुआ था। उधर से एक कवि निकला। कवि ने कहा—हे राजहंस! मैं तेरे गुण गाऊँ या मानसरोवर के? दोनों में से किसे बड़ा कहूँ? तेरा मानसरोवर पर क्या उपकार है, यह बात न बतला कर आज मैं सिर्फ यही बतलाता हूँ कि तुझ पर मानसरोवर का कैसा कर्ज है? राजहंस, तू ने इस सरोवर का कमलकंद खाया है। इसमें उगे हुए कमल के पत्तों पर तू बैठा है और तूने कमल के पराग से सुगन्धित जल पिया है। तूने इस सरोवर के मोती चुगे हैं। अब तुझे यह देखना है कि इस ऋण को तू किस प्रकार चुकाता है? बता, तू सरोवर का क्या प्रत्युपकार करता है जिससे तेरा कर्ज चुक जाय?

कवि के प्रश्न का बेचारा राजहंस क्या उत्तर दे सकता था? उसे स्फुट वाणी प्राप्त नहीं है। लेकिन मैं कहता हूँ कि राजहंस यह कह सकता था—'मेरे सामने दूध और पानी मिला हुआ आजाय तो मैं दोनों को अलग-अलग कर दूँगा। अगर मैं अपना कर्त्तव्य न पालूं तो कृतघ्न हूँ।' राजहंस की ओर से कही हुई बात सुन कर कवि कहता है—ठीक है। ऐसा ही होना चाहिए। ऐसा होने से तू राजहंस कहलाएगा और तुझ पर मानसरोवर का जो ऋण है, वह उतर जायगा।

लगभग ऐसी ही बात मैं अपने लिए भी देखता हूँ। यह संघ मेरे लिए मानसरोवर है। मैं हंस की तरह इसका आश्रय ले कर बैठा हूँ। मैं इस संघ का खाता-पीता हूँ और संघ मेरे शरीर

की रक्षा करता है। शास्त्र मुझसे पूछता है—संघ का यह ऋण लिया तो है, इसे चुकाओगे किस प्रकार? इसके बदले कौन-सा प्रत्युपकार करोगे?

इस विषय में गुरु हमें शिक्षा देते हैं—हे साधु, तू अपना साधुपन पाल। यह संघ इसीलिए तुझे भोजन, पानी आदि की सहूलियत देता है। जैसे हंस में दूध-पानी को अलग करने का गुण है और इस गुण के द्वारा वह अपना ऋण चुकाता है उसी प्रकार तू ध्यान-मौन की सहायता से, शास्त्र का मनन करके धर्म-अधर्म और पुण्य-पाप की अलग अलग व्याख्या करके संघ को समझा, तो संघ के ऋण से तू मुक्त हो जायगा। ऐसा करना साधु का धर्म भी है। इस धर्म का पालन करने पर साधु को देने वाले और लेने वाले साधु-दोनों ही सद्गति पाते हैं। अतएव मैं यदि असत्य के काँटे हटाकर संघ को सत्य की शिक्षा दूँगा तो मेरा धर्म रहेगा यदि मैं खुशामद में पड़ जाऊँगा तो मुझ पर संघ का ऋण रह जायगा और भगवान् का ऋण भी मैं नहीं चुका सकूँगा।

श्रावकों को भी अपने कर्त्तव्य का विचार करना चाहिए। हाकिम रियाया के पीछे होता है और धनवान, गरीब की बदौलत होता है। आप धनवान् हैं तो क्या हुआ, आप पर गरीबों का ऋण है। आपके ऊपर जिनका ऋण चढ़ा है, उनका हित करके ही आप उसे चुका सकते हैं। अगर आप गरीबों की दया न रक्खेंगे और उनकी कठिनाई का ख्याल न करेंगे तो आपके ऊपर ऋण चढ़ा रह जायगा और जब उनके पास ही न रहेगा तो आपके पास कहाँ से आयगा? अतएव आप भी कवि के राजहंस के समान बनो। गरीबों का उपकार मानो। अकड़ कर पगड़ी बाँधने

में ही मत रह जाओ। आप जिस पगड़ी पर गर्व करते हैं और जिस हवेली को अपनी कहते हैं, उसकी पगड़ी का सूत और हवेली की एक ईंट भी आपकी नहीं है। आप उस हवेली की गिरी हुई एक ईंट भी नहीं लगा सकते। फिर यह क्यों नहीं मानते कि यह घर गरीबों का ही है, मेरा नहीं? मित्रो! जिन गरीबों ने नाना कष्ट सहन करके आपको रईसी दी है और जिन पशुओं की बदौलत आप पल रहे हैं, उनके प्रति कृतज्ञ होकर प्रत्युपकार क्यों नहीं करते? क्या साहूकार कहला कर भी ऋण चुकाना आपको अभीष्ट नहीं है?

उपदेश देना साधारण बात नहीं है। यह अत्यन्त दुष्कर और उत्तरदायित्व का काम है। यों तो—"पर उपदेश कुशल बहुतेरे" की कहावत प्रसिद्ध है संस्कृत में कहा है—

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः॥

अर्थात्—दूसरों को उपदेश देना सब के लिए सरल बात है, लेकिन धर्म का आचरण करने वाले महात्मा पुरुष विरले ही होते हैं।

सच्चा उपदेशक वह नहीं है जो दूसरों के सामने बड़ी-बड़ी बातें बघारता है मगर आचरण कुछ भी नहीं करता। सच्चा उपदेशक पहले आत्मा की ओर ध्यान देता है। वह जिन बातों को अपने व्यवहार में ले आता है, उन्हें दूसरों के सामने प्रस्तुत करता है। ऐसा किये बिना उपदेश प्रभावशाली नहीं हो सकता। इसी दृष्टि से कहता हूँ कि उपदेश देना तलवार की धार पर चलने के समान है।

उपदेश देने में एक कठिनाई और भी है। सब श्रोताओं का विकास एक—सा नहीं होता। कोई श्रोता अपनी असमर्थता से अथवा अन्य किसी कारण से कोई दुर्व्यसन न छोड़े मगर अपने दुर्व्यसन की निन्दा सुनकर उसे बुरा लग सकता है। वक्ता का आशय निर्मल होने पर भी श्रोता को कदाचित् मानसिक क्लेश भी पहुँचने की सम्भावना रहती है। मेरे उपदेश के कारण किसी को अरुचि हुई हो, बुरा लगा हो, किसी भी प्रकार से मेरे निमित्त से कोई खेद हुआ हो तो मैं अपने सद्विचार से और अनन्त सिद्धों की साक्षी से, उन सब से क्षमा याचना करता हूँ।

मित्रो! जिस प्रकार उदायन ने अपने अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना की थी, उसी प्रकार आप भी अपने अपराधों के लिए क्षमा-प्रार्थना कीजिए। क्षमा में लोकोत्तर शक्ति मौजूद है। हजारों सिर कटने पर भी जो काम नहीं हो सकता, वह क्षमा का आश्रय लेने से सहज ही हो जाता है।

आज अपूर्व अवसर है। कौन जानता है कि जीवन में ऐसा धन्य दिवस कितनी बार आएगा? अथवा आएगा ही नहीं? इसलिए इसका सदुपयोग करके अन्त करण की मलीनता धो डालो। आत्मा को स्वच्छ स्फटिक के समान बना लो। ऐसा करने से आपका महान् कल्याण होगा। क्षमा का सुदृढ कवच धारण करके निर्भय बन जाओ।

क्षमा खड्ग करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति॥

जिस शूरवीर पुरुष के हाथ में क्षमा की तलवार है, उस का कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। कौन नहीं जानता कि पानी में पड़ी आग आप ही ठंडी हो जाती है।

यह बात स्मरण रक्खो और महान् कल्याण के भागी बनो।

१३

कहाँ से कहाँ ?

रे जीवा ! विमल जिनेश्वर सेविए।

भगवान् विमलनाथ की यह प्रार्थना है। परमात्मा की सच्ची प्रार्थना करने वालों के हृदय में जब भावोद्रेक होता है और अन्य जीवों के कल्याण की कामना उद्‌भूत होती है तब वह अपनी प्रार्थना को शब्दों के साचे में ढाल देते हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि भावना जब बहुत प्रबल हो उठती है तो वह शब्दों के रूप में बाहर फूट पड़ती है और उससे असख्य प्राणियों का हित हो जाता है।

यह कहना कठिन है कि सब प्रार्थना करने वालों के मन में क्या है, लेकिन बाहर प्रकट किये हुए भावों से जो अनुमान होता है, वह यही कि उनके मन में भी अच्छे ही भाव होंगे और हृदय में ज्योति होगी। चाहे उनके शब्द चमत्कार-जनक न हों, उनकी भाषा में शाब्दिक सौन्दर्य न हो और छन्दशास्त्र का भी उन्होंने अनुसरण न किया हो फिर भी उनके भाव अनूठे होते हैं। वे कहते हैं-प्रभो ! मेरे हृदय में जो प्रेम है, वह या तो मैं जानता हूँ या तू जानता है। इस प्रकार निरपेक्ष भाव से—अनन्य प्रेम से

जो प्रार्थना की जाती है, उसमें गजब की शक्ति होती है।

परमात्मा की प्रार्थना की व्याख्या करना सुवर्ण का सिंगार करने के समान है, फिर भी कुछ न कुछ करना ही होता है। सुवर्ण में सौन्दर्य तो स्वाभाविक है, लेकिन उसे उपयोगी बनाने के लिए सुनार को उसके गहने बनाने ही पड़ते हैं। फूल में सुगन्ध, सौन्दर्य और सुकुमारता स्वाभाविक है, फिर भी मालाकार उसे हार में गूंथता है। इसी प्रकार प्रार्थना स्वयं सुन्दर है—गुण सम्पन्न है, लेकिन उसे सब के लिए उपयोगी बनाने की दृष्टि से कुछ कहना पड़ता है।

प्रार्थना की जो कड़ियाँ बोली गई हैं, उनमें अपने पूर्व चरित का वर्णन आया है। उनमें यह बतलाया गया है कि—हे आत्मा! तुझे देखना चाहिए कि पहले तू कौन था, कहाँ था, और अब कहाँ आया है? अब तेरा कैसा विकास हुआ है—तू किस दर्जे पर चढ़ा है? धीरे-धीरे तू ऊँचा चढ गया है। अब जरा विशेष सावधान हो। ऐसा न हो कि शिखर के समीप पहुँच कर फिर गिर पड़ो। ऊपर चढना तो अच्छा है, मगर उसी दशा में जब नीचे न गिरो। ऊपर चढ़कर नीचे गिरने की दशा में अधिक दुःख होता है।

हम लोग किस स्थिति से चलकर किस स्थिति पर पहुँचे हैं यह बात अर्हन्त भगवत ने बतलाई है और शास्त्र में इसका उल्लेख है। शास्त्र गंभीर हैं। सब लोग उसे नहीं समझ सकते। अतएव शास्त्र में कही हुई वह बातें सरल भाषा में, प्रार्थना की कड़ियों द्वारा प्रकट की गई हैं लोक में बलवान् की खुराक कुछ और होती है तथा निर्बल की खुराक और ही। निर्बल को उसी के अनुरूप

खुराक दी जाती है। प्रार्थना में वही बात सरल करके बतलाई गई है, जो भगवान् ने गौतम स्वामी से कही थी, जिससे सब सरलता पूर्वक समझ लें।

अपनी पुरातन स्थिति पर विचार करो कि अपनी स्थिति पहले कैसी थी? प्रभो! मैं पागलों में भी पागल था। अब मेरी आत्मा में जो ज्ञान हुआ है, उससे मैं समझ पाया हूँ कि मैंने कितनी स्थितियाँ पार की हैं और अब इस स्थिति में आया हूँ। एक समय मैं निगोद में निवास करता था, निगोद में ऐसे जीव हैं जो आज तक कभी एकेन्द्रिय पर्याय छोड़कर द्वीन्द्रिय पर्याय भी नहीं पा सके हैं।

मित्रो! अपनी पूर्वावस्था पर विचार करो। इससे अनेक लाभ होंगे। प्रथम यह है कि आपको अपनी विकासशील शक्ति पर भरोसा होगा और दूसरे आप अपनी मौजूदा स्थिति का महत्त्व भलीभाँति समझ सकेंगे। तीसरे पूर्वावस्था पर विचार किये बिना परमात्मा की प्रार्थना भी यथावत् नहीं हो सकती। आप यह न समझलो कि हम पहले कहीं नहीं थे और मा के पेट से नये ही उत्पन्न हो गये हैं। आप अपनी अनादि और अनन्त सत्ता पर ध्यान दीजिये।

हे आत्मन्! तेरा ननिहाल निगोद में है। तेरे साथ जनमने और मरने वाले तेरे अनेक साथी अब तक भी वहाँ हैं। लेकिन न जाने किस पुण्य के प्रताप से तू उस अवस्था से बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक आ पहुँचा है। एक वह दिन भी था, जब एक समय में अठारह बार जनमना-मरना पड़ता था, मगर कौन-सी स्थिति जागी और कैसे क्या हुआ कि तेरा उत्थान हो गया? यह ज्ञानी ही जानते

है। तथापि तेरा महान् उत्थान हुआ है और तू इस स्थिति पर आ पहुँचा है कि तुझे विवेक की प्राप्ति हुई—ज्ञान मिला है। फिर क्या यहाँ से नीचे जाएगा? अगर ऐसा हो तो ज्ञान की प्रशंसा की जाय या अज्ञान की? अतएव तुझे देखना चाहिए कि ज्ञान पाकर तू क्या करता है? तू अपनी असलियत को—स्वरूप को भूल रहा है और वाहियात वस्तुओं का लालची बन रहा है। किसी समय निगोद का निवासी तू निकास पाते-पाते यहाँ तक आया है। तुझे मानव शरीर मिला है, जो संसार का समस्त वैभव देने पर भी नहीं मिल सकता। सम्पूर्ण संसार की विभूति एकत्र की जाय और उसके बदले यह स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय तो क्या ऐसा होना संभव है? नहीं। त्रैलोक्य के राज्य के बदले भी कोई एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय नहीं बन सकता। इतनी अनमोल स्थिति तुझे मिली है। इस स्थिति की महिमा समझ और ऐसा प्रयत्न कर, कि अब पीछे लौटने का समय न आवे। साथ ही अपनी उस पहली स्थिति को भी स्मरण रख, जिसके विषय में कहा जाता है—

> काल अनन्ता तिहां रह्यो,
>
> ते दुख आगमथी सम्हाल रे जीवा।

जिस काल की गिनती करना भी असम्भव है, जो अनन्त कहलाता है, उतने काल तक तू वहाँ रहा। फिर उसे आज कैसे भूल रहा है? उस पर विचार क्यों नहीं करता? और आगे ही आगे बढ़ने का दृढ़ संकल्प और कार्य करने में किस लिए हिचक रहा है?

प्रश्न हो सकता है—अगर वह काल अनन्त था तो उस

का अन्त कैसे आ गया ? उत्तर यह है कि-एक अनन्त तो ऐसा होता है कि जिसका अन्त कभी आ ही नहीं सकता, दूसरे अनन्त का अन्त तो आ जाता है, लेकिन अन्त कब आएगा, यह बात ज्ञानी ही जानते हैं। एक अनन्त वह भी है, जिसका अन्त आता है फिर भी उसकी प्रचुरता के कारण गिनती नहीं हो सकती। दांत की चूड़ी को सभी देखते हैं लेकिन यह नहीं बतलाया जा सकता कि उसका मुँह कहाँ है ? उसके आरम्भ और अन्त का पता नहीं लगता। इसी प्रकार उस काल का अन्त ज्ञानियों ने तो देखा था, लेकिन उसकी गणना नहीं हो सकने के कारण उसे अनन्त कहा है।

हे जीव ! उस निगोद के निबिड़तर अन्धकार से परिपूर्ण कारागार में न मालूम किस भवस्थिति का उदय हुआ, जिससे तू साधारण निगोद से निकल कर प्रत्येक में आया। उसके बाद फिर पुण्य में वृद्धि हुई और तू एकेन्द्रिय दशा त्याग कर द्वीन्द्रिय दशा प्राप्त कर सका। तत्पश्चात् क्रमश अनन्त पुण्य की वृद्धि होने पर तू मनुष्य हुआ। अनन्त पुण्य के प्रभाव से मनुष्य होने पर तुझे जो जीभ मिली है, उसे तू किस काम में लगा रहा है ? उसके द्वारा तू क्या फल ले रहा है ? क्या यह भाग्यशाली जिह्वा तुझे परनिन्दा, मिथ्याभाषण, कटुक वचन अथवा उत्पात करने कराने के लिए मिली है ? अगर नहीं, तो क्या तुझ से यह आशा करूं कि तू झूठ नहीं बोलेगा।

लोगों में आज दया का जितना विचार है, उतना सत्य का विचार नहीं है। सत्य की ओर ध्यान देने की बड़ी आवश्यकता है।

आपको एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि अनेक पर्यायें पार करने के

पश्चात् मनुष्य भव मिला है। अपना अहोभाग्य समझिए कि आप श्रेष्ठ धर्म और उसके उपदेशक त्यागी गुरु भी प्राप्त कर सके हैं। मगर इसकी प्राप्ति का लाभ क्या है ? यही कि जो कुछ मिला है, उसे अच्छे काम में लगाया जाय। बुरे काम में न लगाया जाय। असत्य न बोले, किसी को बुरी नजर से न देखे, किसी की निन्दा बुराई न सुने। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय को बुरे काम से बचा कर परमात्मा की प्रार्थना में लगा दिया जाय तो मनुष्य-जन्म सफल हो सकता है। इसीलिए कहा है—

रे जीवा ! विमल जिनेश्वर सेविये,
थारी बुद्धि निर्मल होय जाय रे जीवा।

विषय – कषाय विचार ने,
तू तो मोहनि कर्म खपाय रे जीवा ॥

रे चिदानन्द ! अब देखता क्या है ? जिन प्रभु ने तुझे तेरी भवस्थिति बतलाई है, उसकी सेवा में तन्मय हो जा। उसकी सेवा से तुझे क्या मिलेगा ? संसार के लोगों की यह हालत है कि किसी भी काम में लोभ या भय के बिना प्रवृत्त नहीं होते। विचार करो कि जो भवस्थिति तू ने सुनी है, उससे बड़ा भय या लोभ और क्या हो सकता है ? भय यह कि कहीं ऊँची स्थिति से गिर कर नीचे स्थिति में न पड़ जाऊँ। इस प्रकार का भय रखने से तुझमें परमात्मा की सेवा करने की रुचि उत्पन्न होगी।

यों तो भय और लोभ — दोनों ही बुरे हैं, लेकिन आज जो अप्रशस्त लोभ और भय कर रहा है, उन्हें पलट देने से वह भी लाभप्रद हो सकते हैं। जन्म-मरण आदि का भय रक्खो और

जन्म-मरण से बचने का लोभ रक्खो तो अच्छा ही होगा।

क्या आपको मरने का भय नहीं है ? जीवन का बड़े से बड़ा खतरा मृत्यु है। समस्त पृथ्वी-मण्डल को अपनी भृकुटि से भयभीत कर देने वाले और अपनी उंगलियों पर नचाने वाले वीर भी मृत्यु के स्मरण मात्र से कांप उठते हैं। आकाश में स्वच्छन्द विहार करने वाला और वक्षस्थल को चीर कर उसमें किलोलें करने वाला, बिजली जैसी अद्भुत शक्ति को अपने आधीन बनाने वाला मनुष्य भी मृत्यु के सामने दीन बन जाता है। मृत्यु के आगमन की सम्भावना से ही आधा मर जाता है। जब एक भव के मरण का भी इतना भय लगता है तो फिर बारम्बार जनमने मरने का भय क्यों नहीं लगता ? इस भव को दुःख रूप क्यों नहीं मानते ? एक बार मार कर धन छीन लेने वाले का भी आपको भय होता है तो फिर बार-बार अपने सर्वस्व के लुटने का भय क्यों नहीं है ? अतएव पारमार्थिक विचारों को सामने रख कर आप पाप से डरो। पाप से डरोगे तो अन्य समस्त डर आपसे ही डरने लगेंगे। आप पूरी तरह निडर हो जाओगे। कोई भी भय आपके पास न फटक सकेगा।

मगर लोगों की चाल उलटी हो रही है। वे पाप से डरते नहीं, धर्म से डरते हैं। सोचते हैं—धर्म का यह काम करेंगे तो कहीं ऐसा न हो जाय ! धर्म स्थानक में जाने पर कोई किसी किस्म की टीका न कर बैठे ! कई लोगों को वेश्या के नाच-गान में जाते समय तो भय रहता नहीं केवल सत्संग में जाते समय भय लगता है ! इसीलिए ज्ञानी कहते हैं कि—'हे जीव ! पाप से डर !' मृगापुत्र ने अपनी माता से कहा था—

जरामरणकांतारे चाउरंते भयागरे ।
नहीं मोड़ा भिम्माणि जम्माणि मरणाणि य ॥

मृगापुत्र ने कहा—'हे माता ! इस चार-गति रूप भय उत्पन्न करने वाले जरा-मरण रूपी जंगल में मुझे डर लगता है। इसलिए इन्द्रियभोगों में मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। तू मुझे विषयों में प्रवृत्त करना चाहती है लेकिन मुझ से यह कैसे हो सकता है ? मां मुझ से यह नहीं होगा।

ऐसा कहकर उन्होंने जन्म-मरण से भय और विषयों में प्रवृत्त होने से संकोच किया था, लेकिन आजकल के अनेक भाई शंका करने योग्य कार्य में शंका न करके शंका न करने योग्य कार्य में शंका करते हैं। पारधी लोग जंगल में एक तरफ तो हिरन को फँसाने के लिए जाल लगा देते हैं। और दूसरी तरफ हथियार लिए हुए आदमियों के चित्र लगा देते हैं। हिरन चित्र में हथियार लिए मनुष्यों को देखकर डरता है और सोचता है—यह मुझे मार डालेंगे ! इस प्रकार भयभीत होकर वह जाल की तरफ ही भागता है और जाल में फँस जाता है। वह न डरने योग्य जगह में डरता है और जहाँ डरना चाहिए वहाँ डरता नहीं है। चित्र के मनुष्य तो हिरन को मारते नहीं हैं। वे तो सिर्फ भयभीत करके जाल में फसाने के लिए हैं। मूर्ख मृग इस वास्तविकता को नहीं जानता। वह चित्र-लिखित मनुष्यों से डर कर जाल में फस जाता है। यही स्थिति संसार के लोगों की है।

वह मृग आपसे राय ले तो आप क्या राय देंगे ? आप कहेंगे—'पागल ! चित्र से क्या डरता है, जाल से डर।' और हिरण के भोलेपन पर आपको दया आएगी। जिस प्रकार हिरन

पर आपको दया आती है, उसी प्रकार ज्ञानियों को आप पर दया आती है। जैसे—मृग चित्र से डर कर जाल में फस जाता है, उसी प्रकार संसारी जीव भी भूल करता है और जिससे डरना चाहिए उससे न डर कर, जिससे नहीं डरना चाहिए, उसीसे डरता है।

मनुष्य को डरना किससे चाहिये? पापों से! लेकिन वह पापों से न डर कर जैसे आंखमिचौनी खेलने लगता है। वह कहता है—हम पाप को क्या जानें? हम तो अमुक वस्तु सीधी तैयार हुई लेते हैं। इस तरह जैसे मूर्ख मृग प्रत्यक्ष में चित्र के मनुष्य को हथियार लिये हुए देख कर भय खाता है और परोक्ष में फैले हुए जाल से निर्भय रहता है, वैसे ही मनुष्य सिर्फ प्रत्यक्ष की निर्दोषता देखता है मगर परोक्ष के महा भयंकर पापों की परवाह नहीं करता। प्रत्यक्ष का भय मानते हैं मगर परोक्ष का भय नहीं मनते।

मतलब यह है कि जन्म-जरा-मरण का भय मानकर परमात्मा की प्रार्थना में लगो और विलासमय जीवन त्याग कर सादगी धारण करो। झूठ-कपट आदि अनेक पापों से बचने का उपाय सादगी ही है। जो मनुष्य सादगी में अपना निर्वाह करेगा, वह अल्प-सन्तोषी होगा। उसकी आवश्यकताएँ डाकिन की भाँति उस पर सवार होंगी। परिणाम यह होगा कि वह महापापों में प्रवृत्ति नहीं करेगा। इसके विपरीत जिसके जीवन में विलास का दौरदौरा होगा, उसकी आवश्यकतायें नित्य नयी-नयी आकृति धारण करके उसे असन्तुष्ट बनाएगी और असन्तोष पाप में प्रवृत्त करेगा।

आपको सादगी धारण करने का उपदेश क्यों दिया जाता है ? दरअसल बात यह है कि जिस काल में जो बात हानि करने वाली होती है, उस काल के उपदेशक उसे जानते हुए भी उसका गोपन करें—उसे छिपावें और लोगों को उसकी हानियाँ न समझावें तो उन हानियों का उत्तरदायित्व उपदेशक पर रह जाता है। रिश्वत के आगे सिर झुका कर हाकिम अगर सोचने लगे कि—कोई मरे या जिये, हमें इससे क्या मतलब है। तो ऐसे हाकिम से न्याय की क्या आशा की जा सकती है ? ऐसे घूसखोर हाकिम न डरने के स्थान पर डर बतलाकर डराएंगे और जो डरने का स्थान होगा, वहाँ न डरने के लिए कह कर उसी प्रकार फँसा देंगे, जैसे जाल में मृग फँसा दिया जाता है।

ग्रंथकारों ने कहा है—तीन से तीन प्रकार के लाभ होते हैं। लेकिन वे तीन अगर अपनी जिम्मेदारी नहीं निभाते हैं तो उनसे तीन ही प्रकार की हानि होती है। कहा है—

सचिव वैद्य गुरु तीन जो, प्रिय बोलहिं भय आश।
राज धर्म तन तीन कर, होय वेग ही नाश ॥

राजा के मंत्री से वैद्य से और धर्मगुरु से संसार का बहुत लाभ होता है। लेकिन किसी प्रकार के भय अथवा लोभ के कारण मीठा बोलते हैं—सत्य नहीं कहते— तो इनसे हानि होती है—राज्य का, शरीर का और धर्म का शीघ्र-ही नाश हो जाता है।

राज्य का प्रयोजन जनता की रक्षा करना है। राज्य के बिना प्रजा की सुरक्षा होना सम्भव नहीं है। अगर संसार में

अराजकता फैल जाय तो पृथ्वी पर हाहाकार मच जायगा। मनुष्य में अभी तक पाशविकता विद्यमान है और वह इस योग्य नहीं कि उसे पूर्ण रूप से निरंकुश रहने दिया जाय। कम से कम कर्मभूमि के काल में तो यह सम्भव नहीं है। इसीलिए प्रजा के संरक्षण के लिए राज्य-व्यवस्था की गई है। अन्याय को मिटाना और न्याय की स्थापना करना राज्यसभा का काम है।

वैद्य भी प्रजा के लिए बहुत उपयोगी है। प्रजा के स्वास्थ्य का संरक्षण करना, स्वास्थ्यकर सिद्धान्तों का प्रचार करना, अस्वास्थ्य के कारणों को हटाना, आहार-व्यवहार की समयोचित शिक्षा देना, रोगों का प्रचार रोकना और रोगियों का उपचार करना इत्यादि वैद्य के कर्त्तव्य हैं। इस प्रकार वैद्य भी प्रजा की रक्षा के लिए है।

तीसरे धर्मगुरु है। धर्म का शरण ग्रहण कर लेने पर किसी प्रकार का भय रहता ही नहीं है। राजा और वैद्य एक ही भव का दु.ख मिटाते हैं और वह भी केवल बाहरी दु.ख मिटा सकते हैं, मगर धर्मगुरु भव-भव का रोग नष्ट कर देते हैं। धर्मगुरु दु.ख को ही नहीं वरन् दु.ख के बीज को भी ध्वस्त कर देते हैं। सदा कल्याण करने वाले धर्म की भावना लोगों में भरने का काम धर्मगुरु का है। धर्मगुरु सब प्रकार का भय मिटा कर मनुष्य को शाश्वत निर्भयता प्रदान करते हैं।

इस प्रकार इन तीन से तीन प्रकार की रक्षा होती है, मगर इन तीन से हानि भी होती है। राजमंत्री अगर बिना पैंदी का लोटा हो जाय—जिधर फिराओ उधर ही फिर जाय, लोभी हो और वैद्य तथा गुरु भी लोभी हों, तो यही लाभ करने वाले तीनों

हानि करने वाले बन जाते हैं। राजमंत्री अपने पवित्र उत्तरदायित्व को भूल जाय और लोभ-लालच में पड़ कर अपने स्वार्थ को ही कसौटी बना कर निर्णय करे तो देश में न्याय-नीति कायम नहीं रह सकती। नीति की रक्षा के लिए ही राज्यव्यवस्था है। जनता में अनीति फैलने से रोकना और सबल लोग निर्बल को न सतावें—इस बात का ध्यान रखना, जनता के धन और जीवन की रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य है। अगर राज्य के संचालक मंत्री स्वयं लालची हो जाएँगे और प्रजा के हित के बदले अपने व्यक्तिगत हित और सुख की ही चिन्ता करेंगे तो क्या प्रजा को हानि नहीं पहुँचेगी ? अवश्य।

वैद्य के पास एक रोगी आता है। रोगी कहता है—'मुझे अमुक रोग पीड़ित कर रहा है। कोई अच्छी-सी औषध दीजिए। मगर मुझ से पथ्य का पालन नहीं होता। मिर्च अधिक न हो तो मुझसे रोटी नहीं खाई जाती। अचार खटाई आदि भी मुझ से छूट नहीं सकते।' वैद्य समझता है कि तेल और खटाई का त्याग किये बिना मेरी औषध लाभकारक नहीं होगी। मगर ऐसा कहने से रोगी कहीं हाथ से चला गया तो ? हाथ में आई चिड़िया को छोड़ देना ठीक नहीं। इस प्रकार विचार कर वह रोगी से कहता है—'परवाह नहीं, आप कुछ भी खाइए, मेरी दवाई से आपका रोग, पथ्य पालन किये बिना भी मिट जाएगा।' ऐसे स्वार्थी वैद्य से जनता की क्या भलाई हो सकती है ? जो वैद्य फैलने में ही अपना हित समझता है, वह मार्गभ्रष्ट वैद्य है और वह अपना कर्त्तव्य नहीं समझता। वह जनता का रक्षक नहीं, भक्षक है। ऐसे वैद्यों से जनता की जितनी हानि होती है, उतनी रोगों से भी कदाचित् न होगी।

आजकल वैद्यों, डाक्टरों और हकीमों की संख्या कितनी बढ़ गई है ? वे चाहे दवा में मछली का तेल आदि कुछ भी अपवित्र चीज क्यों न देते हों और लोग कुछ भी विचार किये विना क्यों न पी लेते हों लेकिन इतनी दवाओं और चिकित्सकों के बढ़ जाने पर भी रोग कम हुए हैं या बढे हैं ? अब तो ऐसे-ऐसे विचित्र रोग पैदा हुए है, जिनका नाम भी हमारे पूर्वज नहीं जानते थे। आधुनिक औषधों से रोग नष्ट नहीं किये जाते, केवल दबाये जाते हैं। एक वार दबाये हुए रोग कालान्तर में भयकर रूप से फूट निकलते ह।

तीसरे धर्मगुरु है। जो धर्मगुरु मान-प्रतिष्ठा के लोभ में पड़े ह, वे सच्चा मार्ग कब बता सकते हैं ऐसे गुरुओं के विषय मे कहा है—

जे जनमे कलिकाल कराला, कर तब वायस वेश मराला।
वंचक भक्त कहाइ राम के, किंकर कंचन कोह काम के॥

तुलसीदासजी कहते हैं—कलिकाल में ऐसे भी गुरु जनमे हैं, जो काम तो कौए के करते हैं और वेष हस का रखते हैं। कह सकते हो कि ऐसे गुरुओं की पहचान क्या है ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि परमात्मा के नाम पर फकीरी ली है, महात्माओं का वेष पहना है, फिर भी धन के दास हैं, कचन के किंकर हैं, क्रोध और काम के गुलाम हैं, तो वे कुगुरु किसी का क्या तारेंगे ? कहा भी है—

लोभी गुरु तारे नहीं, तिरे सो तारणहार।
जो तूं तिरियो चाहे तो निर्लोभी गुरु धार॥

यह बात आप भी जानते हैं। लेकिन जानना मात्र किस काम का है, अगर उसके अनुसार व्यवहार न किया जाय? आप किसी को गुरु बनाते हैं सो किसलिए? आत्मशुद्धि का पथ प्राप्त करने के लिए, अपने मोह और अज्ञान को मिटाने के लिए या सट्टे के आँक जानने के लिए? अगर आँक पूछने के लिए गुरु बनाते हो तो—

गुरु लोभी शिष्य लालची, हिलमिल खेलें दाव।
दोनों डूबे बापड़े, चढ़ पत्थर की नाव॥

आप अपने दाव में रहे और गुरुजी अपना लोभ पूरा करने के चक्कर में रहे तो न वे स्वयं तिरेंगे, न आपको तार सकेंगे। पत्थर की नाव पर चढ़ने वालों की जो दशा होती है, वही दशा उन गुरु-चेलों की होगी। जिस महात्मा ने लोभ को जीत लिया है, जिसके मन में तृण और मणि समान प्रतीत होते हैं, काम और क्रोध को जो पास नहीं फटकने देता, वह वीतराग गुरु स्वयं तिर सकता है और दूसरों को तार सकता है। इस सत्य को न समझ कर कई भाई कहते हैं।

वाना देख नफा ले भाई जिसके अवगुण उसके माहिं।

यह तो 'सब धान बाईस पसेरी' वाली लोकोक्ति हुई। इस प्रकार सब को समान मान लेने से कभी धर्मगुरु द्वारा सच्चा लाभ हो सकता है? जो लोग केवल वेश के पुजारी हैं उनसे पूछो कि क्या महात्मा के वेश में ठग नहीं रहते? क्या पुलिस के भेष में डाकू नहीं होते? अगर होते हैं तो धर्मगुरु की परीक्षा की आवश्यकता है या नहीं? परीक्षा किये बिना किस प्रकार धर्मगुरु की वास्तविकता मालूम हो सकती है?

जिस धर्मगुरु के चरणों में अपना जीवन समर्पण करना चाहते हो, जिसे प्रकाशस्तम्भ मान कर निश्शंक आगे बढ़ना चाहते हो, जिसे भव-भव का मार्गप्रदर्शक बना रहे हो और जिसकी वाणी के अनुसार अपनी जीवनसाधना प्रारम्भ करना चाहते हो, उसकी परीक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं समझते !

आचार्य, साधुओं की निगरानी करने वाला और आप लोगों का एजेंट है। आप स्वयं किसी वस्तु की परीक्षा नहीं कर सकते, तब दलाल की मदद लेते हो, उसी प्रकार साधु की पहचान में आचार्य सहायता देते हैं। कोई साधु अपने संयम मार्ग से च्युत न हो, किसी में आचार की शिथिलता न आवे, इस बात की निगरानी करना आचार्य का कर्त्तव्य है। आचार्य आपको यह बतलाता है कि अमुक साधु अच्छा है या नहीं ? लेकिन किसी साधु को संयममार्ग से विरुद्ध वर्त्ताव करते देखकर आचार्य यह घोषणा करे कि यह साधु ठीक नहीं है, और आप ही वैयक्तिक आकर्षक के कारण बुरा मानें और उसका साथ दें तो आपका यह कार्य आचार्य के और धर्म के काम में बाधा डालना नहीं है ?

वही धर्मगुरु सच्ची प्ररूपणा करेंगे और सच्चा मार्ग बतलाएँगे, जो निर्लोभ होंगे। जिन्हें मान की कामना है, और प्रतिष्ठा-प्राप्ति का भूत जिनके सिर पर सवार है, जिनका अन्तःकरण किसी भी प्रकार के लोभ लालच से भरपूर है, उनसे सच्ची प्ररूपणा नहीं हो सकती। अतएव प्रभु से यह प्रार्थना करो—'परमात्मन् ! मैं इस उच्च और प्रचुर पुण्य से प्राप्त होने वाली स्थिति पर आ पहुँचा हूँ। अतएव मैं अपनी भावना और अधिक अच्छी बनाना

चाहता हूँ। मैं सत्य का उपासक बनना चाहता हूँ। प्रभो ! मुझे ऐसी सद्बुद्धि दीजिए कि मैं मलीन विचारों से अपनी रक्षा कर सकूँ।' इस प्रकार की भावना रखने से आप सत्यपरायण बनेंगे। आपको सच्चे गुरुओं का सत्संग मिलेगा। जो किसी भी पद को पाकर अन्याय नहीं करता, अभिमान नहीं करता, वरन् उसे जगत्कल्याण का साधन बना लेता है और पाप से बचने का निरन्तर प्रयास करता है, उसी ने अपनी स्थिति समझी है।

समयानुसार जो बात हानिप्रद है, वह यदि धर्मगुरु आपको नहीं बतलाता है और उस हानि करने वाली बात से बचने का उपदेश नहीं देता है तो वह अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण नहीं करता है। ऐसे धर्मगुरू से आपको विशेष लाभ नहीं हो सकता। इसीलिए मैं बार-बार कहता हूँ कि सब अनर्थों का मूल विलासिता है। विलासिता के वश होने के कारण अच्छी वस्तु बुरी लगती है और बुरी वस्तु अच्छी लगती है।

कल्पना कीजिये—एक सेठ से उसकी पत्नी कहती है—'आप जैसा भी भोजन चाहेंगे, मैं बना कर आपको खिलाऊँगी। मैं पाकशास्त्र के अनुसार अच्छा और उत्तम भोजन बनाऊँगी। आप बाजार का भोजन करके शरीर और पैसों का नाश क्यों करते हैं ?' सेठानी की यह बात सुनकर सेठ कहता है—'बस, चुप रहो। जैसी रबड़ी और जैसा कलाकन्द बाजार में बन सकता है, तुम नहीं बना सकतीं। इसके सिवाय बाजार की चीजों में जो आनन्द मिलता है, वह आनन्द तुम्हारी बनाई चीजों में कहाँ मिल सकता है ?

आप ऐसा कहने वाले सेठ को क्या कहेंगे ? क्या आप

यह नहीं कहेंगे कि जिनके गुरु मास-मास-खमण की तपस्या करते हैं। उनके शिष्य इतने चटोरे ? चटोरा बनने के साथ ही यदि कोई यह सिद्धान्त आर बतलावे कि सीधी चीज में अपने को आरभ नहीं करना पड़ता और घर में बनी चीज में आरभ होता है, इसलिए घर में बनी हुई चीज की अपेक्षा सीधी चीज अच्छी है तो ऐसे सिद्धान्त वाले को घर की कढ़ी बाजार की रबड़ी के आगे कब अच्छी लग सकती है।

भगवान् ने केवल आरभ का ही विचार नहीं किया है किन्तु शारीरिक और मानसिक क्षति का भी विचार किया है। हम लोगों को भी इन बातों पर विचार करना चाहिए। बाहर की पतली रोटी भी घर की मोटी रोटी की समता नहीं कर सकती। इसी तरह बाहर के पतले कपड़े घर के मोटे कपड़े का मुकाबला नहीं कर सकते। पहले जोधपुर में यह प्रथा थी कि कोई व्यक्ति खादी की टुकडी की अगी पहने बिना राजमहल में प्रवेश नहीं कर सकता था ऐसी अगी पहनने पर ही दरबार में घुस सकता था। महाराज प्रतापसिंह इस बात की बहुत निगरानी रखते थे। अगर कोई पतला कपड़ा पहनता तो उसकी टीका की जाती थी। उसे लज्जित कर दिया जाता था और कभी-कभी तो महल से बाहर निकाल दिया जाता था। इस प्रकार पहले के लोग अपने यहाँ की बनी खादी ही पसद करते थे। मगर आजकल क्या दशा है ? आज लोग बाहर का आरभ ही देखते हैं और समझते हैं कि-हम तो सीधा लेते हैं, हमें क्या है ? इस सीधे के पीछे कितना घोर आरभ समारम्भ होता है, इसे देखने की आवश्यकता उन्हें प्रतीत नहीं होती। खादी से मानसिक निर्मलता रहती है

और अन्य अनेक लाभों के साथ महारंभ से भी बचाव होता है।

पहले की स्त्रियों में भी सादगी के कारण बड़ी निर्मलता रहती थी। उनके चित्त में निर्मलता रहती थी, इसलिए वे पुरुषों को भी निर्मलता ही देती थीं। जिसके पास जो होता है, वह दूसरों को वही दे सकता है। कहा भी है—

> जगति विदितमेतद् दीयते विद्यमानम्।
> न हि शशकविषाणं कोऽपि कस्मै ददाति॥

मौजूद चीज ही दी जाती है, यह बात तो संसार-प्रसिद्ध है। खरगोश का सींग कौन किसे दे सकता है?

जब स्त्रियों में शुचिता और निर्मलता थी तो वह पुरुषों को भी शुचिता और निर्मलता प्रदान कर सकती थीं। लेकिन आज-कल पुरुषों ने स्त्रियों को जिस स्थिति में डाल दिया है, उसके कारण स्वयं पुरुषों की भी दशा बिगड़ रही है।

सारांश यह है कि इन सब बातों को समझाना गुरु का कर्त्तव्य है। हानिकारक बातों को गोपन कर जाना गुरु का कर्त्तव्य नहीं है। गुरुपद के साथ जो उत्तरदायित्व आता है, उसका निर्वाह गुरु को करना ही चाहिए—बिना किये उसका छुटकारा नहीं। उसकी बात मानना या न मानना दूसरी बात है। आज आपके समाज में जैसे त्यागी विद्यमान हैं, वैसे त्यागी अन्यत्र मिलना कठिन है। ऐसा होते हुए भी आज समाज की अवनति क्यों है? त्याग के आदर्श वृक्ष के नीचे बैठकर भी आप का समाज अगर उन्नत न होगा तो कब होगा?

पुरुष, स्त्रियों को अबला कहते हैं। स्त्रियाँ भी अपने को अबला मानने लगी हैं। लेकिन स्त्रियों को अबला कहने वाला पुरुषवर्ग कितना सबल है? दूसरों को अबला बनाने वाला स्वयं भी सबल नहीं रह सकता। जो वास्तव में सबल होगा वह दूसरे को निर्बल न बनायेगा।

महिलावर्ग के प्रति पुरुषवर्ग ने जो व्यवहार किया, उसका फल पुरुषवर्ग को भी भोगना पड़ा। महिलाओं को, जो साक्षात् शक्ति-स्वरूपिणी हैं, अबला बनाने के अभिशाप में पुरुषवर्ग स्वयं अबल बन गये। सियारनी से कभी सिंह उत्पन्न होते देखे गये हैं? नहीं। तो फिर अबला से सबल सपूत किस प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं?

किसी समाचार पत्र में एक सज्जन के प्रश्न का उत्तर प्रकाशित हुआ था। प्रश्न यह था कि—भारत सरीखा धर्म की भावना वाला देश भी आज इतना अवनत क्यों है? भारतवर्ष में त्यागियों की संख्या भी काफी है, फिर भारत की इस हीन दशा का क्या कारण है? आज भारत को अवनत क्यों कहा जाता है?

इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया कि—आपको भारत का जो पतन दिखाई दे रहा है, वह भारत का नहीं है, किन्तु बाहर से आया है। बाहर से आये हुए पतन को हमने अपना लिया, इस कारण आपको भारत का पतन दिखाई देता है। उदाहरणार्थ—किसी जगह टिड्डियों का दल आया। उस दल में जिन टिड्डियों के पंख थे, वे उड़ कर आग में गिर गई और जल मरीं। उन्हें अपने पंखों के उपयोग का विवेक नहीं रहा। बिना पंख की

जो टिड्डियाँ रह गईं, वह उड़ न सकीं और आग में जलने से बच गईं। अब देखना चाहिए कि आग में जलने और न जलने का कारण पंख होना और नहीं होना है या विवेक का होना और न होना? पंख का होना कोई बुराई नहीं थी, लेकिन विवेक के अभाव में उन्हें जलना पड़ा।

इसी प्रकार भारत की धर्मभावना पंख के समान थी। लेकिन विवेक न होने के कारण भारतीय ऐसी दिशा में गये, जहाँ जाकर वे गिर गये। धर्मभावना होने पर भी विवेक के अभाव से भारतियों को भारत की रहन-सहन, भारत की सादगी, भाषा और भारतीय भेष पसन्द नहीं है। वे स्वयं इनके दुश्मन बने हुए हैं। इस प्रकार हम भारतीय अपने पंख के बल से फैशन की आग में जा गिरे। जिसमें जोश होता है वही आगे बढ़ता है। इस कथन के अनुसार हम में पंख बल था, अतएव हम फैशन की आग में सब से ज्यादा गिरे। दूसरे देश वाले हमारे बराबर नहीं गिरे। जिसमें बल नहीं, वह आगे क्या बढ़ेगा? पशु कभी आगे नहीं बढ़ता। इस प्रकार दूसरे देश वाले तो पशु की भाँति अपने देश के रहन-सहन में ही रहे, उन्हें अपने-अपने देश की ही भाषा-भूषा पसन्द रही, लेकिन हम भारतीय अपने पंखबल से आगे दौड़ते रहे, इससे विदेशी फैशन के जाल में फस गये। यही कारण है कि आपको भारत का पतन मालूम हो रहा है।

फैशन में फस कर अपने देश की अवनति करना हिंसा में सम्मिलित है या अहिंसा में? आप दया को मानते हैं, दया का नाम लेते हैं लेकिन फैशन की फाँसी लगने से समाज किस

तरह नष्ट हो रहा है, इस ओर आपका ध्यान ही नहीं जाता। समाज पर आपको दया नहीं आती। यह दशा देखकर भी अगर आपकी आँखें नहीं खुलतीं, तो उन्हें खोलने का और क्या उपाय है ?

फैशन की फाँसी से ससार की क्या हानि हुई है और ससार का कितना बिगाड हुआ है, यह कहा नहीं जा सकता। इस प्रकार आप लोग जहाँ डरना चाहिए वहाँ तो डरते नहीं और जहाँ नहीं डरना चाहिए वहाँ डरते हैं। आपको खादी से डर लगता है। आप समझते हैं—इसमें देशी विदेशी का झगड़ा है। पुलिस भी खादी की टोपी वाले को देखकर डरती है और उस की जाँच-पड़ताल करती है। लेकिन जिसमें महान् हिंसा है, जो पराये देश का पहनावा है, उस हेट को लगाकर कोई आता है तो उसकी जांच पडताल की आवश्यकता नहीं समझी जाती। लोगों में इस प्रकार की भावना घुस रही है, फिर ऊपर से तुर्रा यह है कि हम दयाधर्मी हैं।

किसी समय मुसलमानों में भी विलासिता बढ़ गई थी। लेकिन उस समय के कवियों ने उन्हें अच्छी फटकार बताई है। मुसलमान इतने विलासी हो गये थे कि 'मौजी मुसलमान' कहलाने लगे थे। एक कवि उन्हें फटकारता हुआ कहता है —

सभी हैं आजिज यहां सयाने, खुदा की बातें खुदा ही जाने।
कोई गोटा कोई किनारा, पहन के नखरे दिखाते भारी।
न हुक्म रब का कोई मानें, खुदा की बातें खुदा ही जाने॥
हजारों अशरत लाखों नफरत, कहा के साहब रसूल उम्मत।

पड़े हैं सोये शराब खाने, खुदा की बातें खुदा ही जाने ॥
पुजारी मिलकर पुजारियों से, लहाजी मिलकर लहाजियों से ।
अक्ल के घोड़े लगे कुदाने, खुदा की बातें खुदा ही जाने ॥

कवि कहता है—लोग गोटा किनारी आदि लगाकर नखरे दिखाते हैं। इस प्रकार शायर को गोटा-किनारी से नफरत हो गई है। लेकिन उसे नफरत क्यों हो? जिसके पास पैसे हैं वह पहनता है। इसमें शायर (कवि) को अरुचि होने का क्या कारण है? बल्कि शास्त्र में तो कहा है कि इष्ट गंध, इष्ट रस और इष्ट स्पर्श आदि तो पुण्य से मिलते हैं? फिर कवि इनकी निन्दा क्यों करता है?

लोग यह प्रश्न कर सकते हैं। लेकिन क्या पुण्य, पाप बढाने के लिए है? लोग उसी को पुण्यशाली समझते हैं जो ज्यादा फैशन में डूबा रहता है। लेकिन जिन लोगों ने जरी की पगडी उतार कर खादी की टोपी पहनी है, उन्होंने आपकी समझ में पुण्य के कारण ऐसा किया है, अथवा उनका पाप उदय हो आया है? किस कारण उन्होंने जरी की पगडी छोड़ कर खादी की टोपी पहनी है? मित्रो! विवेक से काम लो। अगर तुम स्वयं फैशन के फन्दे से बाहर नहीं निकल सकते तो कम से कम उनकी निन्दा तो मत करो, जिन्होंने फैशन का मोह छोड कर स्वेच्छापूर्वक सादगी धारण की, जीवन को संयत बनाया और विलासिता का त्याग किया है।

'टिड्डी को जो पंख मिले थे, वह पुण्य से ही मिले थे। परन्तु जब उन पखों के कारण वह आग में जा गिरी तो पंख पुण्य-वर्धक कहाँ रहे? इसी प्रकार जरी, गोटा आदि पुण्य से मिले हैं,

यह सही है, लेकिन पुण्य से मिली हुई यह सामग्री अगर पाप में ले गई तो ? गोटा, किनारी आदि सामग्री भी तो परिग्रह में ही है, इसलिये क्या यही पाप का कारण नहीं बन सकती ?

आप अपनी गति की दिशा को देखो। दयाधर्मी कहलाते हो, अतएव दया के काम में आपको सब से आगे रहना चाहिए। मगर आप तो सब से पीछे रह रहे हैं। यह स्थिति क्या धर्म को बदनाम न कराएगी ? वह शायर भी यही कहता है कि गोटा-किनारी आदि पहन रक्खे हैं, लेकिन यह नहीं देखते कि खुदा का हुक्म क्या है और बस अपनी मनमानी करते हैं। ऐसी दशा में पुण्य से मिला हुआ गोटा-किनारी क्या पाप में ले जाने वाला नहीं हुआ ? फारसी के एक शायर दीवाने साहब ने कहा है.-

गैर हक़रा मिदे ही रह दर रहीम दिल चिरा।
मीक सीनर सफे हस्ती खते बातिल चिरा ॥

ऐ इसान ! तू अपने दिल के किले में हक, ईमान और धर्म के सिवा दूसरे को क्यों जगह देता है ? तू अपने दिल में हराम को जगह देता है और हक को जगह नहीं देता। तो क्या तेरा दिल हराम को जगह देने के लिए ही है ?

एक साहूकार ने एक बहुत अच्छा महल बनाया एक ओर अपने कार्यकर्त्ता द्वारा राजा एक दिन ठहरने के लिए वह महल मांग रहा है और दूसरी ओर बदबू का टोकरा लिए मेहतर आता है और महल में ठहरने के लिए जगह मागता है। तीसरी ओर बच्चे कहते हैं-हमें टट्टी जाना है, हम यहीं टट्टी फिरेंगे। इस प्रकार यह लोग मकान में बदबू फैलाना चाहते हैं। जिस महल को

राजा ने अपने ठहरने के लिए पसंद किया है, उसमें क्या इस प्रकार बदबू फैलने देना ठीक है? ऐसे समय में मकान का मालिक बदबू फैलाने वाले से यही कहेगा कि यहां से जल्दी दूर हट जा। तू बदबू फैलाए देगा तो राजा मेरे इस मकान को पसंद नहीं करेंगे।

अपने मकान में बदबू फैलने देने की भूल शायद कोई नहीं करेगा। लेकिन मनुष्य-शरीर रूपी मकान के संबंध में प्राय सभी भूल कर रहे हैं। महल और मानव शरीर में मानव शरीर ही बड़ा है। इस शरीर की समता कौन कर सकता है? विश्व के समस्त हीरे-पन्ने इस पर निछावर किये जा सकते हैं। रेडियम धातु अत्यन्त कीमती है और एक तोला रेडियम का मूल्य साढ़े चार करोड़ रुपया सुनते हैं। ऐसी कीमती धातु भी खरीदी जा सकती है, लेकिन आंखों में जो तेज विद्यमान है, वह कितनी ही कीमत देने पर नहीं मिल सकता। वैसे तो अनेक अपराधों में फांसी का दण्ड दिया जाता है, लेकिन कोई आदमी किसी आदमी को मार डालने के लिए खरीदे तो क्या सरकार उसे मारने देगी? वह कह सकता है कि मैंने तो मार डालने के लिए ही खरीदा है, तब भी सरकार उसे नहीं मारने देगी। इसका कारण यही है कि मनुष्य शरीर अनमोल है। विश्व की समस्त सम्पत्ति भी इस शरीर का मूल्य नहीं हो सकती।

इतना अनमोल-यह मानव-तन है। इसके लिए एक ओर तो हम परमात्मा के कार्यकर्त्ता आपसे कहते हैं कि आप अपने इस शरीर में परमात्मा को निवास करने दीजिए। इसमें हक का निवास होगा। लेकिन दूसरी ओर हराम आकर इस शरीर में बदबू

फैलाता है। अब आप इसमें किसे स्थान देंगे ? चोरी व्यभिचार आदि हराम आकर इसमें बदबू फैलाना चाहते हैं और बदबू फैलाने पर परमात्मा इसे पसंद नहीं करता। ऐसी दशा में आप चोरी आदि को अपने भीतर स्थान देंगे ?

लोगों के हृदय में असत्य, व्यभिचार चोरी आदि पाप का घर कर लेते हैं, इसी कारण पुलिस की भी व्यवस्था करनी पड़ती है और उसे प्रबंध करना पड़ता है। अगर लोगों के हृदय में चोरी आदि को स्थान न हो तो फिर किसी को पकड़ने के लिए पुलिस आ ही नहीं सकती लोग अपनी-अपनी जातियों के सुधार के लिए कानून बनाते हैं जातीय सभाओं में प्रस्ताव पास करते हैं, लेकिन जब तक हृदय में हराम आराम से बैठा है तब तक उनसे क्या होना-जाना है ? समाज सुधारक वर्षों से सुधार-सुधार चिल्लाते हैं, मगर सुधार कहीं नजर नहीं आता। जहाँ देखो नित्य नया बिगाड़ ही दिखाई देता है। इसका कारण यही है कि लोगों के दिल से हराम नहीं गया है। उसके निकले बिना व्यक्तियों का सुधार नहीं हो सकता और व्यक्तियों के सुधार के अभाव में समाज-सुधार का अर्थ ही क्या है ? व्यक्तियों का समूह ही तो समाज कहलाता है।

आप किसी भी फिरके के हों, लेकिन हैं तो जैन ही। आप सब जैन हैं, इसलिए भाई-भाई हैं और आपका निकट सम्बन्ध है। फिर भी आप आपस में लड़ रहे हैं। भाई-भाई को दल बना कर आपस में लड़ाना क्या उचित है ? क्या आपको नहीं मालूम कि आपके ऐसे कामों से धर्म की निन्दा होती है और धर्म-प्रभावना के कार्य में रुकावट होती है।

मतलब यह है कि आपने अपने दिल के महल में यदि हराम को स्थान न दे रक्खा हो तो फिर किसी किस्म का झगड़ा नहीं हो सकता। अतएव आपके दिल से उस हराम को निकालने और हक को स्थान देने के लिए ही हम लोग बार-बार कहते हैं।

अगर आप रुपये देकर स्टाम्प लाएँ और उस कोरे स्टाम्प पर कोई लड़का खाली लकीरें खींचने लगे, तो क्या आप उसे खींचने देंगे? मित्रो! जिन्दगी स्टाम्प से बहुत अधिक कीमती है। जिन्दगी के सफे पर खाली लकीरें खींचकर इसे खराब मत करो। इसका सदुपयोग करो। दुरुपयोग मत करो। ऐसा करने से कल्याण होगा।

१४

अस्पृश्यता

(१)

कुन्थु जिनराज तू ऐसो नहीं कोई देव तो जैसो।

भगवान् कुन्थुनाथ की यह प्रार्थना है। परमात्मा की प्रार्थना में अमोघ शक्ति है। अमोघ उसे कहते हैं जो निष्फल न जावे। परमात्मा की प्रार्थना की शक्ति सदैव सफल है। दुनियाँ में कई लोग अपनी बड़ाई के लिए यह विज्ञापन किया करते हैं कि हमारी दवा राम बाण है। हमारा इलाज और कार्य राम बाण है। अर्थात् राम का बाण चूके तो हमारी दवा का भी लक्ष्य चूके—लाभ न करे। कई लोग रामबाण के नाम पर इस प्रकार का विज्ञापन करके अपना व्यवसाय चलाते हैं। मगर मैं कहता हूँ कि परमात्मा की प्रार्थना अमोघ है।

शंका हो सकती है कि जिस प्रकार व्यवसायी अपना व्यवसाय चलाने के लिए दवा को रामबाण—अमोघ—कहते हैं,

उसी प्रकार प्रार्थना के विषय में भी तो नहीं कहा जाता है ? शंकाशील के लिए सर्वत्र शंका को स्थान है किन्तु परीक्षा और पहचान करने से शंका का निवारण भी हो सकता है। परमात्मा-प्रार्थना की शक्ति अमोघ और सफल है, यह बात मिथ्या प्रशंसा में नहीं कही गई है और यह भी स्पष्ट है कि ऐसा कहने वाले का इसमें कोई स्वार्थ नहीं है। यह बात सर्वथा सत्य है और जिन्होंने परीक्षा की है उन्हें किसी तरह का सन्देह भी नहीं है।

राम के बाण हमने नहीं देखे। केवल ग्रन्थों में उनकी अमोघता का वर्णन आया है और इसी आधार पर हम विश्वास करते हैं कि राम के बाण व्यर्थ नहीं जाते थे। वह ग्रन्थ सत्पुरुषों ने निःस्वार्थ भावना से बनाये हैं, इस कारण उन पर विश्वास किया जाता है। वास्तव में चाहे चन्द्र से आग गिरने लगे और पृथ्वी उलट जाय, किन्तु सत्पुरुष झूठ कदापि नहीं लिख सकते। उनके वचन किसी भी अवस्था में झूठ नहीं हो सकते। ऐसे सत्पुरुष जब राम का बाण अचूक कहते हैं तो समझना चाहिए कि वे राम के बाण के सम्बन्ध मे उतना नहीं कह रहे हैं, जितना राम के नाम की शक्ति के विषय में कह रहे हैं। ऐसी स्थिति में बाण के विषय में कही गई उनकी बात पर विश्वास करने और नाम के विषय में कही गई बात पर अविश्वास करने का क्या कारण हो सकता है ? नाम के विषय में वह मिथ्या कथन क्यों करेंगे ? अगर आप नाम के विषय मे कही गई उनकी बात सत्य मानते हैं तो जो बात उन्होंने कही है वही बात परमात्मा की प्रार्थना के विषय में भी कही गई है। जिस तरह उनकी कही बात पर विश्वास करते हो, उसी तरह परमात्मा की प्रार्थना की

शक्ति के विषय में भी पूर्वकालीन अनेक महात्माओं ने जो कुछ कहा है, उस पर विश्वास करो। प्रार्थना की शक्ति के विषय के विषय में हम अपनी ओर से कुछ नहीं कहते हैं, पूर्वकाल के महात्माओं कथन दोहराते हैं। हम उनकी उच्छिष्ट वाणी ही सुनाते हैं। अतएव प्रार्थना की शक्ति के विषय में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है।

परमात्मा की प्रार्थना में अमोघ शक्ति है, यह बात कहना तो सरल है, लेकिन उसे प्राप्त करना कठिन मालूम होगा। परन्तु महापुरुष को कोई बात कहना तो कठिन जान पड़ता है, करना उतना कठिन नहीं जान पड़ता। इसलिए हमें सावधान होकर वे ही शब्द निकालने चाहिए, जिन्हें हम अमल में ला सकते हों। जितना कर सकते हो, उतना ही कहो और जो कुछ कहते हो उसके करने की अपने ऊपर जिम्मेदारी समझो। इस तरह स्वच्छ चित्त होकर एकाग्रतापूर्वक परमात्मा की प्रार्थना करने वाला और परमात्मा-प्रार्थना द्वारा उसकी अमोघ शक्ति प्राप्त करने वाला सुकृति का भण्डार बन जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है—आपके परमात्मा की प्रार्थना के विषय में जो कुछ कहा है सो ठीक, मगर परमात्मा कहा है? उसका स्वरूप क्या है? साम्प्रदायिक भेद के कारण परमात्मा के स्वरूप में इतनी भिन्नता मालूम होती है कि इस दशा में परमात्मा के किस रूप को और प्रार्थना की किस विधि को सत्य मानें? इन बातों का ठीक-ठीक पता कैसे लग सकता है?

इस प्रश्न का समाधान करने के लिए महापुरुषों ने

बहुत सरल मार्ग बताया है। इसी प्रार्थना में कहा है:—

तुम्हीं हम एकता मानूं, द्वैत भ्रम कल्पना मानू।

हे प्रभो! जो तू है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही तू है 'य परमात्मा स एवाह योऽहं स. परमस्तथा।' सोऽहं और हं-स। इस प्रकार हे प्रभो! तुझमें और मुझमें कुछ अन्तर ही नहीं है।

यह कथन ऊपरी नहीं, भक्तों की गहरी आत्मानुभूति का उद्गार है। जो आत्मा औपाधिक मलिनता को एक ओर हटा-कर, अन्तर्दृष्टि होकर—अनन्यभाव से अपने विशुद्ध स्वरूप का अवलोकन करता है और समस्त विभावों को आत्मा से भिन्न देखता है, उसे सोऽहं के तत्त्व की प्रतीति होने लगती है। बहि-रात्मा पुरुष की दृष्टि में स्थूलता होती है अतएव वह शरीर तक, इन्द्रियों तक या मन तक पहुँच कर रह जाती है, और उसे इन शरीर आदि में ही आत्मत्व का भान होता है, मगर अन्तरात्मा पुरुष अपनी पैनी नजर से शरीर आदि से परे सूक्ष्म आत्मा को देखता है। उस आत्मा में असीम तेजस्विता, असीम बल, अनन्त ज्ञानशक्ति और अनन्त दर्शनशक्ति देखकर वह विस्मित-सा हो रहता है। उसके आनन्द का पार नहीं रहता। ऐसी ही अवस्था में उसकी वाणी से फूट पड़ता है—

सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणंतणाणादि गुणसमिद्धोऽहं।

अर्थात्—मैं सिद्ध हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं अनन्त ज्ञानादि गुणों से समृद्ध हूँ।

इस प्रकार जब परमात्मा में और आत्मा में अन्तर ही नहीं है, तब उसके रूप आदि के विषय में किसी प्रकार का सन्देह होने का क्या कारण है ?

लेकिन फिर यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि कहाँ तो मोह के चक्कर में पड़कर नाना प्रकार की अनुचित चेष्टा करने वाले और घृणित काम करने वाले हम लोगों और कहा शुद्ध-स्वरूप परमात्मा ! हमारी और उसकी समानता भी नहीं हो सकती तो एकता तो होगी ही कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर प्रकारान्तर से ऊपर आ गया है मतलब यह है कि इस तरह का उपाधिभेद तो अवश्य है, लेकिन वस्तु का शुद्ध स्वरूप देखने वाले निश्चय नय के अभिप्राय से और संग्रह नय के अनुसार 'एगे आया' आगम वाक्य से परमात्मा में इसमें कोई अन्तर नहीं है। 'एगे आया' इस कथन मे सिद्ध भी आ जाते हैं और समस्त संसारी जीव भी आ जाते हैं। जो कुछ भेद है, उपाधि में है, आत्मा में कोई भेद नहीं है। मूल्यद्रव्य के रूप में परमात्मा और आत्मा का कोई भेद होता तो आत्मा समस्त विकारों और आवरणों को दूर करके परमात्मा नहीं बन सकता था। अगर कोई भी आत्मा, परमात्मा नहीं बन सकता होता तो समस्त साधना निष्प्रयोजन हो जाती। मगर ऐसा नहीं है। साधक पुरुष अपनी साधना द्वारा आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास करता हुआ और विकारों को क्षीण करता हुआ अन्त में पूर्णता और निर्विकारता प्राप्त कर लेता है और वही परमात्म-दशा है। उपाधि के कारण आत्मा और परमात्मा में जो भेद है, उसी को मिटाने के लिए प्रार्थना करनी होती है। अतएव उपाधि का भेद होने पर भी यह समझने की आवश्यकता

नहीं कि मुझ में और परमात्मा में मूल से ही कोई वास्तविक भेद है।

एक बात और है। कर्म करने वाला तथा कर्म का फल भोगने वाला यह आत्मा ही है। फिर प्रार्थना करने वाला और प्रार्थना का फल पाने वाला भी आत्मा ही ठहरता है या नहीं? ऐसी अवस्था में शंका का कारण ही क्या है?

भावनिक्षेप दो प्रकार का है—आगम भावनिक्षेप और नोआगमभावनिक्षेप। आगमभावनिक्षेप के अनुसार भगवान महावीर में तल्लीन रहने वाला स्वयं ही महावीर है। जब क्रोध का स्मरण करने वाला अर्थात् क्रोध के उपयोग में उपयुक्त आत्मा क्रोध मान में उपयुक्त आत्मा मान, उच्च में उपयुक्त आत्मा उच्च और नीच के उपयोग में उपयुक्त आत्मा नीच माना जाता है तो भगवान् के उपयोग में उपयुक्त (तल्लीन) आत्मा भगवान ही है, ऐसा मानने में सन्देह कैसे किया जा सकता है? ऐसी अवस्था में जिस पानी से मोती निपजता है, उसे कीचड़ में डालकर खराब क्यों करना चाहिये? प्रार्थना के उस पवित्र पानी को आत्मा में क्यों न उतारना चाहिए कि जिससे अखूट मोती बने।

जिस प्रार्थना की शक्ति अमोघ है, वह प्रार्थना करने की तबीयत किसकी न होगी? ऐसी प्रार्थना सभी करना चाहेंगे, मगर देखना यह है कि अन्तराय कहाँ है? वस्तुभेद से तो अन्तराय के अनेक प्रकार हैं मगर सामान्य रूप से स्वार्थबुद्धि आने से अन्तराय होता है। यों तो संसार में स्वार्थों की सीमा नहीं है, किन्तु जहां स्वार्थ नहीं है वहा पर भी लोग काल्पनिक विचारों में पड़कर ऐसा विचार कर बैठता है, जो प्रार्थना के मार्ग में अन्तराय करने वाले हो जाते हैं। काल्पनिक विचारों में घुल जाना इन

पर आरूढ़ हो जाना प्रार्थना के मार्ग में बड़ा अन्तराय है। इस अन्तराय की चिन्ता अनेक कवियों और शक्तिशाली पुरुषों को भी हुई है। सर्वसाधारण के ऐसे काल्पनिक विचार देखकर उन्हें भी चिन्तित होना पड़ा है। कहा जा सकता है कि किसी में अगर कोई बुराई है तो उन्हें चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है? दूसरा कोई कुमार्ग में जाता है तो जाय, हम उसके लिए चिन्तित क्यों हो? मगर बेटा के बिगड़ने पर बाप को चिन्ता होती है या नहीं? बिगड़े बेटे की चिन्ता करना बाप का फर्ज माना जाता है। आप स्वयं अपने बेटे की चिन्ता करते हैं। यह बात दूसरी है कि आपने अपनी आत्मीयता का दायरा संकीर्ण बना लिया है। आप अपने बेटे-पोते आदि घर वालों को ही अपना समझते हैं और उनके अतिरिक्त दूसरों को गैर समझते हैं। मगर जिनका ममत्व गल कर प्राणी मात्र तक पहुँच गया है, संसार के समस्त प्राणियों को जो आत्मवत् मानते हैं, जिन्होंने 'एगे आया' का सिद्धान्त अपने जीवन में घटाया है, उनके लिए तो सभी जीव अपने हैं, कोई पराया नहीं है। ऐसी दशा में जैसे आप अपने बेटे की चिन्ता करते हैं उसी प्रकार उदार भाव वाले ज्ञानी पुरुष प्रत्येक जीव की चिन्ता करते हैं। इस प्रकार की चिन्ता के कारण ही उन्होंने परमात्मा से प्रार्थना करते हुए कहा है —

कौन जतन विनती करिये।
निज आचरण विचारि हारि हिय मानि जानि डरिये ॥कौन ॥

जानत हूँ मन वचन कर्म करि परहित कीने तरिये।
सो विपरीत देखि के पर सुख बिन कारण ही जरिये ॥कौन०॥

वह कहते हैं—हे नाथ! हे प्रभो! मैं आपकी विनती कैसे करूँ? कहाँ तो तुम्हारे समान मेरा स्वरूप, कहाँ 'एगेआपा' मान कर तेरे और मेरे स्वरूप को एक मानने वाला मैं और कहाँ मेरे आचरण? मै इन आचरणों को देखकर विचार में पड़ जाता हूँ कि, हे नाथ! किस प्रकार तेरी प्रार्थना करूँ! किस मुँह से मैं तेरे सामने आऊँ?

जो मनुष्य राजा की चोरी करता है या राजा की आज्ञा तथा उसके बनाये नियमों की अवज्ञा करता है, उसे राजा के सामने जाने में सकोच होगा या नहीं? अवश्य होगा! क्योंकि उसका आचरण उसे भयभीत करेगा। इसी प्रकार भक्त कहता है-प्रभो! मैं अपना आचरण दे कर स्वय ही डरता हूँ। मेरा आचरण ही प्रकट कर रहा है कि मैंने तेरी सत्ता को नहीं मानी और तेरी चोरी की है

भक्त अपने मे ऐसी क्या कमी देखते हैं? यह तो सभी जानते हैं कि तन, मन, धन और जन से जितना भी बन सके परोपकार करना चाहिए। परोपकार करना धर्म है, यह कौन नहीं जानता? 'परोपकाराय सता विभूतय' और 'परोपकार पुण्याय' इत्यादि उपदेश वाक्य भी बहुत से लोगों ने सुने हैं। भक्त जन कहते हैं—'मुझ से परोकार होना तो दरकिनार, मैं इससे विपरीत ही वर्त्ताव करता हूँ। मैंने किसी को सुखी नहीं बनाया, इतना ही नहीं, बल्कि मेरी करतूत तो यह है कि दूसरे को सुखी देख कर मेरे दिल में ईर्षा का दावानल सुलगने लगता है। इस प्रकार मेरे हृदय में उपकार की भावना के बदले अपकार की भावना उत्पन्न होती है। दूसरे ने मुझसे सुख नहीं पाया, सम्पत्ति नहीं

पाई, फिर भी मुझसे उसकी सुख सम्पत्ति नहीं देखी जाती ! जब मेरा यह स्वभाव है तो मैं परोपकार क्या करूंगा ? और अपनी इस निकृष्ट दशा में तेरी क्या प्रार्थना करूं ?

प्रभु की प्रार्थना में यह अन्तराय सबसे बड़ा है। अगर आप किसी का उपकार नहीं कर सकते तो न सही, मगर कम से कम इतना तो करो कि दूसरों को देख कर जलो मत। स्वयं किसी का उपकार नहीं कर पाते या प्रत्युपकार नहीं कर सकते तो खैर, लेकिन जिन्होंने आपके ऊपर उपकार किया है, उनका उपकार तो मत भूलो। इतना तो कर ही सकते हो।

मान लीजिए, किसी वैभवशाली का घर है। उस घर में क्या क्या होता है, यह तो आप जानते ही हैं। उस घर में रसोई बनाने वाला रसोइया भी होता है और झाडू देने वाला नौकर भी होता है। घर में एक ऐसे व्यक्ति का होना भी आवश्यक समझा जाता है जो घर की सफाई रक्खे और बच्चों को अशुचि आदि गन्दगी से बचा कर साफ रक्खे। अगर कोई कहे कि घर में फोनोग्राफ तो चाहिए, लेकिन झाडू की जरूरत नहीं है, क्योंकि बाजे से तो सुरीला राग निकलता है परन्तु झाडू से कुछ भी नहीं निकलता। ऐसा कहने वाले को आप क्या उत्तर देंगे ? क्या उसका यह कथन या उसकी यह समझ आप ठीक समझेंगे ? एक घर ऐसा है जहा फोनोग्राफ है लेकिन झाडू नहीं है और इस कारण वह घर गन्दा हो रहा है। दूसरे किसी घर में फोनोग्राफ तो नहीं है पर झाडू है और वह घर साफ सुथरा है। आपको इन दोनों में से कौन सा घर अच्छा लगेगा ? एक गृहस्वामिनी फोनोग्राफ बजाना जानती है। उसमें से निकलने

वाले रागों को पहचानती है। राग सुनकर आनन्द भी मानती है। मगर वह घर को साफ-सुथरा रखना नहीं जानती अथवा इस काम से उसे अरुचि है। इससे विपरीत दूसरी गृहस्वामिनी फोनोग्राफ बजाना नहीं जानती, लेकिन वह घर में कूड़ा-कचरा जरा भी नहीं रहने देती। वह खान-पान की सामग्री में भी अत्यधिक सावधान रहती है। वह सफाई का महत्व जानती है। अब आप विचार कीजिये कि इन दोनों गृहस्वामिनियों में से आप किसे अच्छी समझेंगे ?

आजकल के लोग वास्तविक बातें भूल कर नैसर्गिक और गुणकारक चीजों की उपेक्षा करके कृत्रिम चीजों के मोह में पड़ रहे हैं। इससे होने वाली भयंकर हानि का ज्ञान बहुत कम लोगों को है। मेवाड़ और मालवा में नेहरू बहुत निकलने लगे हैं। आम जनता की शिकायत है कि पहले इतने नेहरू नहीं निकलते थे, जितने आज कल निकलते हैं। मगर इसके कारणों पर विचार कौन करता है ? और कौन उन कारणों को हटाने की चिन्ता करता है ? आचारांग सूत्र की टीका देखो तो मालूम होगा कि यह सब पानी की सफाई न रहने का—अशुद्ध पानी पीने का दुष्परिणाम है। पानी की खराबी से यह बीमारी होती है। पानी को साफ न रखने से और बिना छना पानी पीने से यह रोग होता है। पहले फोनोग्राफ नहीं थे, अब फोनोग्राफ हैं, इसी तरह पहले नेहरू नहीं थे और अब नेहरू हैं। समाज में जैसे-जैसे कृत्रिमता के प्रति रुचि बढ़ती गई, त्यों-त्यों रोग भी बढ़ते गये। सारांश यह है कि लोग ऊपरी दिखावे में—तड़क भड़क में—मजामौज में फसते जा रहे हैं और असली बात को भूल रहे हैं। इसी कारण हानि उठा रहे हैं।

एक वृद्धा है। उसने जमाना देखा है। उससे सख्त मिहनत का काम नहीं होता। लेकिन बालकों के प्रति उसके दिल में बड़ी करुणा है। वह उन्हें स्वच्छ रखती है। कभी किसी बालक को बीमारी होती है तो वह बड़े चाव से उसकी सुश्रुषा करती है, उपचार करती है, मलहम पट्टी करती है।

एक तरुणी है। वह उत्तम वस्त्र और सुन्दर आभूषण पहनती है। बालकों के प्रति वह लापरवाह है। मगर वृद्धा से कहती है—'बुढ़िया! तू किस मर्ज की दवा है? बच्चों को सम्भाल!' वह स्वयं बच्चों को नहीं सम्भालती और नखरे बना कर बैठी रहती है।

आप इन दोनों में से किसे ठीक समझेंगे? अपनी सफाई और सौन्दर्य में तरुणी चाहे अच्छी लगे, लेकिन उसे देख कर क्या वृद्धा को घृणा करना उचित होगा? बालकों की सार-सभाल में उसने अपने आपको भुला दिया है, धूल भरे बच्चे दौड़-दौड़ कर आते हैं और उसकी गोद में बैठ जाते हैं और इस कारण वह साफ-सुथरी नहीं दिखाई देती, तथापि क्या वह घृणा के योग्य है? उसने बालकों को स्नेह की जो मधुरता प्रदान की है और अपने मीठे व्यवहार से उनकी कली-कली खिला देती है, बच्चों की प्रसन्नता में ही तो अपनी प्रसन्नता मानती है, उस वृद्धा की अगर प्रसशा न कर सको तो क्या निन्दा करके अपनी जीभ अपवित्र बनाओगे? उसकी सेवा को क्या बुरा समझोगे? आगम के अनुसार ससार में सर्वोच्च पद तीर्थंकर का है। वह पद भी वैयावृत्य (वैयावच्च-सेवा) से मिलता है। वैयावृत्य कहो या सेवा कहो, बात एक ही है। अच्छे वस्त्र और गहने पहनना वैयावृत्य

नहीं है अपितु मल-मूत्र उठाना, दूसरे को खिलाना पिलाना और अपनी चिन्ता छोड़ कर दूसरे को सुख-सुविधा पहुंचाना वैयावृत्य है। जो साधु की इस प्रकार वैयावृत्य करता है वह तीर्थंकर प्रकृति को बन्ध करता है। अगर आपको व्याख्यान देने वाला साधु अच्छा लगे, लेकिन वैयावृत्य करने वाला अच्छा न लगे तो क्या काम चल सकेगा? ऐसी स्थिति में वैयावृत्य करने वालों को हीन दृष्टि से देखना उचित नहीं है।

यह तो साधु की और गृहस्थ के घर की बात हुई। अब जरा नगर का भी विचार कर देखें। सबसे पहले यह प्रश्न उपस्थित होता है कि नगर में सेठों की ही जरूरत है या भंगी की भी जरूरत है? जब समाज व्यवस्था आरम्भ हुई, तब एक वर्ग को सेवा का कार्य सौंपा गया। वह वर्ग अगर सेवा करता है तो क्या बुरा करता है? एक ओर चँवर-छत्र धारण किये कोई महिला हो और दूसरी ओर मेहतरानी हो तो इन दोनों में जन-साधारण के लिए उपयोगी कौन है? सोने की डंडी वाले चाँवर तो किसी विरले पर ही ढोरे जा सकते हैं तथा उनके अभाव में किसी का कोई काम भी नहीं रुकता, लेकिन मेहतरानी तो जन-साधारण के लिए उपयोगी है। ऐसा होते हुए भी अगर आपको चामर-छत्रधारिणी ही अच्छी लगती है और उसी को बड़ी मानते हो तो कहना चाहिए कि आप वास्तविकता से दूर हट रहे हैं। अभी आपको ज्ञान नहीं है। वह मेहतरानी गटर साफ रखती है और नगर की जनता को रोगों से बचाती है। नगर की जनता के प्राणों की वह रक्षिका है। उसकी सेवा अत्यन्त उपयोगी है और अनुपम है। फिर भी चॉवर वाली को बड़ी समझना और उस

के मुकाबिले में मेहतरानी को हीन एवं नीच मानना भूल है, अज्ञान है और कृतज्ञता से विरुद्ध है। क्या आप में इतनी उदारता नहीं आ सकती कि आप इस प्रकार की सेवा करने वालों को भी मनुष्यता की दृष्टि से देख कर उनके साथ मनुष्योचित ही व्यवहार करो ?

आज उलटी ही स्थिति दिखाई दे रही है। लोग उन्हें अछूत या अस्पृश्य कह कर उनके प्रति ऐसा हीनतापूर्ण व्यवहार करते हैं, मानो वह मनुष्य ही नहीं है कहा जा सकता है कि वे गन्दे हैं और अशुचि उठाते हैं। लेकिन यह विचारणीय है कि उन्हें गन्दा बनाया किसने ? और वे अशुचि किसकी उठाते हैं ? किसने अशुचि फैलाई है ? विचित्र न्याय है ! गंदगी फैलाने वाले आप अच्छे और ऊंचे, तथा गंदगी मिटाने वाले वे बुरे और हीन ! न्यायमुक्त बुद्धि से उनके साथ अपने इस कर्त्तव्य की तुलना करके देखो तो आपकी आँखें खुल जायेंगी।

अब तो मेहतर अपना परम्परागत कार्य करते हैं, लेकिन कर्मभूमि के आरम्भ में भगवान् ऋषभदेव ने जब उन्हें यह काम सौंपा तब उन्हें क्या समझाकर सौंपा होगा ? और उन्होंने क्या समझकर यह काम करना स्वीकार किया होगा ? न जाने क्या उच्चतर आदर्श उनके सामने रहा होगा। आज तो मेहतर जाति अलग है, लेकिन उस समय तो जातियों की स्थापना नहीं हुई थी। उस समय सभी मनुष्य समान थे—किसी की कोई जाति ही नहीं थी। फिर क्या समझा कर भगवान् ने एक समुदाय को यह काम सौंपा होगा ? बच्चों की सार-सम्भाल करने वाली वृद्धा के प्रति घर का मालिक कहता है—'माताजी ! यह सब आपका ही

पुण्य-प्रताप है। आप ही सब की सेवा करती हैं, रक्षा करती हैं नहीं तो तीन दिन में ही सब की धज्जियां उड़ जाएं! आपकी बदौलत ही हम आराम की जिन्दगी बिता रहे हैं।' क्या इसी प्रकार आपको उन गंदगी साफ करने वालों का उपकार नहीं मानना चाहिए? भगवान् ऋषभदेव ने इनके पूर्वजों को गंदगी साफ करने का काम सौंपते समय ऐसा ही तत्त्व न समझाया होगा? जिस प्रकार समाज में सेवाभावी मनुष्य को बहुमान दिया जाता है, उसी प्रकार क्या भगवान् ऋषभदेव ने बहुमान देकर उन्हें यह काम न सौंपा होगा? आजकल की तरह सफाई करने वाले लोग उस समय अगर घृणा की दृष्टि से देखे गये होते तो कौन अपने को स्वेच्छापूर्वक घृणास्पद बनाता?

मित्रो! आप इनके कार्य की गुरुता और उपयोगिता का विचार कीजिये। इन्हें नीच न समझिए वरन् अपना सहायक और सेवक मानिए। चित्त में तनिक भी घृणा का भाव मत आने दीजिये। इन्हें हिन्दू समाज से बाहर जाने को बाध्य मत कीजिए। हिन्दू रहते हुए जब वह आपके पास आते हैं तो आप उन्हें दुर-दुराते हैं, लेकिन वही लोग जब ईसाई या मुसलमान हो जाते हैं तब प्रेम-पूर्वक पास में बिठलाते हैं। क्या ऐसा व्यवहार करके अपने समाज से निकालना आपको ठीक मालूम पड़ता है? चारों वर्ण अपना अपना कार्य करते हैं और सभी कार्य समाज के लिए उपयोगी है। ऐसी स्थिति में किसी को किसी के प्रति घृणाभाव रखने का क्या अधिकार है?

मैं कुछ वर्ष पहले जब रतलाम मे आया था, तो मैंने देखा था कि एक बीमार कुत्ते को, चांदनी चौक की एक दुकान में टाट

पर सुलाया गया था। यह देखकर मेरे मन में आया कि यहां के लोगों को कुत्तों पर तो दया है, लेकिन कुत्ते के स्थान पर कोई मेहतर बीमार होता तो क्या उस पर भी दया की जाती ? कुत्ता पशु है। आज तक भी कुत्ता मोक्ष नहीं गया है। लेकिन हरिकेशी मुनि को कौन नहीं जानता, कि वे चाण्डाल कही जाने वाली जाति में उत्पन्न होकर भी मोक्ष गये हैं। भगवान् ने भी उनकी प्रशंसा की थी और तपोधन होकर उन्होंने मुक्ति प्राप्त की थी। इस प्रकार अन्त्यजों के लिए तो मोक्ष का द्वार भी खुला हुआ है, लेकिन कुत्ता आज तक मोक्ष नहीं गया। मैं यह नहीं कहता कि कुत्ते पर दया न करो, मेरा आशय यह है कि मनुष्यता के नाते अछूत कहलाने वाले मनुष्यों पर भी दया करो। कम से कम उन से घृणा मत करो। यह लोग हिन्दू समाज की रीढ़ हैं। तुम्हारे दुर्व्यवहार को सहन करते-करते ऊब जायेंगे और किसी दिन इस समाज को तलाक देकर विधर्मी दूसरों के समाज में चले जायेंगे तो तुम्हें बहुत भारी पड़ेगा।

दीन-दुखी की ही सेवा की जाती है। बुद्धिबल और विद्वता उसी की प्रशंसनीय है जो गिरे को उठाता है और जो यह बात भली भाँति जानता है कि उनकी दशा न सुधरेगी तो भारत की दशा भी न सुधरेगी। यह समझ कर जो इनकी सेवा में लगा हुआ है, उसी की बुद्धि अच्छी है। यों तो मस्तक, मस्तक ही रहता है, हाथ, हाथ ही रहता है और पैर भी पैर ही रहता है, लेकिन मस्तक पैर की अपेक्षा नहीं करता, वरन् उसकी रक्षा करता है। इन सभी अंगों का परस्पर सम्बन्ध तो है न ? इसी प्रकार चारों वर्णों का सम्बन्ध है या नहीं ? पैर नीचे हैं, फिर भी जैसे

उनकी भी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार आपको उन लोगों की भी रक्षा करनी चाहिए जो नीच कहलाते हैं और जो आपकी सेवा के लिए नीच बने हुए हैं।

यह सब मैं आपसे इसलिए कहता हूँ कि आप अपने कर्त्तव्य का विचार करें और कोई यह न कहे कि जैन सिद्धान्त में गरीब अछूतों के लिये कुछ नहीं कहा गया है। जैन सिद्धान्त हरिकेशी को भी वन्दनीय और पूजनीय महात्मा मानता है। चित्तशभु से और लोगों ने गाना भी सुना था और उन्हें मारा भी था। उस समय वह पहाड़ से गिर कर मरने की तैयारी में थे, लेकिन महात्माओं ने उन्हें भी अपनाया और अगले भव में वह चक्रवर्ती हुए। करकण्डु राजा को शिशु-अवस्था में इसकी मा ने श्मशान में डाल दिया था। उस समय भंगी ने ही उसकी रक्षा की थी। आगे चल कर जब करकण्डु राजा हुआ तो उस भंगी की सारी जाती को ही उसने ब्राह्मण बना दिया था।

जैन सिद्धान्त में मनुष्यों के प्रति अस्पृश्यता को कोई स्थान नहीं है। अस्पृश्यता एक भाव है और समस्त भाव कर्मों के उदय उपशम आदि से ही होते हैं। मगर अस्पृश्यता उत्पन्न करने वाला कोई कर्म जैनागम में नहीं है।

मित्रो! सत्य को समझने का प्रयास करो। किसी के प्रति घृणाभाव लाकर अपने अन्त करण को कलुषित मत करो। मनुष्यता का अपमान मत करो। प्राणी मात्र पर मैत्री भाव का अभ्यास करने वालों को मनुष्य के प्रति घृणा करना शोभा नहीं देता। अतएव उन पर दयाभाव रखोगे तो अपना ही कल्याण होगा।

१५

अस्पृश्यता*

(२)

ठक्कर बापा अन्त्यजोद्धार का जो काम कर रहे हैं, वह जैनधर्म के सिद्धान्तों के प्रतिकूल नहीं है। जब कि जैनधर्म प्राणी-मात्र का उद्धारक धर्म है तो वह अन्त्यजों के उद्धार का विरोधी कैसे हो सकता है? जैनधर्म अन्त्यजों के उद्धार से सहमत है आगम में कहा है:—

सोवागकुलसंभूओ गुणुत्तरधरो मुणी।
हरि यस्स बलो नाम आसी भिक्खू जिइंदियो॥

उत्तराध्याय, १२ अ०

---

*हरिजनसेवासंघ के अध्यक्ष श्री अमृतलाल ठक्कर और संघ की इंस्पेक्ट्रेस श्रीमती रामेश्वरी नेहरू आचार्य श्री के दर्शनार्थ पधारे। उस समय दिया गया संक्षिप्त भाषण।

भगवान् महावीर ने कहा है—चाण्डाल कुल में उत्पन्न हरिकेशीबल नामक मुनि थे, जो उत्तम गुणों के धारक तथा जितेन्द्रिय भिक्षु थे।

भगवान् के इस कथन से स्पष्ट है कि जैनधर्म के अनुसार किसी भी मनुष्य के लिए धर्मसेवन का निषेध नहीं है सभी मनुष्य समान हैं। जैनग्रन्थ स्पष्ट कहते हैं—

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।

अर्थात्—जाति नामक कर्म से उत्पन्न होने वाली मनुष्य जाति एक ही है। इस प्रकार जैनधर्म जाति-पाँति के अनुचित और अन्यान्य भेदभाव को स्वीकार नहीं करता। जैनधर्म का द्वार नीच समझे जाने वाले कुल के लोगों के लिए उसी प्रकार खुला हुआ है जैसा उच्च माने जाने वाले कुल के लोगों के लिए। सभी मनुष्य जैनधर्म की शीतल छाया का आश्रय लेकर अपना आन्तरिक सन्ताप मिटा सकते हैं। जैनधर्म नदी के निर्मल नीर की नाईं सर्वसाधारण के लिए है। उस पर किसी जाति विशेष या वर्गविशेष का अधिकार नहीं है।

वास्तव में कोई मनुष्य ऐसा हो ही नहीं सकता, जिससे घृणा की जाय या जिसे छूने से छूत लग सकती हो। सभी प्राणियों की आत्मा तक सरीखी-परमात्मा के समान है और शरीर की बनावट के लिहाज से मनुष्य-मनुष्य में कोई अन्तर नहीं है। फिर अस्पृश्यता का भेद किस उचित आधार पर खड़ा है, समझ में नहीं आता। इसका एक मात्र कारण जातिभेद ही प्रतीत होता है, जिसे शास्त्रों में हेय बतलाया है और जो सम्यग्दर्शन को मलीन करता है।

भारतवासियों में यह एक बड़ा दोष है कि वे अपने यहाँ के कुछ भाइयों से ऐसा परहेज करते हैं कि उन्हें छू जाने पर स्वयं को अशुद्ध मानने लगते हैं, अर्थात वे अपने एक भाई को भी छूने में पाप मानते हैं ! मगर अछूत क्या समाज का अंग नहीं हैं ? जैसे शरीर का एक अंग, दूसरे अंग का सहायक है, उसी प्रकार अछूत कहलाने वाले लोग भी दूसरों के सहायक हैं। सिर, चरण का सहायक है और चरण सिर का सहायक है। ऊँचे माने जाने वाले मस्तक को भी चरण की सहायता होना आवश्यक है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर भारतवर्ष में चरण-स्पर्श की प्रथा प्राचीन काल से प्रचलित है, सिर को स्पर्श करने की नहीं। भले ही सिर ऊँचा माना जाता है, मगर उसकी स्थिति पैरों पर ही है।

पूजा का अर्थ फूल चढ़ाना नहीं, किन्तु जो वस्तु जिस काम के योग्य हो उसे उसी काम में लाना और उसका अपमान न करना है। यही सच्ची पूजा है। हरिजन ईश्वर के चरण माने जाते हैं। अतएव हरिजनों को भूलना ईश्वर को भूलना है, हरिजनों का अपमान करना ईश्वर का अपमान करना है और देश को डुबोना है। गनीमत है कि भारत ने अब इस ओर ध्यान दिया है और वह हरिजनों का महत्व जानने लगा है। लोग अक्सर बड़े-बड़े समझे जाने वाले रोगों की ओर ध्यान देते हैं और छोटे रोगों की उपेक्षा करते हैं। लेकिन कभी कभी इस विचार से भयंकर हानि होती है। छोटे रोगों के कारण बड़े रोग नहीं मिटते या छोटे रोग ही बड़े बनकर भारी खतरा पैदा कर देते हैं। अतएव हरिजनों के प्रश्न की उपेक्षा करना ठीक नहीं है।

जैन समाज भी अब हरिजनों के विषय में चेत गया है।

जैनों को समझना चाहिये कि चाण्डाल कुल में उत्पन्न होकर भी हरिकेशी मुनि अनुत्तर धर्म का पालन करने वाले हुए। ऐसा भगवान् ने स्वयं कहा है। इससे स्पष्ट है कि चाण्डाल कुल में किसी प्रकार का परहेज नहीं किया गया है। फिर आप लोग क्यों परहेज करते हैं? जो लोग आपकी सेवा करते हैं उन्हें आप क्या भूल रहे हैं? अगर चाण्डाल कुल में उत्पन्न होने वाले भी अनुत्तर धर्म के आराधक हो सकते हैं तो और क्या कमी रही जिसके कारण उनसे छूतछात मानी जाती है? जैन समाज में छूतछात का भाव या तो दूसरों के संसर्ग से आया है या अज्ञान के कारण आया है। मगर किसी भी जैन शास्त्र में ऐसा उल्लेख नहीं है कि किसी मनुष्य को छूने से कोई मनुष्य भ्रष्ट हो जाता है।

हरिजनों में आई हुई खराबियों के विषय में आप कह सकते हैं। मगर यह स्वाभाविक है कि सार-संभाल न रखने से प्रत्येक वस्तु में खराबी आ जाती है। हरिजनों में जो बुराइयां आई हैं, वह आपकी लापरवाही के कारण आई हैं। आप उनका सुधार कर सकते हैं। प्रत्येक वस्तु का उपक्रम होता है। उपक्रम के दो भेद हैं—परिकर्म और वस्तु विनाश। वस्तु का विनाश तो विना किसी प्रकार की क्रिया किये ही हो सकता है, लेकिन परिक्रम करने के लिए क्रिया करनी ही पड़ती है। किसी प्रयोग द्वारा वस्तु को सुधारना परिकर्म कहलाता है। वस्तु के सुधार के लिए तो परिकर्म करना ही पड़ता है। परिकर्म जड़ और चेतन-सभी का होता है। अतएव हरिजनों में अगर कोई खराबियां आ गई हैं तो उनका परिकर्म किया जा सकता है। मगर उनसे घृणा करना पाप है। और उन्हें अछूत समझना भारी भूल है। अछूतों का शरीर

आपके शरीर के समान ही है। ये भी आपकी ही तरह मनुष्य हैं। वे भी आर्यभूमि भारतवर्ष में ही जनमे हैं। फिर उनसे घृणा करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है।

और लोगों के बिना भी समाज का काम चल सकता है, लेकिन जिन्हें भंगी कहते हो और जिनसे घृणा करते हो, उनके बिना तो एक भी दिन काम चलना कठिन है। उदाहरण के लिए–कोर्ट और कॉलेज में कुछ दिनों की छुट्टी हो जाय तो कोई खास हानि नहीं होगी, मगर भंगी यदि एक दिन भी छुट्टी मनालें और शहर की सफाई न हो तो आप कितनी कठिनाई में पड़ जाएंगे?

जैनधर्म कहता है कि चाण्डाल कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी मुनि हो सकता है। मुनि होने पर वह महान् से महान् धर्म का ब्राह्मणों को भी उपदेश दे सकता है। हरिकेशी मुनि से ब्राह्मणों ने कहा था–आप यज्ञ क्यों नहीं करते? इसका उत्तर देते हुए हरिकेशी मुनि ने कहा था हम यज्ञ ही करते रहते हैं। कहा है–

सुसवुडा पचहिं सवरेहिं, इह जीविहं अणवकंखमाणा।
वोसट्ठकायाँ सुइ चत्तदेहा, महाजयं जयइ जण्णसिट्ठं ॥

–उत्तराध्याय, १२ ॥

सच्चा त्यागी और सच्चा मुनि ही सच्चा यज्ञ कर सकता है। इस प्रकार हरिकेशी मुनि ने ब्राह्मणों को सच्चे यज्ञ का उपदेश दिया था।

यज्ञ का अर्थ आग में घी होमना नहीं है। सच्चा यज्ञ वही है, जिसका उपदेश हरिकेशी मुनि ने दिया है। घी होमना

तो यज्ञ के नाम पर प्रचलित हुआ एक आडम्बर था और यह आडम्बर प्रचलित हुआ था इसी कारण हरिकेशी मुनि ने ब्राह्मणों को सच्चे यज्ञ का उपदेश दिया था। गीता में भी कहा है:—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥

—अ० ४ श्लो० २५

गीता का कथन है कि यदि तुम्हारे पास द्रव्य है तो द्रव्य का यज्ञ करो अर्थात् 'इदं न मम' कह कर उसका उत्सर्ग कर दो। द्रव्य न हो तो तपोयज्ञ करो। तप करके उसके फल की कामना मत करो। 'इदं न मम' कह कर उसका भी त्याग कर दो। अगर तप को अपने लिए रख छोड़ोगे तो उससे तपोमद उत्पन्न होगा और तुम्हारा पतन हो जायगा। अगर तप नहीं है और योग है तो योग का त्याग करो। योग अपने लिए रख छोड़ोगे तो चमत्कार दिखाने में फंस जाओगे। अगर स्वाध्याय करते हो तो उसका भी यज्ञ कर डालो। ज्ञान हो तो उसका भी यज्ञ कर डालो।

हरिकेशी मुनि कहते हैं—यदि ऐसा ही यज्ञ करते हैं। आग में घी होम देना यज्ञ नहीं है। इस प्रकार चाण्डाल कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी महान् तत्त्व का आदेश दे सकता है। जैन धर्म उनसे किसी प्रकार का भेदभाव करना नहीं सिखाता।

वीरमगाम में मुझ से प्रश्न किया गया था कि शास्त्र में नीच-गोत्र की बात आई है। फिर नीचगोत्र कर्म का उदय जिनको होगा, वह नीच क्यों न माने जायें। संक्षेप में इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिन जीवों को नीच गोत्र का उदय होता है, वे अस्पृश्य

होते हैं, ऐसा किसी भी शास्त्र में उल्लेख नहीं है। शास्त्र के अनुसार समस्त पशुओं को नीच गोत्र का उदय होता है, गाय, भैंस, घोड़ा आदि को भी नीच गोत्र का उदय है, तो क्या उन्हें आप अस्पृश्य समझते हैं ? उन्हें अस्पृश्य मानना तो दूर रहा, गाय-भैंसों के उदर में बने रस को—दूध को भी आप अस्पृश्य नहीं मानते, इससे यह स्पष्ट है कि नीच गोत्र के उदय के साथ अस्पृश्यता की व्याधि नहीं है। नीच गोत्र के उदय वाले पशुओं को अछूत न मानना और जिनमें उच्च गोत्र हो सकता है ऐसे मनुष्यों को अछूत मानना कहाँ का न्याय है।

तात्पर्य यह है कि श्री अमृतलाल ठक्कर हरिजनों के लिए जो कार्य कर रहे हैं वह जैनधर्म से प्रतिकूल नहीं है। इस विषय में उनका श्रम प्रशंसनीय ही कहा जा सकता है। आप लोगों को ठक्कर बापा की इस सेवा का अनुकरण करना चाहिए।
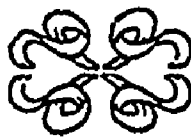
ठक्कर बापा के उद्गार

जैनाचार्य श्रीजवाहरलालजी महाराज का नाम बहुत दिनों से सुना करता था। महात्मा गाँधी ने भी आपका उपदेश सुनने की इच्छा दर्शाई थी। इसी से जाना जा सकता है कि आप का उपदेश कैसा बोधप्रद होगा। आप खादी के विषय में तथा हरिजनों के उद्धार के विषय में भी सुन्दर रीति से उपदेश दिया करते हैं। आप का उपदेश जितना माना जाय, कम ही है। हरिजनों का काम पराया नहीं है। वे दूसरे नहीं हैं। अपने ही घर के हैं। अपने घर के किसी आदमी को हल्का या नीचा कहकर अलग कर देना अनुचित है। वे तो आपकी सेवा करें और आप उन्हें छिटकावें, यह भी अनुचित है। इसलिये हरिजनों को छिटकाना नहीं चाहिए। हरिजन किस प्रकार एक निष्ठा से सेवा करते हैं, यह बताने के लिए मैं आप लोगों के सामने एक उदाहरण रखता हूँ। पोर बन्दर में मैं नौकर था, तब की बात मुझे मालूम है। एक जैन कुटुम्ब जब कहीं बाहर जाता था, तब वह अपने घर और तिजोरी आदि की चाबी एक भंगी को दे जाया करता था। उस पर यह कैसा विश्वास था? इस विश्वास का कारण यही है कि हरिजन लोग एकनिष्ठा से सेवा करने वाले होते हैं। वे आपके सेवक हैं। आपका मल-मूत्र साफ करते हैं और मरे हुए ढोर का चमड़ा निकालते हैं। वे भी डाक्टर की भाँति आपकी सेवा करते हैं। अतएव उनके प्रति भ्रातृभाव रखकर उन्हें अपना मानना चाहिए और उन्हें धर्म की शिक्षा देनी चाहिये। बस, इतना ही कहकर मैं बैठने की इजाजत लेता हूँ।

१६

राम-राज्य
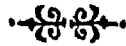
इस विस्तीर्ण पृथ्वी-मण्डल पर भारत एक अनोखा देश है दूसरे देश जब संस्कारहीन और सभ्यताहीन पाशविक-जीवन व्यतीत करते तब भी इस देश की सभ्यता और संस्कृति चरम-सीमा की उन्नति पर थी। भारत का वास्तविक इतिहास अभी तक पूरी तरह प्रकाश में नहीं आया है। जो थोड़ा बहुत आया भी है, उसे भी लोगों ने अपने विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्राय विकृत रूप में ही उपस्थित किया है। भारतवर्ष अज्ञात अतीत काल से सर्वोत्कृष्ट संस्कृति का धनी, सर्वोच्च आदर्शों का निदर्शन और उच्चतम भावनाओं का केन्द्र रहा है।

भारतवर्ष के साहित्य का अध्ययन करने से उपर्युक्त विचारों की सहज ही पुष्टि हो जाती है। प्राचीन-काल में भारतवर्ष में जो अनेकानेक महापुरुष हुए हैं या साहित्य में जिन महापुरुषों का चरित्र-चित्रण किया गया है, उनसे प्रतिफलित होने वालेआदर्शों की कल्पना साधारण नहीं है। आप किसी भी महापुरुष का

चरित उठा कर पढ़िये आपको उसमें असाधारण उज्ज्वलता, कल्याणमयता और अनूठी भावना मिलेगी।

ऐसे अनेक महापुरुषों में राम का नाम संसार प्रसिद्ध है। कौन ऐसा मनुष्य होगा जिसने 'राम' नाम न सुना हो? असंख्य वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद, आज भी राम का नाम प्रत्येक भारतवासी की जीह्वा और हृदय पर अङ्कित है। इतना होते हुए भी राम-चरित के सूक्ष्म आदर्श को समझने वाले अधिक नहीं हैं और उस आदर्श को जीवन में मूर्त्त रूप देने वालों की संख्या तो उङ्गलियों पर गिनने योग्य ही होगी। राम का नाम जप लेना एक बात है और राम को समझना दूसरी बात है। किसी ने ठीक ही कहा है—

राम राम सब कोई कहे, ठग ठाकुर और चोर।
बिना प्रेम रीझे नहीं, दशरथ नन्दकिशोर॥

राम का नाम राजा भी जपते हैं और चोर भी जपते हैं। राजा, चोर को पकड़ने के लिए और चोर चोरी करने में सफलता पाने के लिए।

बाइबिल में लिखा है कि ईसा ने कहा—'अय मनुष्यों! सावधान हो जाओ। सब संसार में स्वर्गीय राज्य आने वाला है।' लोग आश्चर्यचकित होकर पूछने लगे कि स्वर्गीय राज्य कैसे आने वाला है? ईसा ने उत्तर दिया कि तुमको वह धर्म सिखाया जायगा कि जिसके प्रताप से यहां स्वर्गीय राज्य हो जायगा।

ईसा ने स्वर्गीय राज्य की बात पीछे से कही, लेकिन भारत में राम राज्य की कल्पना उससे पहिले ही हो चुकी थी।

राम राज्य में भाले मिट कर हल की फाल बनजायेंगे। तलवारें कैंचिया होजाएगी। वह कैंचिया भी और कुछ काटने के लिये नहीं, किन्तु आपस का भेद-भाव काटने के लिये होगी। लोग अपने पराये का भेद-भाव मिटा कर एक दूसरे की सहायता और कल्याण में प्रवृत होजायेंगे। न राजा रहेगा, न प्रजा रहेगी। राज्य-शासन का अन्त होजायगा। उसकी आवश्यकता ही न रहेगी।

यह आदर्श है। यद्यपि आदर्श अनन्त की ओट में रहता है, लेकिन गति आदर्श की ओर ही होनी चाहिए। भावना यही रहनी चाहिए कि तलवार को म्यान मे ही पड़ी रहने दूँ—उससे काम न लूँ। तलवार की जगह प्रेम से काम लेना अधिक कारगर होता है।

जिन राम के नाम पर आदर्श राज्य की कल्पना 'रामराज्य' के रूप में की गई है, उनके कार्यों और भावनाओं पर दृष्टिपात करो तो मालूम होगा कि राम राज्य किस प्रकार हो सकता है?

राम के राज्याभिषेक की तैयारी हो रही थी। निश्चय हो चुका था कि कल रामचन्द्र को राजसिंहासन पर आसीन कर दिया जायगा। अयोध्या के घर-घर में आनन्द मनाया जाने लगा। राम को राज्य मिल रहा है, यह जानकर कौन आनन्द न मानता? सभी लोग यह सोचकर आनन्द विभोर हो रहे थे कि राजा न होते,हुए भी रामचन्द्र प्रजा की भलाई करते हैं तो राजा होने पर क्या न करेंगे? इसके अतिरिक्त रामचन्द्र की प्रकृति इतनी सौम्य और मधुर थी कि वह सभी को प्रिय लगते थे और राजा के रूप में उन्हें देखने की कल्पना से ही प्रजा आनन्दित थी।

राम के राज्याभिषेक का सम्वाद मिलते ही उनके मित्र हर्षित होकर उन्हें बधाई देने गये। राम गम्भीर हो कुछ सोच रहे थे। मित्रगण के हर्ष का पार न था, यहाँ तक कि हर्षातिरेक से उनके मुख से शब्द ही नहीं निकलते थे। हर्ष और शोक के आधिक्य में स्वभावत: कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है। राम के मित्रों का भी गला हर्ष के कारण रुंध गया था। वे बधाई देने के लिए बोलने की चेष्टा करते थे फिर भी हर्ष के अतिरेक से बोल नहीं पाते थे।

अपने मित्रों को इस अवस्था देखकर चतुर रामचन्द्रजी समझ गये। उस समय भी उनकी गम्भीर मुखाकृति स्पष्ट दिखाई देती थी। उन्हों ने कहा—आप लोगों के चेहरे से ही यह प्रकट है कि आप हर्षमान हैं और उस हर्ष का कुछ भाग मुझे देने आये हैं। जब आप हर्ष देने आये ही हैं तो फिर इतना विलम्ब क्यों? आप तो मौन साधे हुए हैं।

रामचन्द्र की बात सुनकर उनके मित्रों ने बोलने की बहुत चेष्टा की, फिर भी उन्हें मालूम हुआ जैसे उनकी जीभ पर किसी ने ताला लगा दिया है। किसी ने कुछ भी न कहा।

तब रामचन्द्र ने उन्हें फटकार बतलाते हुए कहा—सम्पत्ति और विपत्ति के समय इस प्रकार हर्ष या विषाद करना बुद्धिमानों को नहीं सोहता। यह तो मूर्खों का काम है। बुद्धिमान् वही है जो प्रत्येक परिस्थिति में समभाव धारण करता है। अगर आप सम्पत्ति में हर्ष मानेंगे तो कल विपत्ति में विषाद भी आपको घेर लेगा! जो सम्पत्ति को सहज भाव से ग्रहण करता है, वह विपत्ति को भी उसी भाव से ग्रहण करने में समर्थ होता है। विपत्ति की कथा

उसे छू नहीं सकती। संसार तो सुख-दुःख और सम्पत्ति-विपत्ति के सम्मिश्रण से ही है। यह सब साधारण घटनायें हैं। इनमें हर्ष शोक का अनुभव करना सच्चे ज्ञान का फल नहीं है।

रामचन्द्र का यह विवेचन सुनकर मित्रों की जीभ खुली। वे बोले—राजा और प्रजा ने मिल कर आपको राज्य देने का विचार किया है। कल आप अवध के राजा होंगे। हम लोग यही बधाई देने के लिए आये हैं।

मित्रों की बात सुनकर राम की गम्भीरता कुछ और बढ़ गई। उस गम्भीरता ने उदासी का रूप धारण कर लिया। राम को उदास देख बधाई देने आये हुए मित्रों का हर्ष समाप्त-सा हो गया। उन्होंने रामचन्द्रजी से पूछा—'आप इतने गम्भीर क्यों हो रहे हैं? आपके मुख पर सदैव जो स्मित दृष्टिगोचर होता था, आज इसमें वृद्धि होने के बदले ह्रास क्यों हो गया है? इसका क्या कारण है? राज्य प्राप्ति के इस अपूर्व आनन्दमय अवसर पर आप उदास क्यों जान पड़ते हैं?'

रामचन्द्रजी ने कहा—'आप लोगों को मेरे उदास होने का कारण मालूम नहीं है। आप नहीं जानते कि मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है? राज्य करना मेरे जीवन का साध्य नहीं है। अधर्म का नाश करके संसार में धर्म की स्थापना करना ही मेरे जीवन की एक मात्र साधना है।

इस समय धर्म का नाश हो रहा है और अधर्म फैल रहा है। मुझे अधर्म के स्थान पर धर्म की प्रतिष्ठा करना है। धर्म का उत्थान करना ही मेरा ध्येय है। क्या तुम लोग नहीं देखते कि

ससार में कैसा अधर्म छाया हुआ है ? मनुष्य क्या करने के लिये जन्मे हैं और क्या कर रहे हैं ?

मैं अधर्म में पड़े हुए मनुष्यों की उन्नति का उपाय सोचता था, इतने में ही मुझे खबर मिली कि मैं कल राज्य के पींजरे में डाला जाऊंगा । आप लोग इस प्रकार खेदजनक खबर लाकर के भी हर्ष मना रहे थे, यह और आश्चर्य की बात है । आप लोगों ने राज्य को सुख का चिह्न समझा है और मेरी समझ में राज्य बन्धन है ।

रामचन्द्र की बात सुनकर उनके मित्रों की प्रसन्नता भी हवा हो गई । वह मन ही मन विचार करने लगे—रामचन्द्रजी की सेवा में हम तो इसलिए उपस्थित रहते थे कि राजा होने पर हमें भी कोई अच्छा-सा ऊंचा पद मिल जायगा । लेकिन जब वह शुभ समय आया और हम उन्हें बधाई देने आये तो यह कहते हैं—राज्य बन्धन है ! अब हमें क्या करना चाहिए ?

मित्रों ने प्रकट में कहा—आप राज्य को बन्धन क्यों कह रहे हैं ? राज्य मिलने पर और राजसत्ता प्राप्त होने पर क्या नहीं किया जा सकता ? आप जो कार्य करना चाहते हैं, वह राजसत्ता की बदौलत तो और भी सहूलियत से होगा । राजसत्ता पाकर आप सभी कुछ कर सकते हैं ।

राम ने उत्तर दिया—राज्य करना और राजसत्ता के बल पर सुधार करना साधारण मनुष्य का कार्य है । ससार के उत्थान का महान् कार्य इस प्रकार नहीं हो सकता । जिन प्राचीन महापुरुषों ने यह गुरुतर कार्य किया, उन्होंने प्राप्त राज्य को भी पहले

ठुकरा दिया था। तभी उन्हें अपने महान् उद्देश्य में पूर्ण सफलता मिल सकी। राज्य करना कोई बडी बात नहीं है। यह तो भरत या लक्ष्मण भी कर सकते थे। फिर उन्हें राज्य न देकर मुझे ही क्यों इस बन्धन में बाँधा गया है।

मित्रगण कहने लगे—आप भी क्या उलटी गंगा बहाना चाहते हैं। बडे पुत्र को राज्य देने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। बड़े आप हैं, भरत या लक्ष्मण बड़े नहीं हैं। ऐसी अवस्था में आप को राज्य न देकर उन्हें देना अनुचित होगा। हो सकता है कि राज्य पाने का निश्चय होने पर आप ऐसा कह रहे हैं, लेकिन भरत को राज्य मिलने पर शायद आप ही कहने लगते कि राज्य का अधिकारी तो मैं था, भरत को क्यों राज्य दिया गया।

राम बोले—'आपके कथन का अर्थ यह हुआ कि बड़े को राज्य लेना चाहिए, देना नहीं चाहिए। लेकिन मेरी समझ में यह नहीं आता कि अगर मैं दूँ तो क्या मेरा बड़प्पन चला जायगा? बड़प्पन देने में है या लेने में है?' दाता बडा है या लेने वाला याचक?

'दाता।'

लेकिन आजकल घर की लडाई मिटाने के लिए बडा भाई अपना हक छोटे भाई को देता है? सिर पर आ पडते ही यह बात याद नहीं रहती। लेने में अपने आपको बड़ा समझ लेना ही पतन का कारण है। ज्ञानी पुरुष कहते हैं—'लेन से कोई बड़ा नहीं होता, बड़प्पन तो देने में ही है।'

या निशा सर्वभूताना तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्या जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

—गीता ।

अज्ञान पुरुष जिसे रात कहते हैं, ज्ञानी उसे दिन कहते हैं और ज्ञानी जिसे दिन कहते हैं, उसे अज्ञानी रात कहते हैं। यह प्रथा सदा से चली आती है। इसी के अनुसार अज्ञानी लोग लेने वाले को बड़ा समझते हैं और ज्ञानवान् पुरुष देने वाले को बड़ा कहते हैं।

रामचन्द्र अपने मित्रों से कहते हैं—'आपके कथनानुसार राज्य बड़े लड़के को मिलना चाहिए। वह छोटे बेटे को नहीं दिया जा सकता। छोटे लड़के को देना उलटी गंगा बहाना है। लेकिन मेरी समझ में यह नियम ही उलटा है।'

मैं रामचन्द्र की जिस भावना को यहाँ प्रकट कर रहा हूँ, वह मेरी कल्पना नहीं है। इसकी साक्षी मौजूद है। तुलसीदास जी रामायण में कहते हैं —

विमल वंश यह अनुचित एकू, बंधु विहाय बड़ेहि अभिषेकू ।
प्रभु सप्रेम पछतानि सुहाई, हरउ भक्त मन की कुटिलाई ॥

तुलसीदासजी की इन दो चौपाइयों की ही यह व्याख्या है।

राम कहते हैं—'तुम लोग कहते हो, छोटे को राज्य देने का नियम नहीं है, इसलिए छोटे को राज्य देना अनुचित होगा; लेकिन मैं कहता हूँ-निर्मल सूर्यवंश में यही एक अनुचित प्रथा

है कि छोटे भाइयों को छोडकर बड़े को राज्य दिया जाय। मैं इस प्रथा को निष्कलंक सूर्यवंश का कलंक मानता हूँ।'

गुलिस्तां में एक कहानी आई है। एक अमीर अपने बाएं हाथ की छोटी अंगुली में अंगूठी पहने था। किसी गरीब ने उसके पास आकर पूछा—'दाहिना हाथ बड़ा होता है या बायां ?' अमीर ने उत्तर दिया—'जो हाथ ज्यादा काम करता है, इस कारण वही बड़ा माना जाता है।' तब गरीब ने कहा—तो आपने अंगूठी बायें हाथ में क्यों पहन रक्खी है ? दाहिने हाथ को क्यों नहीं पहनाई ? अमीर बोला—मैंने पहले ही कहा कि जो ज्यादा काम करे, वही बड़ा है। जो छोटे से काम कराता है, वह बड़ा नहीं है। मैंने बायें हाथ में अंगूठी पहन रक्खी है, इससे दाहिने हाथ का बड़प्पन आप ही प्रकट हो जाता है। छोटे को देना ही तो बड़प्पन है। बड़प्पन और क्या है। मैंने दुनिया को यही सीख देने के लिए बायें हाथ में अंगूठी पहनी है। इससे यह जाहिर हो जाता है कि छोटे को शृंगार करा दो, जिससे बड़े के बड़प्पन को धक्का न लगे।

गरीब ने फिर अमीर से पूछा—अच्छा, यह अंगूठी बड़ी उंगली को पहना कर सबसे छोटी को किसलिए पहनाई है ?

अमीर ने कहा—दाहिना हाथ बड़ा और बायाँ हाथ छोटा है, यह बात तो मैं बता ही चुका हूँ, लेकिन यह और जान लो कि इस हाथ में यह उंगली सबसे छोटी है। सबसे छोटी होने के कारण ही इसे अंगूठी पहना रक्खी है। छोटे की सार सँभाल करने वाला ही बड़ा कहलाता है।

जो बड़ा कहलाने वाला पुरुष इस बात का ध्यान रखता है, वह नीचे नहीं गिरता, किन्तु चढता जाता है। यद्यपि बड़प्पन और छुटपन सापेक्ष है तथापि छोटों की रक्षा करने वालों का बड़प्पन बढता ही है, घटता नहीं।

माया से माया मिली, कर-कर लम्बे हाथ।
तुलसीदास गरीब की, कोई न पूछे बात ॥

आजकल दुनिया में यही हिसाब चल रहा है। बड़े, बड़े से आदर के साथ मिलते हैं लेकिन छोटे की कोई बात भी नहीं पूछता।

अमीर की बात सुनकर गरीब ने कहा—'आप के विचार बड़े उत्तम हैं, इसी कारण आप बड़े हैं। जो मनुष्य अपने शरीर के सम्बन्ध में भी ऐसा विचार रखता है, वह छोटों को क्यों नहीं बढ़ाएगा ?

गुलिस्ता की यह कल्पना सुन्दर है मगर गुलिश्ता से बहुत पहले भारत के साहित्य में ऐसी बातें पाई जाती हैं। रामचन्द्र कहते हैं—

विमल वंश यह अनुचित एकू, बन्धु विहाय बडेहिं अभिषेकू ॥

बडे को राज्य दिया जाय, छोटे को नहीं यह सूर्यवंश की परम्परा अनुचित है। यह अविश्वास का कारण है। सगे भाइयों में यह भेदभाव क्यों ? क्या दाहिना हाथ अपना है और बायाँ हाथ पराया है ? जिसे इस बात पर विश्वास है कि देने से लक्ष्मी बढ़ती है, वह ऐसा विचार कदापि नहीं करेगा। देना क्या है ?

स्वस्यातिसर्गो दानम् ।

किसी वस्तु पर अपनी सत्ता का उत्सर्ग कर देना ही दान है। दान से लक्ष्मी बढती है, घटती नहीं है।

राज्य प्राप्ति के अवसर पर राम का इस प्रकार पछताना भक्त के मन की कुटिलता हरने वाला है। राम ने पछता कर भक्त के मन की कुटिलता का हरण किया है। इस पछतावे में गीता की यह बात भी आ जाती है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाशान्तिरार्जवम् ।

कुबेर के खजाने जैसा खजाने वाला राज्य मिलने पर भी पछताना भक्तों के मन की कुटिलता हरने के लिए है। इससे उन्हें सम्पत्ति मिलने पर अभिमान न करने की शिक्षा दी गई है।

राम ने राज्य पाने पर भी अभिमान नहीं किया था, वरन् अपने मित्रों का अभिमान हरने के लिए पश्चाताप किया था, लेकिन आप लोग जरा अपनी ओर नजर फेरिये। आपको नया जूता पहनने से ही तो अभिमान नहीं आता? नया जूता पहनने से जिनके हृदय में अहंकार जाग उठता है, वे किसके भक्त हैं? राम के या दाम या चाम के?

रामचन्द्र का आदर्श सामने रखकर परमात्मा से प्रार्थना करो-' हे प्रभो! मेरे मन की कुटिलता हरो। मेरे अन्तःकरण में अभिमान का अंकुर न उगे।'

मनुष्य मात्र निरभिमान होकर नीचे गिरे हुए लोगों को

ऊपर उठाने लगें और दूसरों के हित के लिए अपने स्वार्थों का बलिदान करना सीख ले तो घर-घर में राम राज्य हो जाए।

राज्य की तृष्णा और वैभव की वाञ्छा ने ही संसार को नरक बना छोड़ा है। जिस दिन सभी लोग न्याय अन्याय को समझकर न्यायपथ का अवलम्बन करेंगे, अन्याय से दूर रहेंगे और प्राणीमात्र को अपना बन्धु समझ कर उनके सुख में सुख और दुःख में दुःख अनुभव करने लगेंगे, तभी राम की इस पवित्र भूमि पर राम-राज्य की प्रतिष्ठा होगी।

१७
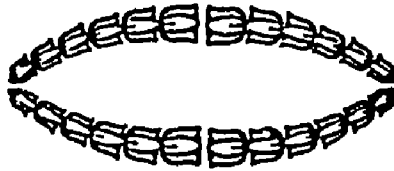
शिक्षा

—••●••—

शिक्षा का विषय बहुत महत्व पर्ण है। मनुष्य अनन्त शक्तियों का तेजस्वी पुञ्ज है। मगर उसकी शक्तियाँ आवरण में लिपटी हुई हैं। उस आवरण को हटाकर विद्यमान शक्तियों को प्रकाश में लाना शिक्षा का ध्येय है। मगर शिक्षा शक्तियों के विकास एव प्रकाश में ही कृतकृत्य नहीं हो जाती। शिक्षा कार्य मानवीय सामर्थ्य को विकसित कर देना ही नहीं है। शक्तियों के विकास के साथ उसका एक और महान् कर्त्तव्य है। वह यह कि मनुष्य को शिक्षा ऐसे साँचे में ढाल दे कि वह अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न करके सदुपयोग ही करे।

सिर्फ शक्ति का विकास हो जाना कल्याणकारी नहीं है। आततायियों से अबला की रक्षा करने वाले में भी शक्ति की आवश्यकता है और अबला की रक्षा करने वालों का गला काट कर अबला को सताने वाले में भी शक्ति अपेक्षित है। प्रत्येक अच्छे काम में अगर सामर्थ्य आवश्यक है तो बुरे काम में भी शक्ति चाहिए ही। बिना शक्ति के कोई बुरा काम भी नहीं होता। इस

प्रकार शक्ति अपने आप में कोई महत्वपूर्ण वस्तु नहीं है, मगर शक्ति की सार्थकता उसके सदुपयोग में है। अशक्ति की अपेक्षा शक्ति अच्छी चीज है, मगर शक्ति का सदुपयोग ही हितावह है, इसमें सन्देह नहीं।

यदि शिक्षा मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाने के लिए है तो उसे दोनों उत्तरदायित्व निभाने होंगे—दबी हुई शक्तियों का विकास भी करना होगा और उनके सदुपयोग की ओर भी मनुष्य को झुकाना होगा। अजकल बहुत से लोग पहली बात को तो स्वीकार करते हैं मगर दूसरी को नहीं। वह शक्ति-विकास तो आवश्यक समझते हैं, मगर उसके उपयोग के विषय में उपेक्षा बतलाते हैं। इस कारण शिक्षा से जो लाभ होने चाहिए, वह नहीं हो रहे हैं और संसार में गड़बड़ मच रही है।

आजकल बहुत-सी पाठशालाएँ खुली हुई हैं और लोग उन्हीं पाठशालाओं में अपने बच्चों को पढ़ाकर ज्ञानी बनाने की आशा करते हैं। मगर समझदारों को सदैव यह भय रहता है कि यह पाठशालाएँ सज्ञान बनाने के बदले कहीं पठितमूर्ख तो तैयार नहीं करतीं ?

पढ़ाई किस प्रकार होनी चाहिए, आर्य-शिक्षा का प्राचीन काल में क्या स्वरूप था और आजकल क्या है, यह लम्बा विषय है। संक्षेप में यही समझ लेना चाहिए कि शिक्षा ऐसी होना चाहिए, जिससे पढ़ने वाले का कल्याण हो। शिक्षा के विषय में अध्यापक और विद्यार्थी—दोनों वर्ग जिम्मेवार हैं, किन्तु विद्यार्थियों की अपेक्षा शिक्षकों पर अत्यधिक उत्तरदायित्व है। जो लोग

अपने बच्चों को पढ़ाते हैं, उनकी एक मात्र यही इच्छा होती है कि बच्चा सुधर जाय। इसी उद्देश्य से वे बच्चे को अध्यापक के सुपुर्द करते हैं। ऐसी दशा में अध्यापकों को अपनी छत्र-छाया में रहने वाले छात्रों के प्रति अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए। विद्यार्थी के भविष्य का बहुत दारमदार अध्यापक पर ही है। वह चाहें तो विद्यार्थी का जीवन संग्राम के लिए सामर्थ्य वीर बना सकते हैं और यदि चाहें तो विद्या के नाम पर मूर्खता की ऐसी शिक्षा दे सकते हैं, जो जन्म भर निकले ही नहीं। इसी लिए कहा जाता है कि अध्यापकों के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है।

यद्यपि माता-पिता का भी बालकों के सुधार में बड़ा हाथ है, किन्तु अध्यापकों की अपेक्षा कम है। माता-पिता की जिम्मेदारी कच्चा माल पैदा करने की जिम्मेदारी के सदृश है। एक किसान कपास पैदा करता है। उसकी जिम्मेदारी यही है कि वह भली भाँति कपास तैयार करदे। इसके पश्चात् जो व्यक्ति रुई औटकर उससे वस्त्र तैयार करता है, उस पर बड़ी भारी जिम्मेदारी रहती है। यह उसी का कार्य है कि वह उस वस्त्र को लज्जा की रक्षा करने के काबिल बनावे।

बालकों के विषय में यही बात है। उनके विषय में भी दो जिम्मेदारियाँ है—एक कच्चा माल तैयार करने की और दूसरी पक्का माल बनाने की। माता-पिता बच्चों में अच्छे संस्कार डाल कर उनका पालन पोषण करके अध्यापकों को सौंप देते हैं। यह कच्चा माल तैयार करना कहलाया। अब उसे पक्का बनाने का उत्तरदायित्व अध्यापकों पर आता है। वे उसे एक आदर्श व्यक्ति बना सकते हैं, ताकि वह अच्छे कपड़े की तरह अपने देश और

अपनी सभ्यता की रक्षा कर सके। अगर न्होंने ऐसा नहीं किया वही छात्र ससार के लिए लज्जाहरण करने वाले वस्त्र की भॉति बुरा सिद्ध हो सकता है।

मगर दु ख के साथ यह देखा जाता है कि समाज में अध्यापक के महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व के अनुरूप उसकी प्रतिष्ठा नहीं है। उसे दूसरे लोग तनख्वाह पाने वाले अन्य कर्मचारियों के समान ही समझते हैं और स्वय अध्यापक में भी यही भावना घर कर गई है कि हम वेतन देने वाले के नौकर हैं। आज अधिकॉश शिक्षक जैसे-तैसे अपने घटे पूरे करते हैं। उन्हें अपने विद्यार्थी के सुधार और बिगाड से कोई मतलब नहीं रहता। स्कूल की छुट्टी हुई और साथ ही अध्यापक ने अपने कर्त्तव्य से छुट्टी पाई। ऐसा वेदर्द व्यवहार करने वाले अध्यापक, सच्चे शिक्षक नहीं कहे जा सकते। कहना चाहिए कि उन्होंने पठन-पाठन का महत्व नहीं समझ पाया है। वे लोग अध्यापकी का व्यवसाय करके पेट पालना चाहते हैं, गुरु पद की महत्ता उन्होंने नहीं समझी। ऐसे अध्यापक यह नहीं सोचते कि इन कोमल बुद्धि वालकों का जीवन हमारे जिम्मे सौंपा गया है, अतएव पूर्ण उद्योग के साथ उन्हें सुधारना हमारा पवित्र कर्त्तव्य है। अगर हमारी लापरवाही के कारण बालक का सुधार नहीं होता तो हम बालक के प्रति उसके सरक्षक के प्रति, जाति, देश, समाज और विश्व के प्रति विश्वासघाती ठहरेंगे। सारे ससार की भलाई और बुराई जिन व्यक्तियों पर निर्भर है, उनको घड़ने का काम साधारण नहीं है।

अध्यापक की स्थिति को भी मैं भली भाँति जानता हूँ। शिक्षा के संचालन करने में वह कितने स्वाधीन हैं,-यह भी छिपी हुई बात नहीं है। सरकारी शिक्षा संस्थाओं का उद्देश्य और उनकी पद्धति सरकार ने नियत कर दी है। सरकार अपने एक विशेष उद्देश्य की पूर्त्ति इन संस्थाओं से करना चाहती है। उसे निठल्ले और क्लर्की का काम करने वाले आदमी चाहिए। शिक्षा-संस्थायें ऐसे आदमी तैयार करने के कारखाने हैं। इन संथाओं में शिक्षक स्वाधीन भाव से कुछ कर नहीं पाते।

सरकारी स्कूलों और कॉलेजों के सिवाय हमारे यहाँ कुछ थोड़ी-सी स्वतंत्र शिक्षा संस्थायें हैं। यह संस्थायें धनवानों की सहायता पर निर्भर हैं। उनके पदाधिकारी अफसर शिक्षण-शास्त्र से अनभिज्ञ होते हैं और अध्यापकों को उनके इशारे पर चलना पड़ता है। ऐसी संस्थाओं के शिक्षक भी स्वेच्छापूर्वक कोई विशेष कार्य करने में असमर्थ रहते हैं।

अलबत्ता जिन शिक्षासंस्थाओं के शिक्षक स्वाधीनता पूर्वक कार्य कर पाते हैं वहाँ छात्रों के जीवन निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। मगर ऐसी संस्थाओं की संख्या नगण्य है। अधिकांश संस्थायें तो उपर्युक्त प्रकार की ही हैं।

इतना होते हुए भी उन संस्थाओं के शिक्षक, विद्यार्थियों के जीवन निर्माण में बहुत कुछ भाग ले सकते हैं। विद्यार्थियों के जीवन को सुधारने के लिए उनमें योग्य संस्कार डालना उनके लिए अशक्य नहीं है। किन्तु अध्यापक स्वयं ही उस ओर ध्यान नहीं देते। अध्यापक अपने जीवन-निर्वाह के लिये वेतन लेते हैं,

यह कोई बुराई नहीं है और परिस्थिति देखते हुए आवश्यक भी है, किन्तु उनमें अपने आपको तथा वेतन देने वालों से उनके प्रति हीनता का—गुलामी का—जो भाव आगया है, वह एक बहुत बडी बुराई है।

प्राचीन-काल मे आजकल की भांति क्रय विक्रय नहीं होता था। गुरुजन अपने शिष्यों को उदारतापूर्वक विद्यादान देते थे और शिष्यगण श्रद्धापूर्वक उसे ग्रहण करते थे प्राचीन-काल का इतिहास देखने पर विद्या के लेन-देन का क्रम और ही प्रकार का प्रतीत होता है।

भगवान् महावीर भी अध्यापक के पास विद्या पढने भेजे गये थे। यद्यपि तीर्थङ्करों को जन्म से ही तीन ज्ञान होते हैं और वे गर्भावस्था से ही ससार को जानने देखने लगते हैं, मा के पेट में ही सब विद्याये लेकर उत्पन्न होते हैं, फिर भी पिता ने अपना कर्त्तव्य समझ कर उन्हें पण्डित के पास पढ़ने के लिए बिठलाया। पिता ने बडी धूमधाम के साथ उन्हें पण्डित के यहां भेजा। भगवान् जन्म जात ज्ञानी थे, किन्तु उन्होंने पढने जाने से इन्कार करके माता-पिता का अविनय नहीं किया। वे प्रसन्नता-पूर्वक चले गये। पढाई का यह कायदा है कि गुरु ऊँचा बैठता और शिष्य नीचे। भगवान् इन्द्र द्वारा पूजित थे, परन्तु अध्यापक के सन्मुख नीचे बैठने में उन्हें कुछ भी आपत्ति नहीं हुई। अपने माता-पिता को सन्तुष्ट करने के लिए वह नम्रतापूर्वक अध्ययन करने लगे। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि विनय करने से बड़प्पन घटता नहीं है बल्कि बढ़ता है। भगवान् नीचे बैठकर अध्यापक से पढने लगे। पण्डितजी जिस तरह कहते थे, भगवान उसी तरह पढते

थे। इस असीम नम्रता के द्वारा भगवान् ने हमें शिक्षा दी है कि जिसे हम अपना गुरु मान लें, उसके प्रति हमें कैसा व्यवहार करना चाहिए।

आखिर यह बात कब तक छिपी रह सकती थी! कभी न कभी वह प्रकट होने ही थी। उसी दिन इन्द्र ने ब्राह्मण का वेष बनाया और वह पंडितजी के पास आया। ब्राह्मण वेषी इन्द्र ने पंडितजी से व्याकरण संबंधी कुछ प्रश्न पूछे। प्रश्न इतने कठिन थे कि पंडितजी उनका समाधान करने में समर्थ न हो सके। वह मन ही मन घबराये। भगवान् ने पंडितजी की यह दशा देखकर, उनकी लज्जा बचाने के लिए इन्द्र से कहा—'अजी, यह प्रश्न पंडितजी से क्यों पूछते हो? इन साधारण से प्रश्नों का समाधान तो इनका शिष्य (मैं) ही कर सकता है। लो, सुनो। मैं इनका उत्तर देता हूँ।' यह कहकर भगवान् ने प्रश्नों का समाधान कर दिया। कहा जाता है—भगवान् के मुख से उस समय जो वचनधारा निकली थी, उसी से जैनेन्द्र व्याकरण की रचना हुई थी।

भगवान् के मुख से उत्तर सुनकर इन्द्र तो चलते बने मगर पंडितजी के आश्चर्य का पार न रहा। उन्होंने भगवान् से कहा—'प्रभो! मैं आपको पहचानता नहीं था। अब पहचान गया कि आप कैसे हैं! अविनय के लिए मुझे क्षमा कीजिए। मैं साधारण संसारी प्राणी हूँ। आप विज्ञ हैं। अनजान में जो अपराध हुआ, उसके लिए मुझे पश्चाताप है।'

भगवान् यद्यपि लोकोत्तर ज्ञानी थे—अवधि ज्ञान के धारक थे, तथापि उन्होंने अपने गुरु का सम्मान किया। उन्होंने अपने

अध्यापक से यह न कहा कि मैं तुमसे अधिक ज्ञानी हूँ। ऐसे विनीत विद्यार्थी और कर्त्तव्यनिष्ठ अध्यापक हों तो किस बात की कमी रह जाय ? आज की दशा तो यह है कि स्कूल या पाठशाला छोड़ने के बाद फिर कभी गुरू का समाचार पूछने की ही आवश्यकता नहीं मालूम होती। वे मरें या जीयें, छात्रों को उनसे कोई मतलब नहीं। इस भावना के परिणाम-स्वरूप विद्यार्थियों की भी कुछ कम दुर्दशा नहीं है। पढ़कर निकलते ही उन्हें पेट भरने की और नौकरी पाने की चिन्ता घेर लेती है।

जो विद्या बेगार के रूप में पढ़ी और पढ़ाई जाती है, वह गुलामी नहीं तो क्या स्वाधीनता सिखलायेगी ?

शिक्षा के सम्बन्ध में प्राचीन काल का एक उदाहरण और लीजिए। श्रीकृष्णजी इतिहास में प्रसिद्ध महापुरुषों में से एक है। वे बहुत बड़े राजा के पुत्र थे महापुरुष होने के कारण उन में बहुत अधिक समझ थी। फिर भी माता-पिता का आग्रह मान कर वह सान्दीपनि ऋषि के पास पढ़ने गये। इन्हीं ऋषि के पास सुदामा नामक एक गरीब ब्राह्मण विद्यार्थी भी पढ़ता था। कृष्णजी को उससे प्रेम हो गया। दोनों गाढ़े मित्र बनकर रहने लगे।

संयोगवश एक दिन गुरू कहीं चले गये और घर में जलाने की लकड़ी नहीं थी। लकड़ी के अभाव में गुरुपत्नी भोजन नहीं बना सकती थी। यह देखकर कृष्णजी अपने मित्र सुदामा को साथ लेकर लकड़ी लाने के उद्देश्य से जंगल की ओर चल दिये। दोनों जंगल में पहुँचे। वहाँ लकड़ियाँ तोड़ कर या काटकर जब दोनों ने भारे बाँधे तो बड़े जोर से वर्षा होने लगी। रात भर

वर्षा होती रही। वर्षा के कारण कृष्ण और सुदामा लकड़ियाँ लिए वृक्ष के नीचे खड़े रहे।

मूसलधार पानी बरस रहा था तेज आँधी चैन नहीं लेती थी। मेघों की भयंकर गर्जना कानों के परदे फाड़ने को तैयार थी। बिजली कड़क रही थी। घोर अंधकार चारों ओर फैला था। हाथ को हाथ नहीं दीखता था। ऐसे समय में दो बालक पेड़ के नीचे खड़े ठिठुर रहे थे। वर्षा और आँधी से यद्यपि उन्हें बड़ा कष्ट हो रहा था तथापि उनके मन मैले नहीं थे। अपने कष्टों की उन्हें चिन्ता नहीं थी। उन्हें चिन्ता थी तो केवल यही कि हम लोगों के समय पर न पहुँच सकने के कारण 'आज आचार्य के घर रोटी न बन सकी होगी और उन्हें भूखा रहना पड़ा होगा।' कृष्णजी रात भर अपने साथी सुदामा से इसी प्रकार की बातें करते रहे।

प्रातःकाल होने पर गुरु अपने घर आये। विद्यार्थियों को न देखकर अपनी पत्नि से पूछा। पत्नि ने उत्तर दिया—कृष्ण और सुदामा लकड़ी लेने के लिये कल से ही जंगल में गये हैं और वर्षा तथा आँधी के कारण अब तक नहीं लौटे। यह सुनकर गुरु नाराज होने लगे। कहा—तुमने बच्चों को लकड़ी लाने के लिए भेजा ही क्यों?

गुरुपत्नी ने कहा—मना करती रही, फिर भी वे लोग चले गये।

गुरु तत्क्षण जंगल की ओर चल पड़े। जंगल में जाकर उन्होंने देखा—कृष्ण और सुदामा दोनों पेड़ के नीचे खड़े ठिठुर रहे हैं। उन्हें देखकर आचार्य ने कहा—'वत्स! मैं तुम लोगों को

क्या पढ़ाऊँ ? विद्या के अध्ययन से जो गुण उत्पन्न होने चाहिए, वह तो तुम लोगों में मोजूद ही हैं। देखो न, बेचारा सुदामा इस विपत्ति से कितना घबरा गया है। तुम (कृष्ण) महापुरुष हो, इस कारण घबराये नहीं और सदा की भाँति प्रसन्न दीख पड़ते हो।' इतना कह कर आचार्य उन्हें घर ले गये।

विद्यार्थी की अपने गुरु के प्रति कैसी श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिए, उसका आदर्श इस कथा में बतलाया गया है। साथ ही यह भी प्रकट किया गया है कि अध्यापकों में और विद्यार्थियों में यह बात कहाँ !

पूर्वकाल में शिक्षा की क्या दशा थी, यह देखने के लिये शास्त्रों की ओर ध्यान दीजिये। ठाणांगत्र (३ रे ठाणे) में भगवान् महावीर कहते हैं:—

तउ दुष्पडियारा पन्नत्ता, समणाउसो तंजहा-अम्मा पि उणो।

भगवान् ने अपने शिष्यों से कहा—शिष्यों ! तीन के ऋण से मनुष्य सरलता पूर्वक उऋण नहीं हो सकता।

शिष्यों ने कहा—भगवान् ! अनुग्रह करके बतलाइए—वह तीन कौन कौन हैं ?

भगवान् बोले—माता-पिता, जिसकी सहायता से बढ़े वह स्वामी और धर्माचार्य। इन तीन के ऋण से मुक्त होना अत्यन्त कठिन है।

आज कल के शिक्षकों को भी इन तीन प्रकार के ऋणों के भार की शिक्षा देकर विद्यार्थियों को इनसे उऋण होने के योग्य

बनाना चाहिए। विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा न दी जाय कि वह इनके प्रति कृतज्ञ होने के बदले कृतघ्न बनें।

पहला ऋण कितना है, यह बात विद्यार्थियों को भलीभाँति समझना चाहिए। छात्रों के विद्यालय में आने और शिक्षा ग्रहण करने का यह फल अवश्य होना चाहिए, वे माता-पिता के साथ अपने सम्बन्ध और उनके प्रति अपने कर्त्तव्य को भली भाँति समझें। साथ ही धर्म कर्म और नीति आदि की समुचित शिक्षा ग्रहण कर सकें। इन सब प्रकार की शिक्षाओं के द्वारा बालकों को विनीत बनाना अध्यापकों का कर्त्तव्य है। बालक को भी विनीत बनना और अपने माता-पिता को अपना सर्वस्व मान कर उनकी सेवा में चित्त लगाना उचित है। शास्त्र में माता-पिता के ऋण से मुक्त होना बड़ा भारी कार्य बतलाया गया है। कहा गया है कि—अगर पुत्र प्रतिदिन सवेरे उठ कर सुन्दर तेलों से माता-पिता की मालिश करे, सुगन्धित उबटन लगावे। स्वच्छ और सुगन्धिमय जल से उन्हें स्नान करवाकर कोमल वस्त्र से उनका शरीर पोंछे। इसके पश्चात् उन्हें सुन्दर वस्त्रालंकार और सरस भोजन से सन्तुष्ट करे, तदुपरान्त कंधे पर बिठलाकर, श्रवण की तरह इधर-उधर फिराने, अपने मानापमान का ध्यान छोड़कर उन्हीं को अपना सर्वस्व माने। उन्हें ईश्वरवत् मान कर उनकी सेवा करते समय हृदय में रंच मात्र भी कभी विकार न आने दे, वाणी से भी उनका सम्मान करे। उनके समक्ष कभी भद्दे और अश्लील शब्दों का प्रयोग न करे। उनकी वाणी को परमात्मा की वाणी समझे। उनके सामने उच्च आसन पर न बैठे। जो वस्त्र उन्हें बुरा मालूम हो; वह न पहने और न उनकी इच्छा के विरुद्ध

भोजन करे। इस प्रकार सब तरह की सेवायें करता हुआ पुत्र अपने को धन्य माने।

गौतम स्वामी भगवान् से पूछते हैं—प्रभो! क्या इतनी सेवा करने से पुत्र, माता-पिता के ऋण से छुटकारा पा जायगा?

भगवान् ने उत्तर दिया—नहीं, गौतम! ऐसा नहीं हो सकता। इतना करके भी माता-पिता के ऋण से मुक्ति नहीं मिल सकती।

इस जगह आजकल एक नया तर्क उठाया जाता है। कुछ लोग कहते हैं।—जब इतनी सेवा करने पर भी माता-पिता का ऋण नहीं चुक सकता, तो स्पष्ट है कि उनकी सेवा करना पाप है।

जिस शास्त्र में इस प्रकार की शिक्षा दी जाती है, उसे लोग शास्त्र नहीं रहने देते, बल्कि उसे शस्त्र बना डालते हैं। धर्म के पवित्र नाम पर इस प्रकार अधर्म सिखलाने वाले संसार का क्या कल्याण कर सकते हैं? ऐसा कहने वाले लोग संसार को भुलावे में डालते हैं, लोगों को कर्त्तव्यभ्रष्ट बनाते हैं और संसार की घोर हानि करते हैं

आजकल कितने शिक्षक मिलेंगे जो अपने विद्यार्थियों से पूछते हों कि—तुम क्या खाते हो? क्या पीते हो? माता-पिता के प्रति विनयपूर्ण व्यवहार करते हो या नहीं? उनकी सेवा करते हो या नहीं? कठिनाई तो यह है कि आधुनिक शिक्षा में सदाचार को जैसे कोई स्थान ही नहीं दिया जाता! समय पर अध्यापक और विद्यार्थी आये। किताबें पढ़ी-पढ़ाईं और समय पूरा होने पर अपने-अपने रास्ते लगे। फिर न अध्यापकों को विद्यार्थियों से मतलब न विद्यार्थियों को अध्यापक से सरोकार।

मैं कहता हू और सभी विचारशील व्यक्ति कहते हैं कि सदाचार ही शिक्षा का प्राण है। सदाचार शून्य शिक्षा प्राण हीन है और उससे जगत का कल्याण कदापि नहीं हो सकता। ऐसी शिक्षा से जगत का कल्याण ही होगा। सदाचार-हीन शिक्षा ससार के लिए अभिशाप बनेगी, बनेगी क्या बल्कि बन रही है। इसी के कारण विश्व अशान्ति का अनुभव कर रहा है और जीवन विकट समस्या हो रहा है। सदाचार के अभाव में ज्ञान व्यष्टि और समष्टि दोनों में से किसी एक की भलाई नहीं कर सकता।

अध्यापक महानुभावो! आप अपने उत्तरदायित्व को समझें। आपने अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य अपने सिर पर लिया है। देश, जाति और धर्म का उत्थान एव पतन आपकी मुट्ठी मे है। आप राष्ट्र निर्माण की भूमिका तैयार कर रहे हैं, धर्म की उन्नति का बीज बो रहे हैं, नीति के मनोहर उद्यान को सींच रहे हैं। आप की बदौलत ससार को श्रेष्ठ विभूतिया प्राप्त हो सकती हैं। ससार का उत्थान करने वाली महान् शक्तियों के जन्मदाता आप ही हैं। आप मनुष्य शरीर के ढाचे में मनुष्यता उत्पन्न कर रहे हैं। इस लिये आपका पद ऊचा है। व्यवसायी-व्यापारी अपनी तिजोरी भरता है, दूसरे लोग अपना मतलब साधते हैं, मगर शिक्षक अपने ऊचे आदर्श पर डटा रहकर ससार के अभ्युदय में महत्व-पूर्ण योग देता है।

शिक्षक का पद जितना ऊचा है, उसका कर्त्तव्य भी उतना ही महान् है। और उसके कर्त्तव्य पालन मे ही उसकी महत्ता है। अन्य व्यवसाइयों की भांति केवल जीवन-निर्वाह के लिए शिक्षक का पद स्वीकार करने वाला व्यक्ति सच्चा शिक्षक नहीं कहा

जा सकता। से संयममय जीवन, नीतिमय व्यवहार और धर्ममय विचार रखने चाहिए। शिक्षक स्वयं सदाचारी होंगे तो उनके विद्यार्थी भी सदाचारी होंगे। शिक्षक बीड़ी सिगरेट पीयेंगे तो विद्यार्थी भी यही करेंगे। कदाचित पैसे का सुभीता न हुआ, तो कागज की बीड़ी बना कर उसे पीना आरम्भ करेंगे और फिर असली पीने लगेंगे। अध्यापक गन्दी बातें करेंगे, बुरा व्यवहार और बुरा आचरण करेंगे। तो छात्र भी ऐसा ही करेंगे वे बिगड़ने के सिवाय सुधर नहीं सकते।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि अध्यापक वेतन भले ही ले मगर वेतन लेने के लिए ही उन्हें अध्यापकी नहीं करना चाहिए? उन्हें यह समझना चाहिए कि मैं इस कार्य के द्वारा अपना कर्त्तव्य पालन करके इहलोक और परलोक की साधना कर रहा हूँ।

विद्यार्थी प्राय अध्यापक की नकल होता है। यद्यपि इसमें अनेक अपवाद हो सकते हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि अध्यापक मे जो दोप होंगे, वे विद्यार्थी में भी आ जाते हैं। दुधमुँहे बच्चे की नाड़ी देख कर यह जाना जा सकता है कि उसकी मा ने क्या खाया था? इसी प्रकार विद्यार्थी का दोप देख कर अध्यापक के दोप का पता लगाया जा सकता है। अतएव अध्यापक को स्वय ऊचे आदर्श का धनी होना चाहिये और माता-पिता की तरह बालकों को सुधार कर सच्चरित्र बनाने का ध्यान रखना चाहिए। अगर अध्यापक इस प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन करें तो थोड़े ही दिनों मे ससार का रूपान्तर हो सकता है।

बहुत कम माता-पिता शिक्षा के वास्तविक महत्त्व को सम-

झते हैं। अधिकाश माता-पिता शिक्षा को आजीविका का मदद्-गार अथवा धनोपार्जन का साधन मान कर ही अपने बच्चों को शिक्षा दिलाते हैं। इसी कारण वह शिक्षा के विषय में भी कंजूसी करते हैं। लोग छोटे बच्चों के लिए कम वेतन वाले, छोटे अध्यापक नियत करते हैं। किन्तु यह बहुत बड़ी भूल है। छोटे बच्चो मे अच्छे संस्कार के लिए वयस्क अनुभवी अध्यापक की आवश्यकता होती है।

एक यूरोपियन ने अपनी लडकी को शिक्षा देने के लिये एक विदुषी महिला नियुक्त की। उनमे एक सज्जन ने पूछा-आपकी लड़की तो बहुत छोटी है और प्रारंभिक पढ़ाई पढ़ रही है, उसके लिये इतनी बड़ी विदुषी की क्या आवश्यकता है? उस यूरोपियन ने उत्तर दिया आप इसका रहस्य नहीं समझ सकते। छोटे बच्चों में जितने जल्दी अच्छे संस्कार डाले जा सकते हैं, बड़ों में नहीं। यह बालिका अच्छा शिक्षण पाने से थोड़े ही दिनों में बुद्धिमती बन जाएगी।

मतलब यह है कि बच्चो के बचपन में ही संस्कार सुधारने चाहिए। बड़े होने पर तो वह अपने आप सब बातें समझने लगेंगे। मगर उनका झुकाव और उनकी प्रवृत्ति बचपन में पड़े हुए संस्कारों के ही अनुसार होगी। बचपन में जिनके संस्कार नहीं सुधरे, उनकी दशा यह है कि कोई भी अच्छी बात इस कान मे सुनते और उस कान से निकाल देते हैं। इसके विपरीत, सुसंस्कारी पुरुष जो अच्छी और उपयोगी बात पाते हैं, उसे ग्रहण कर लेते हैं। यह बचपन की शिक्षा का महत्त्व है।

प्राचीन काल के शिक्षक, विद्यार्थियों को यह समझते थे कि

माता-पिता का क्या दर्जा है और उनके प्रति पुत्र का क्या कर्त्तव्य है ? आज भी यह बात सिखाने की नितान्त आवश्यकता है।

बालक को संस्कार सम्पन्न बनाने का उत्तरदायित्व, जैसा कि पहले कहा गया है, शिक्षकों पर तो है ही, मगर माता-पिता के पूर्ण सहयोग के बिना शिक्षक अपने प्रयत्न में पूरी तरह सफल नहीं हो सकता। शिक्षक के साथ बालक के संरक्षक का सहयोग होना बहुत आवश्यकता है। मान लीजिए शिक्षक पाठशाला में बालक को सत्य बोलने की शिक्षा देता है और स्वय भी सत्य बोल-कर उसके सामने आदर्श उपस्थित करता है, मगर बालक जब घर आता है और अपने पिता को एक पैसे के लिये झूठ बोलते देखता है तो पाठशाला का उपदेश समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह किसका अनुकरण करे शिक्षक का या अपने पिता का ? शिक्षक ने ही तो बालक को पिता के प्रति भक्तिभाव रखने का उपदेश दिया है। उस उपदेश के अनुसार भी वह पिता के असत्य से घृणा नहीं कर सकता। बहुत सूक्ष्म विचार करने की उसमें बुद्धि ही कहाँ है ? बालक के सामने जब इस प्रकार की विरोधी प्रवृत्तियाँ उप-स्थित होती है तो वह गड़बड़ में पड़ जाता है। इसके पश्चात् वह अपने आप ही मार्ग निकाल लेता है। वह सोचता है–कहना तो यही चाहिये कि असत्य मत बोलो, सत्य भाषण ही करो, मगर काम पड़ने पर पिताजी की तरह असत्य का प्रयोग करना चाहिए। ऐसा ही कुछ निर्णय करके बालक या तो ढोंगी बन जाता है या असत्यवादी और सत्य का उपदेशक बन जाता है।

इस प्रकार का विरोधी वातावरण बालकों के सुधार में बहुत बाधक है। अतएव आज घर में और पाठशाला में जो महान्

अन्तर है उसे मिटाना पड़ेगा। प्रत्येक घर, पाठशाला का पूरक हो और पाठशाला, घर की पूर्ति करे तभी दोनों मिलकर बालकों के सुधार का महत्वपूर्ण कार्य्य कर सकेंगे।

माता पिता, संतान उत्पन्न करके छुटकारा नहीं पा जाते, किन्तु संतान उत्पन्न होने के साथ ही उनका उत्तरदायित्व आरंभ होता है। शिक्षक के सिपुर्द करने से भी उनका कर्त्तव्य पूरा नहीं होता। उन्हें बालक के जीवन-निर्माण के लिए स्वयं अपने जीवन को आदर्श बनाना चाहिए। संस्कार-सुधार की बहुत बड़ी जिम्मेदारी उन पर भी है। बालक को उत्पन्न कर देने मात्र से नहीं, वरन् उसे संस्कारी बनाने से ही माता-पिता का कर्ज बालक पर चढ़ता है।

प्राचीन काल के माता पिता बीस-बीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रह कर संतान उत्पन्न करते थे। इस प्रकार संयमपूर्वक रहकर उत्पन्न की हुई संतान ही महापुरुष बन सकती है। आज कल के लोग समझते हैं, हनुमान का नाम जप लेने से ही शारीरिक शक्ति बढ़ जाती है। उन्हें यह नहीं मालूम कि हनुमान के समान वीर पुत्र किस प्रकार उत्पन्न हुआ था? मन मुटाव हो जाने के कारण अंजना और पवन कुमार दोनों बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे। तभी ऐसी वीर संतति उत्पन्न हुई थी। अच्छी और सदाचारी संतान उत्पन्न करने के लिए पहले माता-पिता को अच्छा और सदाचारी बनना चाहिए। बबूल के पेड़ में आम का फल नहीं लग सकता।

माता-पिता बच्चों की जो सेवा करते हैं, वह निष्काम भाव से करते हैं। वे यह विश्वास नहीं करते कि हमारा बेटा जवान होकर हमें सुख देगा। माता-पिता केवल करुणा-भाव से प्रेरित होकर उस समय बालक का पालण-पोषण करते हैं। ऐसे निस्वार्थ-भाव से

उपकार करने वाले उपकारियों का उपकार स्मरण कराने के बदले उसे भुलाने वाली शिक्षा, शिक्षा है या अशिक्षा ? 'अशिक्षा' !

माता-पिता के अतिरिक्त दूसरा उपकारी वह है जो गरीबी के समय सहायता करे।

तीसरे उपकारी वह गुरु हैं, जिन्होंने धर्म की समुचित शिक्षा दी है। आत्मा को काम, क्रोध, मद, मोह, मात्सर्य आदि विकारों से रहित निर्दोष और निर्विकार बनाने का उपदेश दिया है। जिन्होंने आत्मा-अनात्मा का विवेक सिखलाया है और लोक परलोक आदि का ज्ञान कराया है।

इन तीन प्रकार के उपकार-कर्त्ताओं से मनुष्य सरलता से उऋण नहीं हो सकता। इनका उपकार महान् है।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि जब इन उपकारियों की बड़ी से बड़ी सेवा करके भी हम सहज उऋण नहीं हो सकते और उऋण होना उचित है, तो आखिर क्या करना चाहिए ? किस कर्त्तव्य से, कौन-सी विधि से हम उऋण हो सकते हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले कुछ सामयिक बातों पर प्रकाश डालना उचित है। कुछ लोग पर्दा उठाने का नाम सुनते ही कोलाहल मचाने लगते हैं। वह लोग अपने पक्ष के समर्थन में यह कहते हैं कि जब तक पर्दा है, तभी तक सदाचार है। जैसे ही पर्दा उठा कि सदाचार भी उठा और अनाचार फैला। अतएव सदाचार की रक्षा के लिए स्त्रियों को जितना भी रोक कर रक्खा जाय, पर्दे में बंद किया जा सके, कर रखना चाहिए। इसी में जन समाज का कल्याण है।

दूसरे पक्ष का कथन यह है कि इस युक्ति के मूल में महिला-वर्ग के प्रति अविश्वास का भाव स्पष्ट है। पर्दा उठाने से महिलाएं सदाचार छोड़ देंगी यह कथन ही उनका घोर अपमान है। जिन प्रदेशों में पर्दा नहीं है, वहां पर्दा वाले प्रान्तों की अपेक्षा कम सदाचार नहीं देखा जाता, इससे उल्टा भले ही हो। अगर यह कहा जाय कि पर्दा उठाने से पुरुषवर्ग संयम में नहीं रह सकेगा और दुराचार फैलेगा, तब तो पुरुषों को ही पर्दे में रखना न्याय-संगत मालूम होता है। पुरुषों की निर्बलता के कारण स्त्रियों को पर्दे में रखना अन्याय है। क्या आवश्यकता है कि उन्हें भेड़-बकरियों की तरह—नहीं उनसे भी बदतर अवस्था में, बाड़े में बंद करके रक्खा जाय ?

पर्दे के संबंध में परस्पर विरोधी विचार वाले दोनों पक्षों का कथन ऊपर बतलाया गया है।

इस संबंध में मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप लोग (पुरुष वर्ग) स्वेच्छापूर्वक उन्हें स्वतंत्र कर देंगे तो महिला-समाज पर आपका अंकुश रहेगा। अगर आपने ऐसा नहीं किया और उन्होंने जबर्दस्ती इस बंधन को तोड़ फेंका तो शायद ही अंकुश रहेगा। महिला-समाज जागृत हो रहा है। अब वह अधिक दिनों तक पशु बना रहेगा या नहीं, यह एक संदेहास्पद बात है। जब तक स्त्रियाँ आपके कब्जे में हैं, तब तक उन्हें जिस प्रकार चाहो, रख सकते हो। कब्जे से बाहर होते ही वे अपने आपको मनुष्य अनुभव करने लगेंगी। उस समय आपकी सत्ता

उन पर नहीं चलेगी। ऐसा होने में जो खतरा है, उसे आप लोग पहले ही अनुभव कर सकें तो अच्छा ही है।

जो लोग यह कहते हैं कि पर्दा प्राचीन काल से—बड़े बूढ़ों के जमाने से चला आया है, उन्हें सोचना चाहिए कि लोग अगर बड़े बूढ़ों के बनाये हुए कायदे से ही चलते तो आज इतना करने की आवश्यकता न पड़ती। बड़े-बूढ़ों ने जिस विचारशीलता से पर्दे की प्रथा चलाई थी, वह विचारशीलता आज होती तो पर्दा उठाने में एक भी क्षण की देरी न लगती।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि पर्दा उठा देने का अर्थ लज्जा उठाकर एक प्रकार की निर्लज्जता उत्पन्न कर देना नहीं है। पर्दा उठा देने पर स्त्रियों को वर्त्तमान उपयोग में आने वाले निर्लज्जता पूर्ण बारीक वस्त्रों का, जिनमें आज उनके सिर का एक-एक बाल दिखाई पड़ता है, त्याग करना पड़ेगा। पर्दा उठा देने से पर्दे की बहुत सी पोलें अपने आप समाप्त हो जाएगी। क्या इतने बारीक वस्त्र प्राचीन काल की बहिनें पहनती थीं?

अगर पर्दा एक दम बिलकुल नहीं छूट सकता तो कम से कम उसका रूपान्तर तो अवश्य ही करने योग्य है। दिल्ली तथा युक्त प्रांत में भी पर्दा है, मगर मारवाड़ जैसा पर्दा नहीं है। स्त्रियों को बन्द कर रखने से ही लज्जा की रक्षा नहीं हो सकती, यह बात आपको भली भांति समझ लेनी चाहिए।

मैं किसी पर सख्ती नहीं करता। मेरा कर्त्तव्य आप के कल्याण की बात बता देना है। आपको जिसमें सुख हो, वही आप कर सकते हैं। मगर मैं यह चेतावनी दे देना चाहता हूँ कि

अब पहले जैसा जमाना नहीं रहा । एक भयङ्कर आँधी उठ रही है । वह आँधी आकर इन सभी ढोगों को अपने साथ उड़ा ले जायगी । यह चेतावनी देकर और अपना कर्त्तव्य पालन करके मैं सन्तुष्ट हूँ । अब भविष्य में कोई यह नहीं कहेगा कि इन लोगो में परिस्थिति को समझने वाला कोई भी नहीं था । यद्यपि आप लोग पर्वत की ओट में बैठे हो, किन्तु यह ओट भी अधिक दिनों तक तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकेगी ।

लोग कहते हैं 'आपने भगी को व्याख्यान क्यों सुनाया ? उसे उपदेश देने की क्या आवश्यकता थी ?' उनसे मैं यह पूछता हूँ—तुम श्रीहरिकेशी मुनि की कथा जानते हो ? वह कौन थे ?

हरिकेशी मुनि चाडाल कुल में उत्पन्न हुए थे । वह सूत्र-पाठ द्वारा दूसरों को भी उपदेश देते थे । ऐसी स्थिति में मैंने भगियों को उपदेश सुना दिया तो क्या अपराध हो गया ? आज ही नहीं, पूर्वकाल से भी भगी आचार्यों का उपदेश सुनने आते रहे हैं और किसी ने भी इस पर आपत्ति नहीं की थी । अलबत्ता, वे बैठते थे, तुम लोगों के नियमानुसार ही ।

जो लोग यह कहते हैं कि मैंने भगियो को बुलाया या बुलवाया था; उन्हें ध्यान रखना चाहिए मेरा काम लोगो को बुला-बुला कर लाना और उन्हें बिठलाना नहीं है । मेरा कर्त्तव्य व्याख्यान सुनाना (उपदेश देना) है । और उसे सुनने का अधिकार प्राणी मात्र को है ।

यह मकान तुम्हारा है । तुम इसमें किसी को आने दो या न आने दो । मैं इस मामले में हस्तक्षेप नहीं कर सकता । अगर

मुझे मना कर दो तो मैं भी अभी बाहर निकलने के लिए बाध्य हूँ। ऐसी दशा में मैं तुम्हारे बुलाने, बिठाने या न बुलाने के कार्य में क्या दखल दे सकता हूँ ? यह मेरा घर नहीं है कि लोगों को बुला-बुलाकर बिठलाऊँ रही उपदेश देने की बात, सो भंगी आएगा तो उसे और ब्राह्मण आएगा तो उसे समान रूप से मैं उपदेश दूँगा। अगर मैं उपदेश न सुनाऊँ तो फिर साधु ही कैसा !

लोग कहते होंगे—जब भंगियों को उपदेश सुनाते हो तो उन के गोचरी करने (आहार लेने) क्यों नहीं जाते ? मैं कहता हूँ—मगर तुम लोगों का उनके साथ ऐसा व्यवहार हो जाय-आपस मे भोजन-व्यवहार आरम्भ हो जाय, तो मुझे कुछ भी आपत्ति न होगी। उस समय मैं भी भंगियों के घर से गोचरी लाने लगूगा।

मित्र ! साधु लोग भंगियों से परहेज करें या न करें, मगर सचाई यह है कि तुम्हीं लोग उनसे परहेज नहीं करते। अस्पतालों में भंगी कार्य करते हैं और तुम वहां की दवा पीते हो। ऐसा कौन है जिसने अस्पताल की दवा का सेवन न किया हो ? रेल मे भंगी सफर करता है और उसी में तुम बैठते हो। क्या इसी को परहेज करना कहते हैं ? साधु तो इन दोनों चीजों को काम मे नहीं लेते। अब बताओ भंगी से तुम ज्यादा परहेज करते हो या हम ? हम लोग साधुपन के बन्धन में बन्धे होने के कारण गरीब समझे जाते हैं इस कारण तुम चाहो सो कहो, किन्तु खुद भंगी से परहेज न करना और हमारे उपदेश दे देने मात्र से धर्म पर संकट आया समझना सरासर अन्याय है।

जब तक हम जिनकल्पी अवस्था नहीं प्राप्त कर लेते तब तक तुम्हारे बंधन में हैं और सबको प्रसन्न रखकर-सब की आकांक्षाओं का ध्यान रखते हुए, चलने का प्रयत्न करते हैं। हमारा कार्य उपदेश देना है। उसे सुनते-सुनते निश्चय ही किसी दिन तुममें सत्य की शक्ति आ जायगी और तुम मनुष्यों के प्रति अपना कर्त्तव्य समझने लगोगे। फिलहाल तुम्हारे हृदय से अस्पतालों, रेलों, मेलों, आदि के अवसर पर भंगी का परहेज दूर होगया है, तो आशा है धर्मस्थानक का परहेज भी किसी न किसी दिन समाप्त हो जायगा। मैं जब तक तुम्हारे मकान में हूँ तब तक तुम किसी को सुनने दो या न सुनने दो, किन्तु जब बाजार में व्याख्यान दूँगा तब सभी सुनेंगे उस समय तुम किसी को भी न रोक सकोगे।

मित्रों! भंगी लोग आपके परम सहायक हैं। आपकी स्वस्थता के आधार हैं। स्वयं कष्ट सहकर आपको सुख पहुँचाते हैं। वह चाहें तो कोई भी दूसरा धंधा करके अपना पेट पाल सकते हैं। मगर अपनी परम्परागत वृत्ति को, आपकी असीम घृणा सहन करते हुए भी, चालू रख रहे हैं। इन लोगों की सहिष्णुता का विचार करो। इनसे घृणा करना छोड़ो। आपके ऊपर इनका भी असीम ऋण है उसे चुकाने का प्रयत्न करो।

अब वही प्रश्न फिर उपस्थित होता है—मातृ-पितृ ऋण, सहायक ऋण और आचार्य ऋण को आखिर किस प्रकार चुकाया जा सकता है।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उनके ऊपर पूर्ण उपकार करके ही उनके ऋण से मुक्त होना संभव है। पूर्ण उपकार वह है जिससे

उन्हें सन्मार्ग मिले। कदाचित् यह लोग धर्म से गिर रहे हों अथवा धर्म से अपरिचित हों तो उनकी सेवा करते हुए उनके अन्तःकरण में धर्म-प्रेम जागृत कर देना ही उनका पूर्ण उपकार है। ऐसा उपकारी अपने ऊपर चढ़े ऋण से उऋण होजाता है। सेवा का ऋण तो सेवा से ही चुक जाता है, किन्तु उस सेवा में जो निस्वार्थ भावना रही है उसी का ऋण महान् होता है। उपकारी को धर्म में दृढ़ता उत्पन्न कर देने से वह महान् ऋण भी चुक सकता है।

इन तीनों ऋणों को समझाते तथा अपने कर्त्तव्य का भान कराते हुए बालकों को जो धर्म शिक्षा दी जायगी, उसी से उनमें मनुष्यता का विकाश होगा। इन बातों की उपेक्षा करके जो शिक्षा दी जायगी वह बालकों को सुधारेगी नहीं, बिगाड़ेगी ही। उससे तो ऐसे महापुरुष पैदा होंगे, जो माता के पेट में ९ महिने निवास करने का भाड़ा चुकाने को तैयार रहेंगे।

ठाणांग सूत्र ही यह उपदेश नहीं देता, प्राचीन काल में सभी आर्य-धर्म यही उपदेश देते थे। वैदिक आचार्य, ब्रह्मचारियों को जब समावर्तन संस्कार करते थे और ब्रह्मचारी स्नातक बन कर जब गुरुकुलवास त्याग कर गृहस्थाश्रम में जाने लगता, तब यों उपदेश देते थे।

'सत्य चर। धर्म चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। xx सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमादितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् देवपितृकार्याभ्यां प्रमदितव्यम्।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि।

अर्थात्—हे अन्तेवासी ! तुम यहां से जाकर सत्य भाषण करना, धर्म का आचरण करना, (असत्य और अधर्म का आचरण करके इस शिक्षा को मत लजाना) सत्य भाषन में प्रमाद न करना। धर्माचरन में प्रमाद न करना। शुभचरण में प्रमाद न करना। विभूति के लिए प्रमाद न करना। स्वाध्याय करने और प्रवचन करने में प्रमाद मत करना। अपना उपार्जित ज्ञान बढ़ाना और उपदेश द्वारा दूसरों को भी लाभ पहुँचाना। देव और पूर्वजों सम्बन्धी कार्यों में प्रमाद न करना। माता पिता, आचार्य और अतिथि को देवतुल्य मानना। निवद्य (पापरहित) कार्य कराना, अन्य नहीं। जिन कार्यों का हमने आचरण किया है वही तू करना, अन्य नहीं।

प्राचीन काल की यह सुन्दर शिक्षा थी और आजकल का व्यवहार यह है :—

जियत पिता से जगम जंग, मरे हाड़ पहुँचावें गंगा ॥

जब तक मा-बाप जीवित रहें, तब तक उन्हें चाहे पेट भर कर भोजन न दें, मगर उनके मरने पर पञ्चों को लड्डू जरूर खिलाएँगे। आज माता-पिता को देवतुल्य मानना तो दरकिनार रहा, उन्हें मनुष्य या दया के पात्र मानने के लिए भी बहुत कम लोग तैयार हैं। कल मैं आहार के लिए गया तो एक बाई अस्तव्यस्त

दशा में पड़ी थी। उसने मुझसे कहा 'महाराज! अब तो कोई मेरी बात भी नहीं पूछता, कोई सार सम्भाल भी नहीं करता, अब मुझे सथारा करा दीजिये'। मैंने उस बहन को आश्वासन दिया। मुझे यह सोच कर आश्चर्य हुआ कि अगर कोई इसकी सार सम्भाल नहीं करता तो जाति वाले ओसवाल इसे क्यों नहीं सम्भालते? अगर जाति ऐसे आड़े समय पर काम नहीं आती, तो कब काम आवेगी?

माता पिता के साथ आचार्य को भी देव मानने की शिक्षा दी जाती थी। कहा भी है.—

गुरु गोविंद दोनों खड़े किसके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु देव की गोविंद दिये बताय॥

अगर धर्म और नीति का उपदेश देने वाले न हों तो मानव-समाज की कैसी दुर्दशा हो? मानव-जीवन कितना भयङ्कर बन जाय?

अगर उपनिषद् का जो उल्लेख किया है, उसमें आचार्य ने शिष्य को उपदेश देते हुए, यह भी बतलाया है कि हमने जिन कार्यों का आचरण किया है, वही कार्य तुम भी करना, उससे विरुद्ध मत करना। यह कथन स्पष्ट प्रकट करता है कि उस समय के आचार्य (अध्यापक) छात्रों के समक्ष कितना सयममय व्यवहार करते होंगे! उनका जीवन कैसा नीतिमय होगा? तभी तो वह स्पष्ट शब्दों में शिष्य को अपना अनुकरण करने का आदेश देते हैं? क्या आधु-

निक शिक्षक भी प्रामाणिकता के साथ ऐसा आदेश दे सकते हैं। उन्हें अपने ऊपर ऐसा सुदृढ विश्वास है ? आधुनिक अध्यापक कहता है'—

Do as I say, dont do as I do.

अर्थात्—मैं जैसा कहता हू, वैसा करो। मैं जैसा करता हू वैसा मत करो।

दोनों में कितना अन्तर है एक सबल हृदय की भाषा है, दूसरी निर्बल हृदय की। एक में उच्च चारित्र की दृढ़ता टपक रही है, दूसरे से आचरण हीनता प्रकट हो रही है। मानो सदाचार कहने के लिए है, करने के लिए नहीं है। इससे विद्यार्थी पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह विद्वान् अध्यापकों को बताने की आवश्यकता है ? इस से विद्यार्थी एक मात्र कहना कुछ और करना कुछ का ही आदर्श पाठ सीख सकता है।

अध्यापको ! आप अपने पवित्र उत्तरदायित्व को सदैव स्मरण रखिये। बच्चों के समक्ष जैसा आदर्श होगा, वे वैसे ही बनेंगे। अध्यापक के कार्यों और विचारों का विद्यार्थी सूक्ष्म रूप से अध्ययन करते रहते हैं। आप प्राचीन गुरुओं का आदर्श अपने सामने रखिये। उनकी भावना यही रहती थी कि हमारा शिष्य सदाचारी नीतिनिष्ठ, धार्मिक एवं विद्वान बन कर जगत् के लिये आदर्श बने और विश्व का कल्याण करे।

विद्यार्थियो ! आज तुम छोटे हो। कल बड़े होवोगे। तुम्हारे ऊपर कुटुम्ब का, जाति और देश का उत्तरदायित्व आवेगा। तुम

जिस धर्म के अनुयायी हो, उसके प्रतिनिधि माने जाओगे। इन सब जिम्मेदारियों को उठाने सुदृढ़ शरीर निर्मल हृदय, स्वच्छ मस्तिष्क, आत्मिक बल और नीतिमय जीवन की आवश्यकता है। इन्हें प्राप्त करने का यह विद्यार्थी-काल स्वर्ण अवसर है। इसे प्रमाद में मत गवाओ। शक्ति-सम्पन्न बनो। जगत् कल्याण के लिये अपना जीवन समझो। ऐसा समझ कर कार्य करोगे तो कल्याण होगा। तथास्तु।